एम.ए.एच.आई.-06

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्राचीन भारत में व्यापार व शहरीकरण

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्राचीन भारत में व्यापार व शहरीकरण

पाठ्यक्रम विकास समिति

प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा, कुलपति(अध्यक्ष)

प्रो. एस.एन. दुबे, टैगोर प्रोफेसर,इतिहास एवं भारतीय संस्कृतिविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रो. जे.पी. मिश्रा, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्री दिनेश चन्द्र शुक्ला, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्रो. एस.पी. गुप्ता, इतिहास विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,अलीगढ़

प्रो. रविन्द्र कुमार शर्मा, इतिहास विभागकुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रो. वी.के. वशिष्ठ इतिहास विभाग,महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,अजमेर

डा. बी.के. शर्मा विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा.(श्रीमति) कमलेश शर्मा(भारद्वाज), असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. याकूब अली खान,असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

डा. आर.एस. मीणा,इतिहास विभाग,राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डा. सोहन कृष्ण पुरोहित, इतिहास विभाग,जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

डा. राजीव कुमार सिन्हा, इतिहास विभाग,भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

डा. इनाक्षी चतुर्वेदी, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डा. ए.के. सिन्हा, रूहेलखंड विश्वविद्यालय रूहेलखंड, बरेली (उ.प्र.)

डा. ललित पाण्डेय, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर(राज.)

प्रो. विशुद्धानंद पाठक लखनऊ

डा.(श्रीमति) कमलेश शर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

डा. नीलकमल शर्मा, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

पाठ्यक्रम प्रभारी एवं संपादक

डा.(श्रीमति) कमलेश शर्मा, असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो.(डॉ.)एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक(**अकादमिक**)	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय	**संकाय विभाग**	**पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन अगस्त 2012

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्राचीन भारत में व्यापार एवं शहरीकरण

इकाई संख्या		पृष्ठ संख्या
इकाई -1	व्यापार एवं शहरीकरण मे अंतःसम्बन्ध	7–22
इकाई -2	आद्य ऐतिहासिक काल हड़प्पा संस्कृति: व्यापार व शहरीकरण	23–40
इकाई -3	शहरीकरण मे ह्रास : वैदिक कालीन आर्थिक जीवन	41–53
इकाई -4	नगरीकरण का दूसरा चरण	54–65
इकाई -5	प्राचीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्या की रूपरेखा	66–78
इकाई -6	जल एवं स्थल व्यापार मार्ग, परिवहन के साधन तथा निगम	79–93
इकाई -7	विनिमय का माध्यम: तौल एवं माप	94–108
इकाई -8	मुद्रा प्रणाली, साख एवं अधिकोषण तथा राजस्व	109–127
इकाई -9	वृत्तिसंघ(व्यापारिक समुदाय) एवं व्यापारिक वस्तुएं	128–148
इकाई -10	प्राचीन भारत में श्रेणियाँ	149–163
इकाई -11	प्राचीन भारत में विदेशी व्यापार	164–173
इकाई -12	प्राङ् मौर्य आर्थिक जीवन, व्यापार एवं नगरीकरण (बौद्ध एवं जैन स्रोतों पर आधारित)	174–184
इकाई -13	प्राचीन भारत में व्यापार एवं नगरीकरण का ऐतिहासिक सर्वेक्षण (मौर्य-शुंग कुषाण काल उत्तरी भारत)	185–197
इकाई -14	मौर्य-सातवाहन काल (दक्षिणी भारत)	198–209
इकाई -15	गुप्तकाल में आर्थिक जीवन	210–236
इकाई -16	परवर्ती गुप्त -वाकटाक युग (उत्तर भारत)	237–245
इकाई -17	परवर्ती गुप्त वाकटाक युग के उपरान्त दक्षिण भारत	246–254
इकाई -18	भारतीय व्यापार के पाटन के प्रमुख कारण	255–262
इकाई -19	गुप्त काल में नगरीय केन्द्रोंका पाटन यथार्थ या मिथ	263–274
इकाई -20	प्राचीन भारत में मेले और उत्सव	275–287

इकाई - 1

व्यापार एवं शहरीकरण में अंतः सम्बन्ध (Inter– relation between Trade and Urbanisation)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 व्यापार एवं शहरीकरण से आशय

1.3 प्राचीन भारत में व्यापार का स्वरूप

1.3.1 देशी व्यापार : थोक एवं फुटकर

1.3.2 विदेशी व्यापार :आयात एवं निर्यात

1.3.3 तटीय व्यापार

1.3.4 विविधाएँ

1.4 प्राचीन भारत में शहरीकरण

1.4.1 भूमिका

1.4.2 प्रथम शहरीकरण

1.4.3 द्वितीय शहरीकरण

1.4.4 परवर्ती स्थिति

1.5 अंत:सम्बन्ध

1.6 सारांश

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.8 संस्तुत अध्ययन सामग्री

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई निम्न उद्देश्यों को सामने रखकर लिखी गयी है –

1. प्राचीन भारतीय व्यापार के स्वरूप को स्पष्ट करना,
2. व्यापार के आधार पर जनसंख्या के' किसी विशिष्ट स्थल या क्षेत्र में केन्द्रीकृत होने की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना,
3. शहरीकरण के आशय को स्पष्ट करना,
4. प्राचीन भारत में शहरीकरण के विभिन्न सोपानों का परिचय देना, एवं
5. व्यापार एवं नगरीकरण के अंत:सम्बन्धों एवं पारस्परिक प्रभावों का विवेचन करना ।

1.1 प्रस्तावना

वस्तुओं के क्रय–विक्रय की प्रक्रिया व्यापार कहलाती है । यह क्रय–विक्रय प्रारंभ में वस्तु–विनिमय के आधार पर होता था, किन्तु सभ्यता के विकास के साथ–साथ उसका आधार

मौद्रिक प्रणाली बनती चली गयी । यद्यपि कुछ अर्थों में वस्तु–विनिमय प्रणाली भी विद्यमान रही, किन्तु वह–क्रमश: मौद्रिक प्रणाली से जुड़ती चली गयी ।

व्यापार एवं नगरीकरण के सह–सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में अधिकांशत : धातुओं के आविष्कार की भूमिका रही है। तांबे और लोहे के आविष्कार एवं उनसे निर्मित उपकरणों का कृषि क्षेत्र में उपयोग होने से गहरी जुताई संभव हुई । परिणामस्वरूप अन्य व कच्चे माल का अतिरिक्त उत्पादन संभव हुआ । यह अतिरिक्त उत्पादन कृषकों या बिचौलियों दारा कस्बाई केन्द्रों तक पहुंचने लगा । धीरे–धीरे ऐसे कई केन्द्रों ने नगरों का रूप धारण कर लिया । ऐसा नही है कि प्राचीन भारत में नगरीकरण का यही एक कारण रहा हो । धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कारणों से भी अनेक नगर. विकसित हुए थे, किन्तु व्यापारिक केन्द्रों ने नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । इस इकाई में इस कारण प्राचीन भारत की व्यापारिक परिस्थितियों एवं शहरीकरण के अंत :सम्बन्धों का विवेचन करना अभीष्ट हुआ है ।

1.2 व्यापार एवं शहरीकरण से आशय

व्यापार – सामान्यत : व्यापार से आशय वस्तुओं के क्रय–विक्रय से होता है । इस क्रय–विक्रय का आधार वस्तु–विनिमय से लेकर मौद्रिक प्रणाली तक रहा है । व्यापार का मूल मनोविज्ञान है कि कम उपयोगिता वाली वस्तु देकर बदले में अधिक उपयोगिता वाली वस्तु प्राप्त करना ।

व्यापार का वर्गीकरण एकाधिक प्रकार से किया जाता रहा है । व्यापार की मात्रा के आधार पर थोक एवं फुटकर व्यापार में क्षेत्रगत आधार पर देशी एवं विदेशी व्यापार' के रूप में उसका विभाजन किया जाता रहा है । आंतरिक या देशी व्यापार के स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्वरूप होते है, जबकि विदेशी व्यापार आयात एवं निर्यात स्वरूप रखता है । जब किसी देश में विदेशों से माल मंगाया जाता है, तो इसे आयात कहा जाता है । जब देश का माल विदेशों में भेजा जाता है, तो उसे निर्यात कहा जाता है ।

शहरीकरण – जहां तक "शहर" या "नगर" शब्द का संबंध है, वह एक अनेकार्थक शब्द है जिसका संबंध विभिन्न ऐतिहासिक एवं क्षेत्रीय संदर्भो से आता है । इस शब्द का आशय कालक्रम एवं सामाजिक परिस्थितियों में एक स्थान पर भारी संख्या में निवास करने वाले मानव–समूह से लिया जा सकता है ।

सच पूछा जाय तो नगर की परिभाषा करना और गांव तथा नगर में अन्तर बड़ा कठिन है । गिस्ट और हालबर्ट ने ठीक ही लिखा है कि "ग्रामीण और नागरिक का सुपरिचित विभाजन सामुदायिक जीवन के तथ्यों पर आधारित होने के स्थान पर अधिकतर एक मौखिक प्रत्यय है । " बर्गल के शब्दों में, "हर व्यक्ति यह जानता प्रतीत होता है कि नगर क्या है परन्तु किसी ने उसकी संतोषजनक परिभाषा नहीं दी है । " गांव और नगर में अंतर करने में मुख्य कठिनाइयां निम्नलिखित है –

(1) गांव और नगर की कोई सार्वभौम परिभाषा नहीं है ।

(2) गांव और नगर में केवल अंशों का अंतर है ।

(3) गांव और नगर दोनों बदलते रहते है ।

अत : नगर और गांव में अन्तर करना कठिन है । परन्तु फिर भी आधुनिक समाजशास्त्रियों ने व्यवसाय परिवेश, समुदायों का आकार, जनसंख्या का घनत्व, जनसंख्या की सजातीयता और विजातीयता, सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण तथा अन्त :क्रिया की पद्धति आदि के आधार पर गांव और नगर में अन्तर किया है । सामाजिक संगठन में परिवार, विवाह, स्त्रियों की दशा, पड़ौस, हम की भावना, वर्गों की विषमता आदि में गांव और नगर में अंतर देखा जा सकता है । दोनों में सामाजिक नियंत्रण की मात्रा और प्रकार में अंतर होता है । प्रगतिशीलता, राजनैतिक चेतना, धर्म और आचार, भाग्यवाद, कृत्रिमता, सामाजिक विघटन आदि को लेकर दानों में दृष्टिकोण का अंतर देखा जा सकता है । गांव और नगर की आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना में स्पष्ट अंतर होता है ।

संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि नगर एक निश्चित या उससे अधिक जनसंख्या वाला न्यूनाधिक विशिष्ट प्रकार की अर्थ–व्यवस्था, राजनैतिक स्थिति और सामाजिक लक्षण रखने वाला समुदाय है । नगर की इस परिभाषा में सामाजिक लक्षण सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

इस दृष्टि से ऐसे आवास–समूहों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

(क) प्रशासकीय केन्द्र एवं राजकीय केन्द्र,

(ख) धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र

(ग) सैनिक केन्द्र, एवं

(घ) व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्र ।

शहरीकरण की उत्पत्ति के मूल कारण कुछ भी रहे हों, विकास के सोपानों की ओर बढ़ते हुए नगरीकरण में अन्य तत्वों का समावेश होता जाता रहा है । इस कारण समय–समय पर नगरों के स्वरूप में परिवर्तन अथवा वहां के जीवन में समवयीकरण या सामासीकरण की परिस्थितियां प्रभावशाली बनती रही है ।

इस इकाई में केवल प्राचीन भारतीय व्यापार एवं शहरीकरण के अंत सम्बन्धों पर चर्चा की जा रही है।

1.3 प्राचीन भारत में व्यापार का स्वरूप

प्राचीन भारतीय व्यापार के स्वरूप का अध्ययन देशी, विदेशी एवं तटीय व्यापार के रूप में प्रस्तुत करना यहां अभीष्ट है । प्राचीन भारत की व्यापारिक स्थितियों के विभिन्न आयाम रहे है । अति प्राचीन काल में जब कृषि व पशुपालन की प्रारंभिक अवस्था में देश गुजर रहा था और ग्रामों में एक प्रकार की आत्म–निर्भरता थी, वस्तु–विनिमय प्रणाली विद्यमान थी । ग्रामों कें लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं परस्पर अदल–बदल कर लेते थे । प्रारंभिक वैदिक काल मैं भी इसी प्रकार वस्तु–विनिमय के कुछ संदर्भ प्राप्त होते है । विनिमय का कोई सर्वमान्य आधार न होने से लोगों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था । किन्तु वे लाचार थे । फिर भी सीमित क्षेत्र एवं सीमित आवश्यकताओं कें कारण उनका काम चल जाता था । धीरे–धीरे मनुष्य ने सभ्यता के युग में प्रवेश किया । इस कारण कृषि और

उद्योग के साथ–साथ व्यापार का भी विकास होता चला गया क्योंकि कृषि और उद्योगों की उन्नति में व्यापारिक प्रगति भी निहित होती है । प्राचीन भारतीय व्यापार तत्कालीन विश्व के सभी देशों के व्यापार का सिरमौर रहा । ६वीं सदी ई॰पू. के कुछ पहले मुद्रा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया प्रतीत होता है । पूर्व में अर्थ–व्यवस्था वस्तु–विनिमय प्रणाली पर आधारित थी । इसके उपरांत भारत मैं कुछ शताब्दियों तक आहत सिक्के बने तथा उसके बाद ढले हुए सिक्के । इससे अर्थ–व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ मौद्रिक हो गया । व्यापार के घनीभूत होने पर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में साख–पद्धति तेजी से विकसित हुई । साख पत्रों का चलन गति पा गया । इससे व्यापार पद्धति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला ।

1.3.1 देशी व्यापार

देशी व्यापार भी थोक एवं फुटकर प्रकारों का होता है । प्राचीन भारत में अनेक बड़े व्यापारी थे, जो शिल्प–श्रेणियों से इकट्ठा माल खरीदकर उसे दूर–दराज के क्षेत्रों मैं अपने सार्थों (काफिलों) के द्वारा पहुंचा कर भारी लाभ कमाते, थे । फुटकर व्यापारी पण्य(बाजार) या हाटक (हाट) में अपनी दुकानें लगाते थें या अपने माल के साथ उपभोक्ता के घर तक पहुंचते थे । गांवों में जो शिल्पी या अन्य सेवा प्रदान करने वाले लोग होने थे, वे अपने माल व सेवा के प्रतिफल में कृषि या वन की उपज या पशुधन प्राप्त करतें थे साधारणतया उन्हे फसल के पकने पर वर्ष में एक या दो बार यह प्रतिफल दिया जाता था । नगरों में विभिन्न उद्योगों कें द्वारा उत्पादित पक्के माल, कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त उत्पादन तथा उपभोक्ता पदार्थो के विक्रय के दर्शनीय केन्द्र होते थे । उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के, बीच अनेक प्रकार के बिचौलिये इन नगरों में कार्यरत थें ।

बाजार: की स्थितियों पर राजा का उचित नियंत्रण होना था । भारत में नाप –गोल की पद्धति सैंधव जनों को ज्ञात थी । ऐतिहासिक काल में विभिन्न प्रकार के नाप–तौल अस्तित्व में थे । इन्हें ''मान'' कहा जाता था । कलिंग और मगध भारत के दो प्रमुख मान रहे । अत्यंत सूक्ष्म से लेकर भारी से भारी भार के बाट प्रचलन में थे । इसी प्रकार एक अंगुली के प्रमाण से लेकर निवर्तन तक के माप प्रयोग में आते रहे । नाप–तौल के मामले में धोखाधड़ी को रोकने के लिये राज्य द्वारा उचित नियंत्रण रखा जाता था । विभिन्न राजकीय अधिकारी समय–समय पर बाजार का निरीक्षण करते तथा बेईमान, कम तौलने वाले, मिश्रण करने वाले तथा तस्करी में जुटे व्यापारियों को कठोर दण्ड देते थे । राज्य माल की किस्म, भण्डारों में रखी उसकी मात्रा तथा माल की आवक व उसकी मांग के आधार पर समय–समय पर वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते थे । ऐसा करने से जहां उपभोक्ताओं को संरक्षण मिल जाता था, वही व्यापारियों को उचित लाभ तथा राज्य को वाँछित कर प्राप्त हो जाता था ।

युद्ध, प्राकृतिक प्रकोपों एवं दुर्भिक्ष के समय कई बार जनता की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन जाती थी । अनेक लोगों को काल के गाल में समाना पड़ जाता था । ऐसे में वस्तुओं की प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती थी और उनके दाम आसमान छूने लगते थे । ऐसे समय में राज्य अपनी गोदामों को खोल देता था । राजकीय उद्योगों का माल निर्धारित दाम पर जनता को

प्रदान किया जाता था। राज्य की कुछ आप को ऐसे आपातकाल में उपयोग के लिये सुरक्षित रखा जाता था ।

1.3.2 विदेशी व्यापार

भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ा–चढ़ा था । सिंधु घाटी के लोगों के सुमेर, ईरान, बेबिलोन, क्रीट आदि से व्यापार संबंध थे । यह सम्पर्क उत्तर वैदिक काल में भी रहा । कुछ पुराविदों की धारणा है कि ताम्राश्म युग के विभिन्न मृद्भांड़ प्रकार पश्चिमी एशियाई समकालीनों की देन रहे । ई॰पू. 6वीं सदी से कुछ समय तक पश्चिम भारत के कुछ क्षेत्रों में ईरानियों का राज्य रहा । भारतीय माल और लोहे के अस्त्र–शस्त्र इस काल में निर्यात हुए । बौद्ध एवं जैन ग्रंथों, विशेषकर जातक कथाओं में भारत के जल व जल–मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार के भरपूर उल्लेख प्राप्त होते है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कुछ तमिल ग्रंथों से भी इस संबंध में काफी जानकारी मिलती है । प्राचीन काल के यूनानी, मिश्री तथा रोमन यात्रियों व लेखकों ने भारत के विदेशी व्यापार की महत्ता पर भरपूर प्रकाश डाला है । प्राचीन काल में भारत के आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ इस प्रकार रही -

आयात – कीमती धातुएँ, टीन, शीशा, घोड़े, अंजीर, अंगूर की मदिरा, यवनियाँ, चीन–पट्ट (चीन की रेशम), अंगूर आदि ।

निर्यात – मलमल, विचित्र पशु–पक्षी, औषधियाँ, काली मिर्च एवं मसाले, अस्त्र–शस्त्र, रत्न एवं उनसे बने आभूषण, रेशमी वस्त्र, हाथी दाँत का सामान, सुगंधित द्रव्य आदि ।

भारत का निर्यात उसके आयात की अपेक्षा बहुत अधिक था । भारतीय माल की विदेशों में बहुत मांग होने से वह वहां ऊँचे दामों पर बिकता था । व्यापार–सन्तुलन भारत के पक्ष में होने से विदेशों के सोने के सिक्के व कीमती धातुएँ भारत में बहुत आते थे । दक्षिण भारत में कई स्थानों पर उस काल के रोमन सिक्कों के जखीरे मिले है । भारत की ओर रोमन धन का यह प्रवाह देख रोमन लेखक प्लिनी ने भारी विलाप किया था । ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीयों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अपने उपनिवेश बसा लिये थे । इस कारण भी भारत के विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई । विदेश व्यापार का यह वैभव केवल गुप्त काल तक ही विद्यमान रहा । उसके बाद वह अनेक कारणों से धीरे–धीरे क्षीण होते चला गया ।

1.3.3 तटीय व्यापार

प्राचीन भारत में समुद्र–तट पर स्थित विभिन्न बन्दरगाह भी व्यापार एवं व्यापार–मार्ग से परस्पर जुड़े रहे । इन बन्दरगाहों से देशी और विदेशी दोनों प्रकार का व्यापार होता था । हम देखते है कि पश्चिमी व पूर्वी विश्व भारत के दूरस्थ तटीय भागों में नियमित जलमार्गीय सम्पर्क था । ईसा का प्रारम्भिक सदियों में भारत के प्रमुख बन्दरगाह इस प्रकार रहे –

अरब सागर को छूने वाले पश्चिमी तट पर – बार्बरिकुम (सिंध में), मृगुकच्छ (भड़ौच), कल्याणी, नीलकांत, शूर्पारक, कोचीन, कुमारी आदि । गुजरात में लोथल और द्वारिका में जो

उत्खनन हुए है, उनसे ज्ञात होता है कि आज से 4,000 वर्ष पूर्व वहां अच्छे बन्दरगाह थे । लोथल में तो इस काल की एक विशाल गोदी ही प्राप्त हो गई है।

बंगाल की खाड़ी को छूने वाले पूर्वी तट पर – मसलिया (मछुरीपट्टनम्), पांडिचेरी, मामल्लपुरम् ताम्रलिप्ति (तामलुक) आदि ।

ये नगर जहां एक ओर तटीय व्यापार के केन्द्र थे, वहीं दूसरी ओर जहाजी मार्ग से तत्कालीन सभ्य विश्व के अनेक देशों से जुड़े हुए थे । यहां से ईरान, बेहरीन, अरब, मिश्र, रोम तथा यूनान से समुद्री रास्ते व्यापार होता था । सैकड़ों जहाज भारत से प्रतिवर्ष इन देशों को जाकर वहां से लौट आते थे । भारत के महान नाविकों ने अद्भुत करिश्मे किये थे । एक नाविक ने दक्षिण भारत से सीधे जावा तक यात्रा की थी । इससे भारतीयों को अब तटीय यात्रा कर दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में पहुंचने की आवश्यकता न रही । वे छोटे रास्ते से सीधी यात्रा करने लगे । इसी प्रकार पश्चिम में भी हिप्पालस द्वारा मानसून के नियमों का पता लगा लेने पर भड़ौच से अदन तक सीधी समुद्री यात्रा होने लगी । व सारी घटनाएँ मामूली नहीं थी ।

1.3.4 विविधाएँ

प्राचीन भारतीय व्यापार से सम्बन्धित कतिपय महत्वपूर्ण पहलुओं की यहां चर्चा करना अन्यथा न होगा

श्रेणी–प्रणाली – प्राचीन भारतीय उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र की प्रमुख विशेषता उस समय का संगठित जीवन था । एक ही प्रकार का कार्य करने वाले या समानधर्मी शिल्पीजन अपना एक संगठित समूह बना लेते है । एक उन्नतिशील एवं सुसभ्य समाज की यह पहिचान होती है । प्राचीन काल में ऐसे संगठित समूहों को उनके कार्य व स्वरूप के अनुसार कुल, गण, पाषण्ड, पूग, निगम, संघ, वात आदि नामों से पुकारा जाता रहा । व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र में ऐसे समूहों को 'श्रेणी" नाम दिया गया । 6वी शती ई॰पू. के पूर्व संगठित जीवन तो भारत में रहा किन्तु 'श्रेणी–प्रणाली इस काल से ही प्रारम्भ हुई जो समूचे प्राचीन भारत में न्यूनाधिक रूप से इसके बाद विद्यमान रही । बौद्ध ग्रंथों, धर्म–शास्त्रों तथा कई अभिलेखों में श्रेणियों का उल्लेख आया है । जातक कथाओं में 18 प्रकार की श्रेणियों का विवरण मिलता है । भाज के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में श्रेणी संगठनों का बड़ा महत्व रहा । इन संस्थाओं के अपने विधान होते थें । श्रेणी के सदस्य संचालकों की नियुक्ति या चुनाव करते थे । इन श्रेणी प्रमुखों को श्रेष्टी, सोटिट या जेटठ्क कहा जाता था । ये संगठन एक प्रकार से स्वायत्त संस्थाएँ होती थी । राज द्वारा इनके नियमों को मान्यता प्राप्त होती थी किन्तु ये अवैध एवं राज्य–विरोधी कार नहीं कर सकती थी । श्रेणी के सदस्यों में मतभेद की स्थिति में राज्य को हस्तक्षेप करने या मध्यस्थ बनने का अधिकार था ।

श्रेणी के आर्थिक कार्यों की सूची लम्बी है । वे कई बार अपने सिक्के व मुद्राएँ जारी कर सकती थीं । आज के बैंकों जैसी वित्त, और साख संबंधी गतिविधियाँ भी ये श्रेणियाँ सम्पादित करती थी । अनेक श्रेणियाँ मिलकर अपने "पूग" या समूह बना लेती थी । अपने सदस्यों का कल्याण करना उन्हें अधिक लाभ प्रदान करवाना, उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा

टालना, व्यावसायिक प्रशिक्षण देना तथा विपणन व यातायात की सुविधाएँ जुटाना, इन श्रेणियों की प्रमुख गतिविधियाँ व उद्देश्य होते थे ।

ये श्रेणियाँ प्रमुख रूप से वस्त्र निर्माण, ऋण देना व धन जमा करना, काष्ठ कला, हाथी दाँत का काम, धातु–शिल्प, कुभंकारी, तेल उद्योग यातायात के सार्थ, सामूहिक निर्माण, सामूहिक व्यापार आदि क्षेत्रों में कार्यरत थी ।

आर्थिक गतिविधियों के अभिरिक्त ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों को सैन्य एवं अन्य अनेक विधाओं का प्रशिक्षण भी देती थी । कई बार वे एक न्यास की भूमिका भी अदा करती थी । जन–कल्याण के कार्य करना भी उनका लक्ष्य था । राज्य के सलाहकार–मंडल में उनके प्रतिनिधि भी होते थे । कई श्रेणी प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी भी होते थे । अनेक धार्मिक कार्य सम्पादित करना तथा महत्वपूर्ण सार्वजनिक निर्माण पूरे करवाना भी इन श्रेणियों के दायित्व के महत्त्वपूर्ण भाग थे ।

यातायात की स्थिति – प्राचीन भारतीय व्यापार थल, जल व तटीय मार्गों द्वारा सम्पन्न होता रहा। थल मार्गों पर यातायात के प्रमुख साधन हाथी, बैल, घोड़े, गधे, ऊँट, खच्चर आदि भारवाही पशु, पालकी, रथ, बैलगाड़ी आदि थे । दूरस्थ स्थानों पर यात्री और माल का गमनागमन रथों और बैलगाड़ियों से युक्त सार्थों (काफिलों) द्वारा होता था । साथ के प्रमुख को सार्थवाह कहते थे । अनेक स्थानों पर जो मिट्टी के खिलौने, पत्थर पर उत्कीर्ण दृश्य तथा प्राचीन चित्र मिले है, उनसे उस समय के यातायात के इन साधनों के आकार–प्रकार व उपयोगिता पर अच्छी जानकारी मिलती है ।

जल यातायात कई प्रकार की नावों एवं जहाजों द्वारा सम्पन्न किया जाता था । ये साधन प्रारम्भ में डांडदार होते थे । एक यूनानी पर्यटक हिप्पालस ने मानसून हवा का क्रम खोज निकाला । इस कारण भारतीय समुद्र पर पालदार वाहन तैरने लगे । सिंधु घाटी से प्राप्त एक मिट्टी के पात्र पर अंकित नाव के दृश्य, ऋग्वेद में समुद्री यात्रा का उल्लेख, जातक कथाओं में जहाजरानी के विविध गतिविधियों का विवरण, सातवाहन राजाओं के सिक्कों पर जहाजों का अंकन आदि प्रमाणों द्वारा हम इन' साधनों के स्वरूप आदि का ज्ञान पा सकते है । अनेक प्राचीन ग्रन्थ भी विभिन्न प्रकार की नावों का उल्लेख करते है । नावों द्वारा नदियों एवं तटों पर यातायात सम्पन्न होता था जबकि बड़े जहाज समुद्री मार्गों पर विदेश–व्यापार में सहयोगी होते थे ।

विदेशी व्यापार में अनेक बाधाएँ थीं । भौगोलिक कठिनाईयों, प्राकृतिक प्रकोप एवं मार्ग के अनेक खतरे सार्थों के लिये चुनौती थे । थल मार्गों की सुरक्षा का प्रश्न सदैव बना रहता था । प्रशासन की क्षमता व चुस्ती पर बहुत कुछ निर्भर था । खराब मौसम, हिंसक वन्य जीवों व डाकुओं का डर हमेशा बना रहता था । नदियों के राह में आने पर थल–वाहनों को नावों द्वारा पार उतारा जाता था । विभिन्न राजाओं और कबीलाई सरदारों की नीतियाँ निर्णायक तत्व थी । अशोक के धर्म–लेख प्रमाणित करते है कि राज्य द्वारा थल मार्गों के आसपास छायादार वृक्ष लगाये जाते थे तथा थोड़ी–थोड़ी दूरी पर पेयजल के लिये कुएं तथा विश्राम के लिये निषद्

(सराय) निर्मित किये गये थे। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार गुप्तकाल में प्रशासकीय कठोरता के कारण यातायात अत्यन्त सुरक्षित व निरापद था ।

जल–मार्ग पर भी संकटों की कमी नहीं थी । यात्रियों को समुद्री तूफान, भूगोल के ज्ञान के अभाव में सही मार्ग से भटकाव, छिछले समुद्र में पोत के फँसने तथा विषैले व क्रूर समुद्री जन्तुओं का भय सदैव बना रहता था । समुद्री यात्रा में कई बार जल दस्युओं तथा मानव माँस खाने वाले बर्बर लोगों का आतंक भी बना रहता था । फिर भी प्राचीनकाल के दिलेर यात्री व सार्थवाह साहस व चौकनेपन के साथ देश–विदेश की यात्रा करते थे ।

राज्य द्वारा अनेक बार माल का बीमा किया जाता था । रास्ते में माल की हानि होने पर राज्य द्वारा उसकी पूर्ति की जाती थी । विदेशों को जाने वाले व्यापारियों व नाविकों को अनेक भाषाओं व बोलियों तथा देश–विदेश के विभिन्न रीति–रिवाजों व प्रथाओं का ज्ञान रखना होता था ।

व्यापार मार्ग – बुद्ध काल तक आते–आते भारत में अनेक प्रसिद्ध राजमार्ग निर्मित हो चुके थे । मौर्य काल में अनेक प्रकार की सड़कें बनायी गयी तथा प्रमुख नगरों को इनसे उपमार्गों द्वारा जोड़ने का प्रयास किया गया । जैसे–जैसे नगरीकरण एवं वाणिज्य का विकास होता गया, यह प्रक्रिया और भी घनीभूत होती चली गई ।

प्राचीन भारत के कुछ प्रमुख थल मार्गों का परिचय अन्यथा न होगा । उत्तरापथ का महामार्ग पाटलिपुत्र (पटना) को तक्षशिला से जोड़ता था । इस मार्ग पर: कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी, मथुरा, हस्तिनापुर आदि नगर स्थित थे । इस महामार्ग से ताम्रलिप्ति, चम्पा, श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, उज्जैन, अहिच्छत्रा, कान्यकुन्ज, सागल आदि नगरों से सड़कें आकर मिलती थी । ६ठी सदी ई.पू. तक इनमें से अधिकांश नगर तेजी से विकसित हो चुके थे । जनपदों के प्रमुख प्रशासकीय स्थल होने, तीर्थस्थल होने अथवा महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र होने से ऐसा हुआ था । दक्षिणापथ का मार्ग पाटलिपुत्र को दक्षिण के एक प्रमुख नगर प्रतिष्ठान (पैठन) से जोड़ता था । इस मार्ग पर कौशाम्बी, भरहुत, देवगढ़, विदिशा, गोनर्द, उज्जैन, माहिष्मती आदि नगर पड़ते थे । उज्जैन से दो मार्ग और भी जाते थे । एक तो उस समय के महान बन्दरगाह भृगुकच्छ (भड़ौच) तक जाता था । यह मार्ग वहां से सिंध की ओर चला जाता था । दूसरा मार्ग उज्जैन को मथुरा से मिलाता था ।

तक्षशिला से एक मार्ग पुरुषपुर (पेशावर) तथा पुष्कलावती होता हुआ अफगानिस्तान की ओर जाता था । वहां से वह कई भागों में विभक्त होकर पश्चिम और मध्य एशिया के नगरों से होता हुआ यूनान व मिश्र तक पहुंचता था । पूर्व में एक मार्ग पाटलिपुत्र से पूर्वी भारत के प्रमुख बन्दरगाह तामलिप्ति तक जाता था । इस मार्ग से जुड़ा एक अन्य मार्ग पूर्वी बंगाल के चम्पा नामक नगर से होता हुआ । बर्मा व मलाया प्रायद्वीप को– चला जाता था यहां यह स्मरण रखना होगा कि भारत के दक्षिण पूर्व में स्थित सुवर्गद्वीप, काम्बोज, यवद्वीप आदि कई देश प्राचीन काल में बहुत समय तक भारत के राजनैतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक, प्रभाव में रहे थे ।

1.4 प्राचीन भारत में शहरीकरण

1.4.1 भूमिका

प्राचीन भारत में, जैसाकि पूर्व में देखा जा चुका है, नगरीकरण के अनेक सोपान रहे है। विषयक इन सोपानों में दो अत्यंत महत्वपूर्ण रहे है । प्रथम तो सैंधव नगरों का अभ्युदय एवं द्वितीय ऐतिहासिक काल के प्रारंभ में नये सिरे से नगरों का विकास । इन दोनों की विकास प्रक्रिया के मूल में धातुओं के प्रयोग से होने वाली कृषि–क्रान्ति थी । इनके अतिरिक्त कारणों से भी नगरों का निर्माण हुआ । इन कारणों में प्रमुख रूप से या तो राज–केन्द्रों या तीर्थ–स्थलों का नगरों के रूप में क्रमश : विकास होना था । विकास की प्रक्रियाएँ एक साथ या पृथक भी चलती रहीं ।

नगरीकरण पृष्ठभूमि में दो तथ्य विचारणीय है : प्रथम तो यह है कि कई जन–संकुल स्थलों पर जनसंख्या का घनत्व बढ़ जाने से एक या एकाधिक बस्तियों का एकत्रीकरण होकर नगर का रूप धारण करना, तथा द्वितीय यह कि राज्य या प्रशासन द्वारा योजनाबद्ध रूप में नगरों का निर्माण किया जाना । प्राचीन भारत में दोनों ही प्रक्रियाओं की विद्यमानता दिखाई देती है । मथुरा, अयोध्या, वाराणसी, प्रयाग, उज्जैन आदि की प्रारंभिक बस्तियां प्रथम प्रक्रिया का तथा हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, सागल (आधुनिक स्यालकोट) आदि की मूल बस्तियां द्वितीय प्रक्रिया का परिणाम रही है ।

1.4.2 प्रथम शहरीकरण

प्राचीन भारत में शहरीकरण का प्रथम सोपान सैंधव नगरों के रूप में दिखाई देता है । सैंधव सभ्यता भारतीय उप–महाद्वीप में पूर्व में सुतकांगेडोर से लेकर पश्चिम में आलमगीरपुर तक तथा उत्तर में मादा से लेकर दक्षिण में भगतराव तक व्यापक रही है । स्पष्ट है कि ईरानी सीमा से लेकर उत्तर प्रदेश के पश्चिमी छोर तक तथा जम्मू से लेकर गुजरात तक इस सभ्यता का प्रसार रहा । मोहेनजोदड़ो, हड़प्पा, चन्न्हुदड़ो, बनावली, सुरकोटडा, लोथल, कालीबंगा आदि क्षेत्र के प्रमुख नगर रहे है । इन नगरों का परकोटे से घिरा क्षेत्र दुर्ग के रूप में पहिचाना गया है । दुर्ग के बाहर सामान्य–जन का अभिनिवेशन होता था । कुछ नगरों में एक ही परकोटे के मध्य दुर्ग एवं जन–निवास क्षेत्र होते रहे । गुजरात में लोथल के उत्खनन से एक गोदी प्राप्त हुई है जो सैंधव–जन की जलमार्ग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से जुड़े रहने की परिचायक है । सैंधव नगरों के नियोजन का संक्षेप में अध्ययन मोहेनजोदड़ो, एवं हड़प्पा के टीलों के उत्खनन के आधार पर करना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा ।

सैंधव नगरों का निर्माण बड़े सुनियोजित ढंग से होता था । चौड़ी सड़कें, चौराहे, पानी के निकास के लिये नालियाँ, सार्वजनिक स्नानागार तथा जल–सोत के रूप में कूपों की व्यवस्था रहती थी । सड़कों के आस–पास निजी भवन बने रहते थे । सार्वजनिक भवनों के लिये भी जगह सुरक्षित रहती थी ।

इन नगरों में विभिन्न प्रकार के भवन निर्मित होते थे । दो कमरों से लगाकर अनेक कमरों तक के मकान होते थे । मकानों को प्रवेश द्वार प्रमुख सड़क की ओर न होकर पीछे की गली की ओर से होता था । प्रवेश द्वार के उपरांत आँगन, आँगन से लगा बरामदा तथा बरामदे से लगे कमरे होते थे । कमरों में पर्याप्त द्वार व खिड़कियाँ होती थी । स्नान, जल पात्र रखने, रसोई बनाने तथा कूड़ा एकत्रित करने के स्थान नियत थे ।

भवन की नींव टूटी ईंटों से भर दी जाती थी । भवन निर्माण में ईंटों और लकड़ियों का प्रयोग होता था, पत्थर का प्रयोग तो न के बराबर है । दीवारों पर पलस्तर और सम्भवत; चित्रकारी होती थी ।

कुछ भवन तो काफी विशाल थे । मोहनजोदड़ो का एक भव्य भवन 85 फीट चौड़ा और 97 फीट लम्बा है । उसका आंगन ही 32 वर्गफीट का है । इसके अतिरिक्त एक विशाल कक्ष भी प्राप्त हुआ है जिसका क्षेत्रफल लगभग 9० वर्ग फीट है । भवन एक से अधिक मंजिल के भी होने थे । ऊपरी मंजिलों तक जाने की सीढ़ियाँ आँगन में से होती थीं ।

सैंधव सभ्यता के स्थापत्य में ईंटों का बड़ा महत्व था । ये ईंटें भवन, नाली, स्नानगृह, कूप आदि के निर्माण में प्रयुक्त होती थी । प्रारम्भिक ईंटें कच्ची होती थी, किन्तु कालान्तर मैं वे धूप में सुखाई जाने लगी । यदपि विविध आकार की ईंटें बनाई जाती थीं, उनका सामान्य आकार $11''\times5\frac{1}{2}\times2\frac{3}{4}''$ अथवा $5\frac{1''}{2}\times2\frac{1''}{4}\times2\frac{3}{4}$ होता था ।

सिंधु सभ्यता के निवासी स्नान के बड़े शौकीन थे । इसी कारण प्रत्येक गृह में स्नान की व्यवस्था थी । नगरों में सार्वजनिक स्नान–गृह होते थे । ऐसा ही एक स्नानागार मोहनजोदड़ो में प्राप्त हुआ है । यह स्नानागार बाहर से 180 फीट लम्बा तथा 108 फीट चौड़ा है । इसी बाहरी दीवारों की मोटाई 8 फीट है । इसके चारों ओर बरामदे है और उनसे लगे हुए कक्ष है । एक ओर बड़ा कूप है जिसका जल तरण ताल में भरा जाता था । इस ताल में सीढ़ियों से उतरा जाता था । प्रयोग में आया जल 6 फीट ऊंची नाली द्वारा बाहर निकाल दिया जाता था । स्नान–कुण्ड का विस्तार 30"×23"×8" था।

सैंधव नगर–योजना का सबसे उल्लेखनीय पहलू नगरों से नालियों का जाल होना था । प्रत्येक घर में एक नाली होती थी जिससे वर्षा का जल तथा तरल मैला व गन्दा जल बाहर की छोटी नालियों में मिल जाता था । वे छोटी नालियाँ क्रमश : बड़ी नालियों में मिलती थी । फिर वृत्ताकार नालियों द्वारा सारे नगर का वर्षा अथवा दूषित जल नगर के बाहर निकाला जाता था। नालियाँ पत्थर या ईंटों से बनी होती थी तथा ढकी हुई होने से गन्दगी को अदृश्य रखती थी।

इन नगरों में पुरोहित, योद्धा, शासक–प्रशासक, शिल्पी, व्यापारी, श्रमिक, दास आदि रहा करते थे । ये नगर मुख्यता: उद्योग एवं व्यापार केन्द्रित थे ।

1.4.3 द्वितीय शहरीकरण

सैंधव सभ्यता के प्रथम शहरीकरण का अनेक कारणों से पतन हो गया। प्राचीन भारत शहरीकरण की इस प्रक्रिया को आगे न ले जा सका, यह अतीव आश्चर्य का विषय है । सैंधव

सभ्यता के पतन के उपरांत भारत लगभग एक सहस्राब्दी तक पुन : कृषि एवं पशु–पालन के युग में लौट गये। इस दौरान संस्कृति तो पल्लवित रही किन्तु प्रथम शहरीकरण विदा हो गया । द्वितीय शहरीकरण लौह युग के आगमन की देन रहा । दो शहरीकरण के मध्य प्राचीन भारत में अनेक ताम्रश्मीय संस्कृतियां उभरी एवं विकसित हुई, किन्तु उनका स्वरूप ग्रामीण, कृषि–केन्द्रित एवं अन्न–उत्पादक ही रहा ।

द्वितीय शहरीकरण की पृष्ठभूमि में निश्चित ही लौह का प्राचीन भारत के आर्थिक–जीवन में प्रवेश था । उत्तर भारत को ईसा पूर्व लगभग 13वीं सदी में लौह धातु का कुछ–कुछ परिज्ञान हो चला था । वस्तुत: यह एक विडम्बना ही है कि मयूर भंज एवं सिंहभूमि के लौह–प्रचुर क्षेत्रों के निकटवर्ती स्थित सोनपुर, वैशाली, चिरांद, प्रहलादपुर, चम्पा, कौशाम्बी, राजघाट, श्रावस्ती, श्रृंवेरपुर आदि स्थल लौह–उपकरणों की प्रस्तुति के मामले में अतिरजीखेड़ा की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती सिद्ध हुए । डॉ रामशरण शर्मा ने इसका कारण पूर्वी उत्तर–प्रदेश तथा बिहार की क्षारीय, नम एवं उष्ण जलोद मिट्टी को माना है, जो लोहे को तेजी से क्षरित कर देती है । स्थिति जो भी हो, 1,000 ई.पू. से भारत में लौह–युग का प्रारम्भिक (अकार्बनीकृत) युग प्रारंभ हो चुका था । लौह काल के इस प्रारंभिक चरण में लौह–उपकरण परवर्ती काल व लाल तथा चित्रित भूरे एवं प्रारंभिक उत्तरी काले ओपदार मृदभाण्डों के साथ प्राप्त हुए जो तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक–जीवन में हो रहे तेज परिवर्तनों का संकेत देते है ।

लौह–प्रौद्योगिकी ने उत्तर भारत, विशेषत: गंगा घाटी के कृषि जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया। प्रारंभ में लौहे की कुल्हाड़ियों ने वनों पर कहर ढाया । बढ़ती हुई जनसंख्या हेतु आवश्यक खाद्यान्न की पूर्ति के लिये वनों को तेजी से काटा और वन–भूमि को कृषि–भूमि में परिवर्तित किया जाने लगा । इस प्रकार विस्तृत खेती का बड़ी तेजी से विकास हुआ । पर यह स्थिति अधिक समय तक न रह पायी । अतिरिक्त कृषि उत्पादन बिचौलियों के माध्यम से नव–विकसित व्यापार–केन्द्रों तक पहुंचने लगा । इन व्यापार–केन्द्रों में भी औद्योगिकी लौह–उपकरणों ने क्रान्ति कर दी थी । परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन की संभावना का द्वार खुल गया । मंडियों में कच्चे माल की मांग बढ़ गयी, जिसकी आपूर्ति ग्रामीण क्षेत्रों के अधिशेषों से होने लगी । इसी बीच लौह–उपकरणों द्वारा नये एवं लम्बे व्यापार–मार्गों का निर्माण संभव हो चला । पहियों पर लौह–पटिट्काओं के आवरण से यातायात के मजबूत एवं द्रुतगामी साधन विकसित हो गये । इन व्यापार–मार्गों एवं यातायात के साधनों ने व्यापार–मंडियों अथवा गमनागमन के केन्द्रों को नगरों का रूप दे दिया । इनमें से अनेक विभिन्न जनपदों के राजनीतिक एवं प्रशासकीय मुख्यालय भी बन गये । इन समस्त परिस्थितियों के कारण भारत ने द्वितीय नगरीकरण के क्षेत्र में प्रवेश किया ।

द्वितीय शहरीकरण पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा. रामशरण शर्मा (प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, अ.13) कहते है कि ऐतिहासिक काल में शहरों का उदय ई॰ पू. 500 के लगभग होता है, प्रारंभिक अवस्था में इन शहरों का भौतिक जीवन बहुत ऊँचा नहीं था। मध्य गंगा के किनारे बसे कोशांबी, वाराणसी, खैराडीह, वैशाली, राजगृह, चंपा जैसे शहरों का उदय हुआ । किन्तु मकान मिट्टी के बने होते थे और ऐसा लगता

है कि फूस के इन मकानों का छाजन होता था । मकान लकड़ियों से भी बनते थे । मौर्य काल के पहले पकी ईट का प्रयोग मकान बनाने में नहीं होता था ।..... प्रारंभिक अवस्था में भी ये शहर आवागमन के केन्द्र थे । अधिकांश शहर नदियों के किनारे पाए जाते है अथवा हिमालय की तराई में । तराई में नदियों का पाट छोटा होता था जिससे उन्हें पार करना आसान था और तराई के बगल वाले रास्ते से आवागमन होता था । मौर्य काल आते–आते नए–नए रास्ते बने । पाटलिपुत्र से लेकर तक्षशिला तक राजमार्ग बना था । यह सड़क वाराणसी, कौशाम्बी और मथुरा होते हुए तक्षशिला पहुंचती थी । श्रावस्ती से भी इसका संबंध था । जो सड़क कौशाम्बी होते हुए मथुरा जाती थी वहां से वह विदिशा और उज्जैन होते हुए पश्चिमी समुद्र तट पर भरूकच्छ अथवा (भरुच) के बंदरगाह तक जाती थी । उसी प्रकार पाटलिपुत्र से पूर्व की ओर गंगा नदी के रास्ते होते हुए बंगाल में ताम्रलिप्ति बंदरगाह तक जाने का प्रबंध था । स्पष्ट है कि ये सारे आवागमन के मार्ग पर अवस्थित थे और नहर के रूप में विकसित हो गए थे । खुदाइयों से पता चलता है कि मौर्य काल में इन शहरों में आबादी थी ।..... खुदाइयों से पता चलता है कि इस काल में केवल मध्य गंगा के मैदानों में ही नहीं बल्कि पूर्वोत्तर हिस्सों को छोडकर लगभग सारे: देश में नगर बस गये थे । यही समय था जबकि देश का रोम के साथ समृद्ध व्यापार चल रहा था और यही समय था जबकि कुषाणों ने मध्य एशिया और भारतीय उपमहादेश को एक सूत्र में बाँध रखा था। चीन से चलकर पश्चिम और यूरोप जाने वाला रेशम मार्ग (सिल्क रूट) का बड़ा भाग कुषाण साम्राज्य में पड़ता था । इस रास्ते से कच्चे रेशम, रेशम के सूत और उसके कपड़े का व्यापार होता था । इसमें से कुछ माल अफगानिस्तान होकर भारत आता था, और भरुकच्छ बंदरगाह से बाहर जाता था । ईसा की दो प्रथम शताब्दियों में रोम के साथ भी व्यापार होता रहा, मध्य रोम और दक्षिण–पूर्व एशिया के साथ व्यापार के कारण भारत के शहरों का विकास हुआ ।

इस काल के प्रमुख भारतीय नगरों में महाजनपदों की राजधानियां, प्राचीन धार्मिक केन्द्र एवं आर्थिक क्रान्ति के कारण उदीयमान नगर आते है । चंपा, वैशाली, राजगृह, काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, उज्जैन, पाटलिपुत्र, प्रयाग, मथुरा, तक्षशिला, अहिच्छत्रा, काम्पिल्य, कान्यकुब्ज आदि इस युग के प्रधान उत्तर भारतीय नगर रहे ।

द्वितीय नगरीकरण लगभग एक सहस्राब्दी तक चलता रहा । मौर्य काल के पतन के उपरांत जो तेज राजनीतिक एवं भौतिक परिवर्तन हुए, उसके कारण नगरीकरण की यह प्रक्रिया थमी ही नहीं, पतनोन्मुखी भी हो गई ।

1.4.4 परवर्ती स्थिति

मौर्योत्तर, गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में नगरीकरण की प्रक्रिया यदपि गतिहीन एवं पतनोन्मुखी रही, किन्तु अनके नगर अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल रहे । इनमें पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्जयिनी, कन्नौज, पुरुषपुर, नासिक, श्रीमाल, दशपुर, वलभी, थानेश्वर जैसे नगर उल्लेखनीय है

हर्षोपरांत भारत में राजनीतिक विघटन की प्रक्रिया में तेजी आ गई । उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक राज्यों का अभ्युदय हुआ । इन नव–स्थापित राज्यों का अपना पृथक्– पृथक् राजधानियां स्थापित हुई जिन्होंने शीघ्र ही नगरों का रूप ले लिया । पूर्व–मध्यकाल में उत्तर भारत में अजमेर, अनहिलपाटन, चांपानेर, सिद्धपुर, नाडोल, शाकम्भरी, दशपुर, दिल्ली, भिलसा (विदिशा), लखनौती, कालिंजर व दक्षिण भारत में कांची, मामल्लपुरम, मदुरा, उदयपुर, धान्यकटक, द्वार समुद्र, गंगेकोंडचोलपुरम् आदि रहे । इनमें से अधिकांश नगर पारस्परिक युद्धों या विदेशियों के आक्रमणों के फलस्वरूप विनष्ट हो गये ।

1.5 व्यापार एवं शहरीकरण का 'अंत:सम्बन्ध

प्राचीन भारत में शहरीकरण का प्रारंभिक सोपान सैंधव सभ्यता से माना गया है । गंगा एवं सिंधु के मध्य के मैदानी इलाकों में आमरी, कुल्ली, कोट दीजी जैसी ग्रामीण बस्तियां धीरे–धीरे नगरीकरण की ओर प्रवृत्त हुई । कालान्तर में सैंधव सभ्यता वाले क्षेत्रों में हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, कालीबंगा जैसे विशाल एवं सुनियोजित नगरों का निर्माण हुआ ।

नगर की पृष्ठभूमि कृषि का संपुष्ट आधार लिये हुए थी । कांस्य एवं ताम्र के उपकरणों ने कृषि क्षेत्र में जो क्रान्ति उत्पन्न की थी, उससे बड़ी बस्तियों से लगे हुए क्षेत्रों के कृषि–उत्पादकों के पास अधिशेष एकत्रित होने लगा था । यह ग्रामीण अधिशेष बड़ी मंडियों तक सीधे या बिचौलियों के माध्यम से वस्तु–विनिमय के आधार पर पहुंचने लगा । ये मंडियां धीरे–धीरे अन्न व कच्चे माल का भंडारण करने लगी । शीघ्र ही ये उद्योग, मौद्रिक–व्यवस्था, व्यापार व यातायात के केन्द्र बन गयी । इन नगरों, विशेषकर नदी–तट पर बसे नगरों, में स्थानीय व विदेशी व्यापारियों का तांता लगा रहता था । धातु के पदार्थ, मृद्भाण्ड, वस्त्र आदि का निर्माण व व्यापार प्रगति कर गया था। कोरत्स्काया (भारत के नगर, पृ 25 – 26) का कथन है कि "हडप्पाई समाज में व्यापारी और शिल्पी तबकों के लोगों का विशिष्ट स्थान था । बड़े नगरों का अस्तित्व इसकी पुष्टि करता है । नगरीकरण का उच्च स्तर तभी पाया जा सकता है, जबकि शिल्प और व्यापार सुविकसित हों । दूसरी ओर, शिल्प और व्यापार के विकास के लिये बेशी उपज देने वाली उन्नत, कारगर कृषि का होना जरूरी है, जो शिल्पोत्पादन तथा विनिमय के लिये पर्याप्त कच्चा माल तथा अनाज दे सके । "

हड़प्पा के दुर्ग में विशाल अन्न भण्डार और अनाज की सफाई, कुटाई, पिसाई, आदि के चबूतरे पाये गये है । संभवत: हड़प्पाई समाज में श्रम का सामाजिक संगठन प्रचलित था और इसकी बदोलत राज्य के पास अन्न के प्रचुर भण्डार थे । उस युग में, जैसा कि पुरातात्त्विक खोजों से पता चला है, गेहूं, जौ, धान और चने की खेती की जाती थी । (मोहनजोदड़ो में एक घर के अहाते में रोटी पकाने के लिये तंदूर भी पाया गया है) । कताई और बुनाई के धंधे भी विकसित थे । खुदाई में हड़प्पा की मुहर लगे सूती कपड़े के अवशेष मिले है । अन्य शिल्पों में सबसे अधिक प्रचलित तथा विकसित मृद्भाण्ड शिल्प था । हड़प्पाई नगरों के खंडहरों से प्राप्त सोने, चांदी, मणियों तथा फायन्स के आभूषणों, तांबे के बरतनों और धातु के उपकरणों तथा हथियारों से पता चलता है कि सिंधु सभ्यता के लोग धातुओं की गलाई तथा ढलाई के हुनर से

भली भांति पारंगत थे और आभूषण निर्माण में अत्यंत निपुण थे । इस काल में ताम्र के अलावा कांस्य भी अर्थ–व्यवस्था तथा शिल्पों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था । खुदाई में मिले अनगिनत बाट और तराजू उस काल में व्यापारिक गतिविधियों के वृहद पैमाने का प्रमाण प्रस्तुत करते है । स्वर्ण और कीमती पत्थर दक्षिण भारत में आयात होते थे । माल–विनिमय के लिये विभिन्न आबादी केंद्रों और इलाकों के बीच आवश्यक संपर्क जल तथा स्थल मार्गों द्वारा स्थापित किये जाते थे ।

ईसा की छठी सदी के लगभग लौह–उपकरणों का कृषि–कार्य में प्रयोग होने लगा । इस प्रकार विस्तृत खेती का स्थान सघन कृषि ने लेना प्रारंभ कर दिया । व्यापार एवं औद्योगिक केन्द्रों में इस समय तक आविष्कृत आहत–सिक्कों एवं मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था द्वारा पर्याप्त पूंजी एकत्रित हो गयी थी, जिसके कारण कृषि –यंत्रों एवं कृषि–तकनीक की प्रचुर उपलब्धि एवं नवीनीकरण संभव हो रहा था । जहां तक श्रम की आपूर्ति का प्रश्न था, अब शूद्रों, दासों, श्रमिकों एवं दस्तकारों की मांग में पूर्वापेक्ष पर्याप्त अभिवृद्धि हो गयी थी । खेतों को गहरे जोतने, कुओं से सिंचाई हेतु पानी निकालने, परिवहन के साधनों के लिये शक्ति–स्रोत बनने तथा औद्योगिक कार्यों के लिये पशु–श्रम की भी तीव्र आवश्यकता अनुभव की जाने लगी । परिणामत: पशुओं की मांग में वृद्धि होने लगी । धार्मिक कार्यों में पशु–बलि को सीमित किया जाने लगा । कई ब्राह्मण–व्यवस्थाकारों एवं नास्तिक–दर्शनकारों ने तो उसे निन्दनीय ठहराते हुए "अहिंसा" का उद्घोष किया । इस मामले में भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति एकदूसरे से सहमत होने लगी ।

इस प्रकार देश में न केवल द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया गतिवान हो रही थी; अपितु " द्वितीय पशु–पालन" युग का प्रादुर्भाव भी हो रहा था ।

ई पू. 200 से 300 ई. तक भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष रहा । रोम तथा मध्य व दक्षिण–पूर्वी एशिया से होने वाला विदेशी व्यापार, चीन का रेशमी माल भारत से "रेशम–मार्ग के माध्यम से यूरोप में निर्यात, भारतीय पक्के माल व मसालों की विदेशों में भारी मांग आदि कारणों से इस काल में अनेक नवीन नगर विकसित हो गये थे । किन्तु धीरे–धीरे भारत का विदेशी व्यापार अनेक कारणों से घटना चला गया जिसके कारण बहुत से व्यापारिक नगर शनै:शनै गतिहीन होने लगे थे । पूर्व मध्यकाल में तो शहरीकरण का और तेजी से पतन हुआ । राजनीतिक विघटन, सामंत प्रथा का तेजी से विकास, विदेशी व्यापार में आशातीत कमी, चीन व अरब की अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में की जाने वाली व्यापार–प्रतियोगिता, भारतीय उद्योगों का अधिकाधिक ग्राम–केन्द्रित होते जाना आदि कारणों से द्वितीय शहरीकरण का युग समापन की ओर चला गया ।

इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन भारत में व्यापार एवं शहरीकरण का अन्योन्याश्रित संबंध रहा । कृषि के अतिरिक्त उत्पादन ने व्यापार को और व्यापारिक समृद्धि ने शहरीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया । दूसरी ओर शहरों ने अन्त के भण्डारण, कृषि व वनोपज के मंडीकरण एवं विभिन्न उद्योगों के केन्द्रीकरण के कारण व्यापार एवं व्यापारिक गतिविधियों को सतत प्रोत्साहित किया ।

1.6 सारांश

व्यापार एवं नगरीकरण का अविच्छिन्न संबंध रहा है । व्यापार की जब भी हम चर्चा करते है तो उसके अंतर्गत व्यापारिक संगठन की विभिन्न विधाएं यथा श्रेणी–पद्धति यातायात के साधन, व्यापार मार्ग, विनिमय प्रणाली आदि आ जाते है । देशी, विदेशी एवं तटीय व्यापारों का अध्ययन भी उसके अंतर्गत किया जाता है ।

नगरीकरण या शहरीकरण जन–संकुलता का एक बड़ा रूप होता है । नगरीकरण के अनेक कारण होते है; जैसे राजनीतिक, सैनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि । इनमें व्यापारिक कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । व्यापार एवं यातायात केन्द्र होने से अनेक बस्तियां क्रमश विकसित होती हुई नगर का रूप धारण कर लेती रही । कभी–कभी राज्यों द्वारा भी नियोजित रूप में ऐसे नगर बसा लिये जाते थे । प्राचीन भारत में शहरीकरण की ये सारी प्रक्रियाएं विद्यमान रहीं ।

प्राचीन भारत में नगरीकरण के मुख्य दो सोपान विद्यमान रहे । दोनों ही सोपानों की पृष्ठभूमि में धातु–उपकरणों के प्रयोग से कृषि–क्षेत्र में अतिरिक्त उत्पादन रहा । इस ग्राम्य–अधिशेष से विनिमय एवं यातायात बढ़ा एवं अनेक व्यापारिक मंडियों एवं नगरों का विकास हुआ।

प्रथम, नगरीकरण सैंधव सभ्यता के काल में हुआ । यह कांस्य एवं ताम के आविष्कार का परिणाम था जिसके परिणामस्वरूप हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हुदड़ो, रोपड़, लोथल, कालीबंगा, बनावली जैसे नगर अस्तित्व में आये । सैंधव सभ्यता के पतन के उपरांत लगभग एक हजार वर्षो तक भारत शहरीकरण–विहीन एवं ग्राम्य व कृषि से युक्त रहा । लौह युग के आगमन के प्रभाव से जब ई.पू. छठी सदी के लगभग विस्तृत खेती ने सघन व गहरी खेती का स्थान लिया तो पुन: कृषि–उत्पादन अधिशेष का परिदृश्य सामने आया । उस समय भारत में महाजन पदों का युग था । लौह युग ने समूचे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में क्रान्ति ला दी । व्यापार के साथ–साथ विभिन्न उद्योग यातायात के साधन, जल व थल मार्ग व्यापार–श्रेणियों व भौतिक संस्कृति का विकास हुआ । इन परिस्थितियों ने ईसा पूर्व छठी सदी से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक द्वितीय नगरीकरण को विकसित रखा । व्यापार ने नगरीकरण, और शहरीकरण ने व्यापार को पल्लवित किया । भारत का विदेशी तथा तटीय व्यापार इस अवधि में काफी पनपा । परिणामस्वरूप उत्तर भारत में अनेक विशाल नगर तथा दक्षिण भारतीय समुद्री–तट पर अनेक विश्व–प्रसिद्ध बंदरगाह विकसित हुए । उन्नत व्यापार–व्यवसाय साथों से भरे जल व थल मार्ग, गमनागमन की व्यस्त गतिविधियों, आहत मुद्राओं के निर्गमन से विकसित मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क के घनीभूत सामंजस्य ने भारत की व्यापारिक एवं सांस्कृतिक पताका अनेक शताब्दियों तक विश्व में लहराती रही । पूर्व मध्य काल में विदेशी बाजारों के हाथ से निकल जाने, समाज–व्यवस्था के अनुदार होने, राजनीतिक विघटन के दृश्य उपस्थित होने, सामन्त–प्रथा के दृढ़ीभूत होने, अनवरत विदेशी आक्रमणों तथा पारस्परिक सैनिक एवं राजनैतिक विग्रहों आदि के परिणामस्वरूप भारतीय व्यापार पतनोन्मुख होता चला गया ।

राजधानियों, धार्मिक–स्थलों एवं प्रशासकीय केन्द्रों के रूप में अनेक नगर अस्तित्व में तो रहे किन्तु उनकी व्यापारिक एवं आर्थिक गरिमा एक दूरस्थ स्वप्न बनकर रह गई ।

1.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) प्राचीन भारत में नगरों के अभ्युदय की पृष्ठभूमि एवं कारण बताइये ।
(150 शब्द)

(2) प्राचीन भारत में प्रथम नगरीकरण का स्वरूप एवं उसके पतन के कारणों की विवेचना कीजिए। **(200 शब्द)**

(3) प्राचीन भारतीय विदेशी व्यापार ने नगरीकरण में किस प्रकार का योगदान किया?
(150 शब्द)

(4) प्राचीन भारत में द्वितीय नगरीकरण पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी दीजिए ।
(100 शब्द)

(5) प्राचीन भारत में व्यापार एवं शहरीकरण के पारस्परिक सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए । **(200 शब्द)**

(6) संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये – (150 शब्द)

अ. प्राचीन भारत का तटीय व्यापार

ब. व्यापार–श्रेणियों का नगरीकरण में योगदान

स. प्राचीन भारतीय व्यापार–मार्गों का शहरों के उद्भव व विकास में योगदान

द. पूर्व मध्यकालीन भारत में शहरीकरण के पतन के कारण ।

1.8 संस्तुत अध्ययन सामग्री

1. शर्मा, रामशरण : प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास
2. झा, द्विजेन्द्रनारायण एवं श्रीमाली कृष्णमोहन : प्राचीन भारत का इतिहास
3. थापर, रोमिला : प्राचीन भारत का इतिहास
4. व्हीलर, मार्टिमोर : दी एण्डस सिविलाइजेशन
5. मोतीचन्द्र : सार्थवाह
6. बाजपेयी, कृष्णदत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास
7. पांडे, विमलचन्द्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास प्राचीन भारत
8. गौतम एवं कमलेश शर्मा : समाज और संस्कृति
9. वात्सायन : भारत के नगर
10. कोरोत्स्कया : भारत के नगर
11. शर्मा, रामशरण : अर्बन डिके इन इण्डिया

इकाई – 2

आद्य ऐतिहासिक काल हड़प्पा संस्कृति : व्यापार व शहरीकरण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्राग हड़प्पा संस्कृतियाँ

- 2.2.1 बलूचिस्तान
- 2.2.2 मुण्डीगाक
- 2.2.3 पंजाब (पाकिस्तान) व सिन्ध
- 2.2.4 सराईखोला
- 2.2.5 गुमला
- 2.2.6 गुजरात
- 2.2.7 राजस्थान
- 2.2.8 हरियाणा,पंजाब

2.3 हड़प्पा संस्कृति

- 2.3.1 नगर विन्यास
- 2.3.2 समाज
- 2.3.3 उदगम

2.4 अर्थव्यवस्था एवं व्यापार

2.5 पतन

2.6 कालक्रम एवं उपसंहार

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.8 पठनीय शोध पत्र एवं ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

पाषाणयुगीन मानव अपने यायावरी जीवन से विकसित होकर ग्रामीण अवस्था में पहुँचा, इस ग्रामीण स्थिति से विकसित होकर उसने, इस भारतीय उप–महाद्वीप में लगभग 4500 वर्ष पूर्व, पहले पहल विशाल शहरों का विकास किया जिससे हड़प्पा सभ्यता/संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस इकाई में हमारा उद्देश्य उस प्रथम शहरीकरण व व्यापार का अध्ययन करना है, इसमें हम निम्न बिन्दुओं का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे –

- प्राग हड़प्पा संस्कृतियाँ।
- हड़प्पा संस्कृति व शहरीकरण
- व्यापार एवं उद्योग
- हड़प्पा संस्कृति का पतन

- उत्तर हड़प्पा कालीन संस्कृतियाँ

2.1 प्रस्तावना

हड़प्पा (सिन्धु) सभ्यता की खोज इस शताब्दी के बीस के दशक के प्रारम्भिक वर्षो में हड़प्पा में दयाराम साहनी व मोहनजोदड़ों में राखलदास बनर्जी द्वारा उत्खनन से हुई। ये दोनों स्थल अब पाकिस्तान में स्थित है। यह खोज बड़ी आश्चर्यजनक थी, चूंकि इससे समूर्ण दक्षिण एशिया में मानव सभ्यता के विकास का इतिहास 4000 वर्ष प्राचीन हो गया। इन खोजों के कुछ समय पश्चात् मोहनजोदड़ों में पहले सर जोन मार्शल (1931) व फिर इ॰जे.एच. मैके (1938) ने विस्तृत पुरातात्विक उत्खनन कराया। इसी तरह हड़प्पा में भी माधोस्वरूप वत्स (1940) ने बीस व तीस के दशक में विस्तृत उत्खनन सम्पन्न किये परिणामस्वरूप हड़प्पा संस्कृति के इन दो विशाल शहरों का स्थापत्य, व सांस्कृतिक अवशेषों के उद्धरित होने से दुनिया भर के पुरातत्व शास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने मेसोपोटामिया व मिश्र की तरह इसे भी दुनिया की तीसरी प्राचीनतम सभ्यता कहा।

इस शताब्दी के 20 एवं 30 के दशकों में सिन्ध (पाकिस्तान) में एन॰जी. मजूमदार तथा बलूचिस्तान में सर ओरेल स्टाइन व एच॰आर. ग्रीब्ज ने व्यापक सर्वेक्षण किये, इसके फलस्वरूप हड़प्पा संस्कृति के बहुत से स्थल प्रकाश में आ गये और ये ज्ञात हो गया कि हड़प्पा संस्कृति के अवशेष सिन्ध, पंजाब व बलूचिस्तान प्रान्तों में भी फैले हुए है,1942 में जब सर ओरेल स्टाइन ने घग्घर हाकरा (ऋगवेदिक सरस्वती) के किनारे–किनारे बहावलपुर (पाकिस्तान) में सर्वेक्षण किया तो इस संस्कृति का एक नवीन, क्षेत्र प्रकाश में आ गया, स्टाइन ने उस समय 50 स्थलों की खोज की जो बीकानेर (राजस्थान) से डेरावर किले (पाकिस्तान) के बीच स्थित है।

खोजों से मार्शल पिगट व व्हीलर जैसे वैज्ञानिकों की ये धारणा बन गयी कि ये संस्कृति विकसित तकनीकी वाले लोगों की है,. जिन्होंने योजनाबद्ध तरीके से नगर बसाये, दूरस्थ क्षेत्रों तक व्यापार किया इनके नियंत्रण हेतु कोई सम्राट या केन्द्रीय शक्ति थी। सम्भवत: ये सभ्य, पचानक अस्तित्व में आयी तथा लगभग 1000 वर्षो पश्चात् उसी तरह विलुप्त हो गयी, इधर पिछले पचास वर्षो में इस संस्कृति पर भारत पाकिस्तान के अतिरिक्त इंग्लैण्ड फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस आदि विभिनन देशों के कई पुरातत्वविदों के अध्ययन करने से इस सभ्यता के अनेक विशाल शहरों, जन–जीवन, व्यापार, तकनीक तथा विस्तार जैसी अनेक जानकारियां मिल चुकी है। हड़प्पा सभ्यता एकाएक अस्तित्व में नही आयी वरन् इस संस्कृति के कम से कम 3000 वर्ष पूर्व इस उपमहाद्वीप में अनेक ग्रामीण संस्कृतियां अस्तित्व में आ चुकी थी जैसा कि मेहरगढ़ (पाकिस्तान) के अवशेष स्पष्ट करते है। कुछ भागों में लोगों को तांबे का भी ज्ञान हो चुका था। अनेक स्थलों पर इस ग्रामीण संस्कृतियों के अवशेष हड़प्पा संस्कृति के निचले स्तरों में पाये गये है, अत: इन्हें प्राग हड़प्पा संस्कृतियों कहा जाता है । इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है –

2.2 प्राग हड़प्पा कालीन संस्कृतियाँ

2.2.1 बलूचिस्तान

ईरान का पठार सिन्धु नदी के जिस मैदानी भाग से मिलता है उन्हीं क्षेत्रों में ईसा की चतुर्थ व तृतीय शताब्दी पूर्व में निम्न संस्कृतियों का विकास हो चुका था । यहां क्वेटा घाटी में किली गुल मुहम्मद व दम्ब सददात, झोब घाटी में पेरियानों घुण्डई, लोरलाई घाटी में राना घुण्डई, सर जंगल, सुराब घाटी में तोगाउ, सियाह दम्ब, अंजीरा तथा नाल, नुन्दारा कुल्ली व में ही नामक स्थलों पर अवशेष पाये गये । इन सबको इन्हीं संस्कृतियों के नाम से जाना जाता है।

क्वेटा घाटी में किली गुल मुहम्मद के उत्खनन से चार चरण प्रकाश में आये पहले चरण के लोग मिट्टी की ईंटों के मकानों में रहते थे । उन्होंने प्रस्तर के औजारों (समानान्तर पत्तियों) का प्रयोग किया, भेड़, बकरी तथा गाय–बैल पाले । इस स्थल की रेडियो कार्बन तिथि ई. पू. 3500 से 3100 के बीच पाई गयी है । दूसरे चरण के लोगों ने सुन्दर हाथ से बने मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग किया, जबकि तीसरे चरण में लोगों ने चाक पर बर्तन बनाने प्रारम्भ किये । इनकी सतह पर काले रंगों के चित्र पाये जाते है, इस तीसरे चरण में लोगों ने ताँबा भी खोज लिया, चौथे चरण के लोगों ने मिट्टी के बहुरंगी बर्तन बनाये जिनको कैची बेग पालीक्रोम बर्तन भी कहा जाता है, राना घुण्डई, जहां घोड़े के अवशेष प्राप्त हुए है, में भी इसी तरह के अवशेष प्राप्त हुए । क्वेटा घाटी में ही दम्ब सद्दात में भी बहुरंगी बर्तनों की खोज किली गुल मुहम्मद में सांस्कृतिक सम्पर्क के घोतक है । सोराब घाटी के तोगाऊ से प्राप्त बर्तन पर सर जंगल व राना घुण्डई के द्वितीय व तृतीय चरण से मेल खाते है । दम्ब सद्दात के तृतीय चरण में हड़प्पा संस्कृति से सम्पर्क के प्रमाण है । अत : यह स्पष्ट हुआ कि यहां तृतीय चरण से पहले के लोग प्राग हड़प्पा कालीन थे।

दक्षिणी बलूचिस्तान की नाल नुन्दारा संस्कृतियाँ अपने विशिष्ट दुनिया हरे रंग जैसे बर्तनों के लिये प्रसिद्ध है, जिनमें काले नीले लाल व पीले रंगों के चित्रण है । यहां तांबे के औजारों के, अलावा शवागार भी प्राप्त हुए हैं। फेयर सर्विस के अनुसार ये संस्कृति दम्ब सद्दात के द्वितीय चरण के समकालीन थी। कालान्तर में इनका हड़प्पा सांस्कृतिक के साथ सम्पर्क हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप यहां पत्थर के बाट, स्टीएटाईट के मोती, मुहरे व बर्तनों पर पीपल के पत्तों के अलंकरण पाये गये है। ये संस्कृति हड़प्पा संस्कृति के समय भी अस्तित्व में रही।

दक्षिणी– बलूचिस्तान की ही कुल्ली में ही संस्कृतियाँ के लोग भी धूप में सूखी मिट्टी की ईंटों के मकानों में रहते थे, इनके बर्तनों में जानवरों के साथ प्रकृति चित्रण भी किया गया है, जो ईराक के ई.पू. तृतीय सहस्त्राब्दी के अन्तिम चरण में बर्तनों से समानता रखते है, इसके अलावा मोहनजोदड़ो के जैसे स्टीएटाइट के बक्से उल्लेखनीय है, यहां के बर्तन हड़प्पा से तथा चिड़ियों की मृण मूर्तियां दम्ब सद्दात के तृतीय चरण से मेल खाती है। कुली में हड़प्पा जैसे छिद्रित जार भी उपलब्ध है। राना घुण्डई के जो बर्तन दम्ब सद्दात के द्वितीय चरण से मेल खाते है वे हड़प्पा के स्तरों के नीचे पाये गये है अत: कुल्ली में भी, दम्ब सद्दात व राना घुण्डई के तृतीय चरणों में हड़प्पा संस्कृति से सम्पर्क हो चुका था।

बलूचिस्तान में सुत्कगेनाडोर (स्टाईन 1927) सोत्काकोह (डेल्स 1962) व डाबरकोट नामक बड़े हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे गये है।

2.2.2 मुण्डीगाक (अफगानिस्तान)

दक्षिण–पूर्वी अफगानिस्तान में अस्थण्डाब नदी के किनारे इस संस्कृति के चार चरणों के अवशेष खोजे गये है। इसके प्रथम चरण में प्रस्तर के ब्लेड, अलाबास्टर के बर्तन, स्टीएटाईट व लापिस लाजुली के मोती, तांबे के औजार तथा धीमे चाक पर बने बर्तन पाये गये, दूसरे चरण में कमरों के भीतर केन्द्र में चूला, हाथ के बने बर्तन तथा पत्थर के तीर पाये गये। तृतीय चरण में निर्माण के व्यापक अवशेष, शवागार, चाक पर बने सुन्दर अलंकृत व चित्रित बर्तन, मानव व पशुओं की मृणमूर्तियां पायी गयी जिनकी रेडियो कार्बन तिथि 2360 ई. पू. पायी गयी। चौथे चरण में इन लोगों का सम्पर्क हड़प्पा संस्कृति से हो गया, इनके तृतीय चरण तक के अवशेष प्राग हड़प्पा कालीन है। चौथे चरण में मुण्डीगाक गांव सेशहर में परिवर्तित हो गया नगर में सुरक्षा दीवार बनाई गयी, जिसमें चौकोर बुर्ज बनाये गये। इस तरह मुण्डीगाक मनुष्य के यायावरी जीवन से शहरीकरण तक के अवशेष समेटे हुए है।

2.2.3 पंजाब (पाकिस्तान) एवं सिन्ध

हड़प्पा में व्हीलर ने 1946 में सुरक्षा दीवार के निचले स्तरों से कुछ लाल बर्तन खोजे जो ऊँची गर्दन पर काले रंग द्वारा चित्रण युक्त थे, ये बर्तन मोहनजोदड़ो से 40 किमी. पूर्व में स्थित कोटदीजी से समानता रखते है। कोटदीजी का उत्खनन 1955–56 में पाकिस्तान के एफ.ए. खान ने कराया, हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की तरह यहां भी गढ़ी व निचले नगर के अवशेष पाये गये, कुल सांस्कृतिक जमाव की 16 परतों में से सबसे ऊपर की तीन परतें हड़प्पा (Mature Harappa) कालीन है इनके नीचे जले हुए अवशेष पाये गये। इन जले अवशेषों के नीचे चौथी से 16–वी परत तक प्राग हड़प्पा कालीन अवशेष पाये गये। यहां प्राग–हड़प्पा के लोगों ने बसासत की सुरक्षा हेतु पत्थरों का आधार देकर उसके ऊपर मिट्टी की ईंटों की विशाल सुरक्षा दीवार बनाई है। इस सुरक्षा दीवार का उपयोग हड़प्पा संस्कृति के दौरान भी होता रहा। यहां के निचले शहर की रेडियो कार्बन तिथियां 2250 से 2330 ई. पूर्व. के बीच में पाई गयी है। कोटदीजी में लाल व राखिया रंगों के बर्तन पाये गये, जिनको रफीक मुगल ने 22 प्रकारों में बांटा है, इनमें विभिन्न प्रकार के कटोरे, घड़े, थालियाँ, कप व बेलनाकार जार प्रमुख है, इनमें गोलाकार व त्रिभुजाकर अलंकरण किया गया है। इनके साथ पलीनुमा पत्थर के तीर जो पाण्डीवाही व पेरियानों घुण्डई के समान थे, तांबे की चूड़ियां, खिलोना गाड़ी, त्रिभुजाकार मिट्टी के केक व चर्ट के ब्लेंडा की खोज उल्लेखनीय हैं '

सत्तर के दशक में एम आर. मुगल ने चोलिस्तान मरूस्थल (पाकिस्तान) में हाकरा नदी के किनारे सैकड़ों हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे इनमें कम से कम 30 स्थल ऐसे है जो कोटदीजी संस्कृति से प्राचीन है ।

सिन्धु नदी के तट पर मोहनजोदड़ो में भी निचले स्तरों (प्रारम्भिक) में प्राग–हड़प्पा संस्कृति के अवशेष है, जिसमें क्वेटा वेट वेयर व रिजर्व स्लिप वेयर उल्लेखनीय है। मोहनजोदड़ो से 13 कि मी. दक्षिण में सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर आमारी नामक एक प्रसिद्ध हड़प्पा संस्कृति का स्थल है यह चन्हूदड़ों के ठीक सामने है, इस स्थल पर पहले एन जी. मजूमदार व बाद में जे एम. कसाल द्वारा उत्खनन किया गया जिससे तीन विभिन्न सांस्कृतिक चरण स्पष्ट हुए, प्रथम दो चरण हड़प्पा सांस्कृतिक से प्राचीन है, जबकि चरण 2 अ तथा ब में हड़प्पा संस्कृति के बर्तन आमरी के बर्तनों के साथ–साथ पाये गये है, तृतीय चरण में पूरी तरह हड़प्पा संस्कृति के बर्तन है ।

2.2.4 सराईखोला

सराई खोला हारी नदी के निकट तक्षिला घाटी में स्थित है । यहां प्रथम चरण में (सबसे नीचे) नवष्मीय संस्कृति (Neolithic Culture) के अवशेष प्राप्त हुए, जबकि द्वितीय चरण में कोटदीजी सदृश प्राग हड़प्पा कालीन चमकदार बर्तन मिले है ऐसे बर्तन राजस्थान कालीबंगा के प्रथम चरण (प्राग–हड़प्पा) में भी प्राप्त हुए है इनके अतिरिक्त पक्की मिट्टी की चूड़ियां, बैल की मृणमूर्तियां, लघु आकार की गाड़ी । पत्ती के आकार केतीर व चर्ट के ब्लैड भी उल्लेखनीय है, यहां कुल सांस्कृतिक जमाव 1.83 मी. का है ।

2.2.5 गुमला

गुमला भी पाकिस्तान में डेरा इस्माईल खां से 12 कि मी. दूरी पर गोमल घाटी में स्थित है । यहां भी प्राग हड़प्पा सांस्कृतिक के अवशेष पाये गये है यहां प्रथम चरण के लोगों को मिट्टी के बर्तनों का ज्ञान नहीं था, तथा वो नवाष्मीय संस्कृति के लोग थे । द्वितीय चरण में कांसे के औजार प्रस्तर औजार मानव (स्त्रियों की) मृणमूर्तियां चाकलेटी भूरे रंग की मिट्टी के बर्तन, जिनमें कालीबंगा के प्रथम चरण सदृश अलंकरण है, पाये गये मानव मृणमूर्तियां मुण्डीगाक की मृण मूर्तियों से समानता रखते है । तीसरे चरण के लोगों ने कोटदीजी की भांति मिट्टी के मकान बनाये तथा चार्ट के समानान्तर ब्लोडों, का प्रयोग किया, बर्तनों में एक सींग युक्त आकृति का चित्रण पाया गया ये संस्कृति स्थल पर आग लगने से नष्ट हो गयी इसे पश्चात् जब पांचवे चरण में पुन: बसाबट बनी तो उनमें चौथे चरण की कुछ वस्तुएं पुन: मिलती है, परन्तु अब इनका सम्पर्क हड़प्पा संस्कृति से हो चुका था।

2.2.6 गुजरात

गुजरात में पिछले 40 वर्षों के दौरान सैकडों हड़प्पा व प्राग हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे जा चुके है, अधिकांश प्राग–हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृतियों के स्थल समुद्र के निकट है । जबकि उत्तर हड़प्पा कालीन स्थल समुद्र से बहुत दूर पाये गये है । गुजरात के कच्छ जिले में प्राग हड़प्पा के स्थल अधिक पाये गये है, जिनमें सुरकोटडा व धौलाबीरा उल्लेखनीय है । यहां के प्राग हड़प्पा स्थलों में लाल चमकीले बहुरंगी (Polychrome), बहुचमंक (Polytone), रिजर्व

स्लिप, गहरे लाल रंग की पालिश युक्त बर्तन प्राप्त होते है, बहुरंगी बर्तनों में कालीबंगा व कोटदीजी की तरह काले व सफेद रंगों का चित्रण है। यहां के प्रारम्भिक चरणों से जो रिजर्व स्लिप के बर्तन मिलते है, वो मोहनजोदड़ो लोथल, बाक, उर, किश तथा टी. जिन्दल जैसे स्थलों जो बलिख घाटी (पश्चिम एशिया) में स्थित हे, के सारगोनिड काल के बर्तनों के सदृश्य है। उपरोक्त सभी प्रकार के बर्तन प्राग–हड़पा कालीन है, जो अपने दूरस्थ स्थित स्थलों से सम्पर्क के घोतक भी है सुरकोटडा में प्राग हड़प्पा कालीन परम्परा की भांति पत्थरों के मजबूत आधार पर मिट्टी की सुरक्षा दीवार खड़ी की गयी (जोशी 1972)।

2.2.7 राजस्थान

अमलानन्द घोष ने 1952 में उत्तरी राजस्थान में घग्घर नदी के किनारे 25 हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे, उनमें से कुछ स्थल ऐसे थे जिन पर हड़प्पा संस्कृति से निम्न प्रकार के बर्तन थे, उदाहरणार्थ – सोठी, इस सोठी संस्कृति की तरह के बर्तन कालीबंगा में उत्खनन के दौरान प्रथम चरण अर्थात प्राग–हड़प्पा कालीन जमाव में प्राप्त हुए, कालीबंगा, जो घग्घर नदी के तट पर हनुमानगढ़ जिले में स्थित है, में 1961 से 1969 तक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा उत्खनन कराया गया यहां तीन टीले है। जमाव के प्रथम (निचले) चरण में प्राग हड़प्पा संस्कृति व द्वितीय (ऊपरी) चरण में हड़प्पा संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए है प्राग हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने 30×20×10 सेमी. की ईंटों को प्रयोग करके 1.9 मी. मोटी सुरक्षा दीवार बनाई, जिसे कालान्तर में हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने 4 मी. चौड़ी बना दिया। सुरक्षा दीवार के भीतर मिट्टी के ईंटों के पक्के मकान बनाये गये, कदाचित उन्होंने पकाई हुई ईंटों का प्रयोग भी किया है। प्राग हड़प्पा के लोग तन्दूरी भट्टी का इस्तेमाल कर रहे थे। उत्खनन में तीसरे टीले में एक प्राग हड़प्पा कालीन जूता हुआ खेत प्राप्त हुआ कालीबंगा के उत्खनन कर्ता ब्रजवासी लाल तथा वी.के. थापर ने प्राग हड़प्पा कालीन बर्तनों को छः विभिन्न प्रकारों में बांटा है। कालीबंगा में विशिष्ट बर्तनों के अतिरिक्त वालसीडनी व अगेट के ब्लेड, स्टीएटाइट, सैल व कालेलियन के मोती खिलोना बैलगाड़ी, पहिये, बैल, तांबे की कुल्हाडियाँ तथा पत्थर के सिल बट्टे, पाये गये। रेडियो कार्बन विधि से कालीबंगा में प्राग हड़प्पा संस्कृति की तिथि ई.पू. 2450 से 2300 पायी गयी है।

2.2.8 हरियाणा पंजाब

हरियाणा पंजाब में रोपड़, सिसवाल, राखीगढी, कोटला निहग खान, कटपालन, बाड़ा आदि अनेक हड़प्पा व प्राग हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे जा चुके है। बाणवली, जो फतेहाबाद से 15 कि.मी. उ.प्र. में स्थित है, में उत्खनन के पश्चात् प्रथम चरण में प्राग हड़प्पा के अवशेष तथा कालीबंगा सदृश ही बर्तन पाये गये हैं। मकानों के निर्माण में 1:2:3 की नाप की ईटें लगाई गयी। सोने के मोती अर्धकीमती प्रस्तर, मिट्टी की चुड़ियाँ, सैल व फेयांस की वस्तुएं पायी गयी है।

सिसवाल

सिसवाल हरियाणा के हिसार जिले में स्थित एक महत्वपूर्ण स्थल है। सिसवाल की भांति सांस्कृतिक अवशेषों वाले हरियाणा में 16 स्थल पाये गये है। इसे सिसवाल संस्कृति भी कहा जाता है । इस संस्कृति के प्रथम चरण में कालीबंगा सदृश प्राग हड़प्पा कालेनि सभी छः प्रकार के बर्तन पाये जाते है, परन्तु दूसरे चरण में प्रथम चरण के सभी प्रकारों के अतिरिक्त कुछ हड़प्पा संस्कृति के विशिष्ट बर्तन–गाबलेट, डिस, छिद्रित जार भी पाये गये है । उत्खननकर्ता सूरजभान इस दूसरे चरण को प्राग–हड़प्पा व हड़प्पा के बीच संक्रमण मानते है, बाड़ा में बर्तनों पर 18 प्रकार के उत्कीर्ण अलंकरण है जो कालीबंगन आमरी, अजीत, हड़प्पा, कोटदीजी, मीतास्थल, मुण्डीगाक, परियानो पुण्डई, रोपर सियाह, दम्ब, सिसवाल, तो गाऊ व क्वेटा जैसे प्राग हड़प्पा के बर्तनों के समान है । ऐसा प्रतीत होता है कि प्राग हड़प्पा संस्कृतियों का एक दूसरे के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क था । इनके सांस्कृतिक अवशेषों में सातत्य दृष्टिगोचर होता है ।

उपरोक्त विवरण के आधार पर इन प्राग हड़प्पा कालीन संस्कृतियों को स्पष्टतया दो भागों में बांटा जा सकता है :– (2) वे संस्कृतियां जो अर्धयायावरी या नवाष्यीय संस्कृति की अवस्था में थी, (2) वो ग्रामीण संस्कृतियां जिन्होंने पशुपालन व खेती के अलावा ताँबा भी खोज लिया तथा दूसरी संस्कृतियों से सांस्कृतिक व व्यापारिक सम्पर्क जोड़ लिये तथा अपनी बसासतों (गांवों) में कदाचित सुरक्षा दीवार का निर्माण भी किया । प्रो. डी. पी. अग्रवाल इन संस्कृतियों की तिथि रेडियो कार्बन विधि के आधार पर ई. पू. 2600 से 2400 तय करते है, यदपि नवीनतम खोजों के आधार पर अब अनेक स्थलों की तिथियां तृतीय सहस्त्राब्दी के आसपास पायी जा रही है ।

2.3 हड़पा संस्कृति

आजादी व भारत के विभाजन के पश्चात् इस संस्कृति के केवल दो स्थलों, गुजरात में रंगपुर तथा हरियाणा में रोपड़ (कोटला निहंग खान) को छोडकर बाकी सारे स्थल पाकिस्तान में चले गये थे, परन्तु इन पचास वर्षो में उत्तर पश्चिमी भारत में व्यापक पुरातात्विक सर्वेक्षणों से विशाल संख्या में पुरातात्विक स्थल प्राप्त हुए है । 1952 में अमलानन्द घोष ने बीकानेर में घग्घर के किनारे सर्वेक्षण करके 25 नवीन हड़प्पा संस्कृति के स्थल खोजे । इसके पश्चात् पिछले 40 वर्षो में राजस्थान व गुजरात प्रदेशों ' के पुरातत्व विभागों, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, बडौदा, कुरुक्षेत्र अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय व डेक्कन कालेज, जैसे विश्व विद्यालयों के अलावा अमेरिका व फ्रान्स की संस्थाओं द्वारा हड़प्पा संस्कृति के अनेक स्थल खोजे गये । सरहद पार पाकिस्तान के पुरातत्व विभाग, पेशावर विश्वविद्यालय व पेन्सिलेवेनियां विश्वविद्यालय, अमेरिका के वैज्ञानिकों द्वारा अनेक स्थलों को खोजा । 1980 में मुगन ने सूखी हाकरा नदी के क्षेत्र में चोलिस्तान मरूस्थल से 350 क्लच संस्कृति के स्थल खोजे ।

यह संस्कृति उत्तर में तक्षशिला के निकट सराय खोला से लेकर दक्षिण में तापी नदी की घाटी तक, पूर्व में आलमगीरपुर मेरठ के, निकट हिण्डन, यमुना की सहायक नदी, के किनारे स्थित तथा से पश्चिम में सुल्कगेनडोर मकरान समुद्र तट पर (ईराक व ईरान की सीमाओं पर)

तक फैली है । इसकी सीमा उ. से द. लगभग 1100 कि मी. तथा पूर्व से पश्चिम 1600 कि मी. है। इतने विशाल क्षेत्र में दुनियां की कोई भी प्राचीन सभ्यता नहीं फैली, इस विशाल भू–भौगोलिक क्षेत्र में हड़प्पा, मोहेजोदारो, गनवेरियावाला (पाकिस्तान), राखीगढ़ी, धौलावीरा, और कालीबंगा (भारत) जैसे हड़प्पा संस्कृति के विशाल शहर पाये गये है। उत्तरी अफगानिस्तान में सोरतुगाई व ओमान में रास–एल–जुनेज जैसी वसासतें (टीले) भारतीय उपमहाद्वीप की सीमाओं के बाहर नजर आते है, इस शहरी संस्कृति का आधार खेती, पशुपालन, उद्योग व व्यापार (समुद्री व जमीनी) ये। पिछले 77 वर्षो में इस महान सिंधु सभ्यता के अनेक स्थलों का पुरातात्विक उत्खनन हुआ है, उनमें कुछ महत्वपूर्ण स्थल निम्न प्रकार है. काली बंगा (थापर 1975, लाल 1978) राजस्थान में, सिसवाल (सूरज भान 1972, मित्ताथल (सूरज भान 1975), बाणावली विष्ट 1982, हरियाणा में रोपड़ (शर्मा 1989 अ) बाड़ा (शर्मा 1989 ब) पंजाब में, आलमगीर पुर (शर्मा 1989 स) हुलास (दीक्षित 1981), उ.प्र., रंगपुर (राव 1963), लोथल (राव 1979, 1985), रोजडी (पोसेल व रावल 1989), नागेश्वर (भान व केनीयर 1984), नागवाडा (हेगड़े आदि 1980), सुरकोटडा (जोशी 1973), देशालपुर (सौन्दरा राजन 1989), धोलावीरा (विष्ट 1990), कुन्तासी (धवलीकर 1991), पादरी (शिन्दे 1991) गुजरात में हड़प्पा (डेल्स व केनीयर 1991), मौहेनजो–दारो, रेहमान ढेरी (दुर्रानी 1986), सराई खोला (हालिम 1971,72), जालिलपुर (मुगल 1974), गुमला (दानी 1971), गाजी शाह (फ्ताम 1991), अल्लाहदीनो (फेयर सर्विस 1982), बालाकोट (डेल्स 1979), कोटदीजी (खान 1964, 1965) आमरी (कसाल 1964), नौसारो (जेरिग 1988), सोत्काकोह, सुत्कगेनडौर (डेल्स 1962) पाकिस्तान में, सोरतगाई (फ़ान्क्रफर्ट 1989) अफगानिस्तान में, रास–एल–जुनेल (तोसी 1982) ओमान में।

इन खुदाइयों से हड़प्पा सभ्यता के भू–भौगोलिक विस्तार, बसासत का तरीका, आर्थिक व्यवस्था, विदेशी व्यापार, सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक संगठनों, उदगम,पतन व कालक्रम इत्यादि के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है। हड़प्पा संस्कृति के कुल स्थलों के सम्बन्ध में थोड़ा विवाद है चूंकि कई स्थलों संस्कृतियों, यथा झुककर, गणेश्वर गेरूवे रंग के मृणमाण्ड (OCP) व सिमिट्री सच इत्यादि को उत्तर हड़प्पा या शहरीकरण के पश्चात की अवस्था में रखा गया है। प्रो. ग्रीगोरी पोसेल के अनुसार इस सभ्यता की कुल 2500 स्थल है, जबकि प्रो. विरेन्द्र नाथ मिश्र के अनुसार 1500 स्थल है। इनमें से पोसेल के अनुसार 500 (मिश्रा के अनुसार 250) अकेले गुजरात में, राजस्थान, पंजाब व हरियाणा में 550 स्थल तथा पश्चिमी उ.प्र. में 150 स्थल ज्ञात है। पाकिस्तान में हाकरा, जो उत्तरी राजस्थान में घग्घर कही जाती है, के किनारे 350 स्थल ज्ञात है, उससे ये स्पष्ट होता है कि हड़प्पा संस्कृति के अधिकांश स्थल ऋग्वेदिक सरस्वती (वर्तमान घग्घर) के किनारे है, जबकि सिन्धु घाटी व बलूचिस्तान में केवल 100 स्थल ज्ञात हुए है। इसी कारण कुछ विद्वानों ने इसे सिन्धु–सरस्वती सभ्यता कहना भी प्रारम्भ किया है। इस सभ्यता के विशाल स्थलों में मोहनजो–दरो 200 हेक्टेयर, हड़प्पा 150 हेक्टेयर, गनवेरियावाला व राखीग्श्री, प्रत्येक 80 हेक्टेयर, धौलावीरा 50

हेक्टेयर, कालीबंगा 10 हेक्टयर लोथल, आमरी, चन्हूदड़ो, रोजडी जैसे स्थल 10 से .5 हेक्टेयर के बीच तथा बांकी स्थल 1 से 5 हेक्टेयर तक के क्षेत्रफल वाले है। कुछ विद्वानों की ये धारणा है कि इस सिन्धु या हड़प्पा सभ्यता को मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, कालीबंगा, धौलावीरा, राखीगढी व गनवेरियावाला राजधानियां थी।

2.3.1 नगर विन्यास

सिन्धु या हड़प्पा सभ्यता में नगरों की अपेक्षा ग्रामीण बस्तियों के अवशेष अधिक है। उपरोक्त उत्खननों से इनकी सुनियोजित नगर व्यवस्था के अवशेष प्राप्त हुए है। इनके नगरों की सरंचना का अवलोकन करके ऐसा प्रतीत होता है कि नगरों का नक्शा बनाकर पूर्ण योजनाबद्ध तरीके से नगर के भवन बनाये गये होंगे। इनके शहरों की सड़कें प्राय एक–दूसरे को समकोण पर काटती है तथा नगर को आयताकार खण्डों, में विभाजित करती है । ऐसे उदाहरण लोथल, कालीबंगा, हड़प्पा, धौलावीरा, मोहनजोदड़ो आदि शहरों में देखे जा सकते है, मोहनजोदड़ो की सबसे चौड़ी सड़क 10 मी॰ है, जिसे पुराविद राजपथ कहते है । सड़क के दोनों और भवनों का निर्माण किया गया', सिन्धु सभ्यता के नगरों में एक विशेष बात ये है कि अनेक जगहों पर इनके दो टीले साथ–साथ पाये गये है। इनमें से ऊँचे टीले पर गढ़ी या सुरक्षा दीवार युक्त बसाबट पायी गयी जबकि निचले टीले की बसावट कदाचित बगैर सुरक्षा दीवार वाली भी है । सम्भवत इसमें किसान व काश्तकार रहते होंगे ।

इनके भवन कई प्रकार के है, जिनमें से कुछ विशाल भवन प्रशासकों या धनाढ्य लोगों के रहे होंगे तथा साधारण घर, दुकानें, सार्वजनिक भवन सामान्य जनता के । चौकोर मकान के मध्य में आंगन होता था, प्रत्येक घर में स्नानागार, गन्दे पानी की निकासी हेतु नालियों का प्रबन्ध, तथा कई घरों में कुएं भी पाये गये । बसावट में लगभग 2 मी. चौड़ी सीधी गलियां बनाई गई। हड़प्पा सभ्यता के नगरवासी अपने भवनों को अलंकृत कर सजाने के शौकीन प्रतीत नहीं होते, सम्भवत: उनके लिये स्थापत्य से उपयोगिता अधिक महत्वपूर्ण थी । हड़प्पा सभ्यता में न तो सुमेर की भांति विशाल मन्दिरों के अवशेष मिले है और न ही मिश्र जैसी भव्य व प्रभावशाली कब्रें, सामान्यतया ईंटों में भी चित्ताकर्षक कारीगरी नहीं है, परन्तु कालीबंगा में एक मकान का फर्श अलंकृत ईंटों का बना है। भवन निर्माण हेतु मिट्टी की ईंटों, पकाई हुई ईंटों, तराशे पत्थरों, व लकड़ी का प्रयोग किया गया, दुर्भाग्य से अब काष्ठ के अवशेष नहीं बचे है । हड़प्पा व मोहेजो–दारो में पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया है । इनकी ईंटों से नाप अलग–अलग आकार प्रकार की है परन्तु नाप सामान्यतया 1:2:4 में पायी जाती है तथा 24.13×11.05×508 सेमी.। ये लोग चौकोर भवन या गोल कुओं को बनाने हेतु समकोणाकार, फन्नीदार ईंटों का प्रयोग करते थे। मकानों में फर्श तीन तरह से बनाये गये मिट्टी की कुटाई करके कच्ची ईंटें बिछाकर या पक्की लगाकर 1 मोहेजोदारो के अधिकांश घरों के स्नानागार गली की ओर पाये गये ताकि पानी का निकास आसानी से हो सके। स्नानागारों को बनाने के लिये पक्की ईंटों का ही प्रयोग किया गया ताकि पानी का रिसाव ना हो। कदाचित कमरों के एक कोने पर भी स्नानागार मिलता है । स्नान के पश्चात् लोग झांवे से शरीर साफ करते होंगे, जैसा कि

उत्खनन में अनेक झांवे पाये गये। मकान की दीवारों में भी पलस्तर पाया गया है, सम्भवत: लोग अक्सर घर की पुताई करते होंगे, मकानों व सार्वजनिक भवनों के निर्माण में साहुल की मदद ली गयी।

मोहनजोदड़ो के विशाल स्नानागार के निर्माण में गिरिपुष्पक का प्रयोग किया गया, जबकि नालियों में पानी के रिसाव को रोकने हेतु चूने व जिप्सम के मिश्रण का प्रयोग किया गया। हड़प्पा व मोहनजोदारों के अवशेषों से ऐसी सम्भावना व्यक्त की गयी है कि इनके दुमंजिले मकान थे। कुछ मकान ऐसे भी है जिनमें प्रवेश हेतु रास्ता नहीं है। सम्भवत: ये गोदाम के लिये प्रयोग होते होंगे । मकानों में सामान्य दरवाजों की चौड़ाई 1 मी है परन्तु कदाचित 2.35 मी. की पायी गयी। मकानों में खिड़कियां भी पायी गयी है, अलावास्टर पत्थर की कुछ खण्डित जालियां भी प्राप्त हुई। सम्भवत मकान की छत समतल होती थी ।

हड़प्पा सभ्यता के लोगों ने मकानों में स्तम्भों का प्रयोग कम किया, इनके अल्प मात्रा में चतुर्भजाकार, वर्गाकार या गोलाकार स्तम्भ पाये गये है । निर्माण में तोडा मेहराव की प्रयोग मिलता है, पानी के निकास हेतु सुन्दर नालियों की व्यवस्था हड़प्पा सभ्यता में ही देखने को मिलती है, बड़ी नालीयों को पत्थर या ईट से ढका गया, घरों व शौचगृह की निकास नालियां एक बड़ी नाली में मिलती थी तथा सभी घरों की ये बड़ी नालियां एक बड़ी सार्वजनिक नाली में जाकर मिलती थी। कदाचित मकानों में पानी के निकास हेतु मिट्टी के पाइप भी लगाये गये। पक्की मिट्टी के ये नाले चुनहू दडो में विशेष रूप से मिलते है। ये पाइप एक को दूसरे के अन्दर फंसाकर परनाला तैयार किया जाता था। कालीबंगा में लकड़ी की नाली के प्रमाण भी मिले है, जिसे पेड के तने को खोखला करके बनाया गया, विशाल स्नानागार की नाली में टोडा मेहराव बनाया गया। बहती नालियों में बीच–2 में गड्ढे भी बनाये जाते थे ताकि कूड़ा करकट इकट्ठा हो जाय। लोथल की एक नाली में लच्छी की जाली का प्रयोग अद्वितीय उदाहरण है। कई घरों में नाली सार्वजनिक नाली में न मिलकर एक गहरे गड्ढे में जातो है जिसमें विशाल घड़ा रखा जाता था। घड़े के पेंदे में छेद किया जाता था ताकि पानी रिसकर जमीन में चला जाय तथा बाद में कचरे की सफाई कर दी जाती थी)

लोगों ने वृत्ताकार या अण्डाकार कुएं बनाये। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, धौलावीरा के अंतिम चरण में जब सभ्यता का पतन हो रहा था कुएं नहीं बनाये गये। अधिकांश कुएं 91मी .61 मी. या 2.13 मी. व्यास वाले है। कुएं के बाहर जगत व नाली हा निर्माण किया जाता था। धौलावीरा में कुएं की जगत के किनारे बार–बार पानी निकालने के कारण पत्थर में रस्सी के निशान अब भी देखे जा सकते है। यहां कुएं से पानी नाली द्वारा एक बड़े टैंक में पहुंचाया जाता था।

हड़प्पा :

रावी नदी के तट पर स्थित है। यह उ.द. 420 मी., तथा पूर्व–पश्चिम 196 मी. भा इसकी ऊँचाई 15 मी. है। यहां दो टीले है। गढ़ी के क्षेत्र में सबसे नीचे प्राग हड़प्पा के अवशेष है। कालान्तर में हड़प्पा संस्कृति के रचयिताओं ने किले का निर्माण किक, किले के भीतर ईंटों के चबूतरे के ऊपर भवन बनाये गये। गढ़ी का प्रवेश उत्तर की ओर से बनाया गया गढ़ी के

बाहर उत्तर में कुछ भवनों के अवशेष है, सम्भवत: ये श्रमिकों के मकान होंगे। इनके निकट 16 भट्टियां प्राप्त हुई। विद्वानों की मान्यता है कि लोग यहां तांबा गलाते होगें। इनके उत्तर में 18 वृत्ताकार चबूतरे है, प्रत्येक के मध्य में गड्ढा है। सम्भवत इनमें अनाज कूटा जाता होगा। इनसे कुछ दूरी पर एक विशाल स्नानागार है। इस स्नानागार के 12 खण्ड है, जो 2745 वर्ग मी. में बने है. ये मोहनजोदड़ो के समान प्रतीत होता है। मोहनजोदड़ो : मोहनजोदड़ो सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है, इसे 1922 में राखलदास बनर्जी ने खोजा था। 1922–1930 तक बनर्जी, मैके, काशीनाथ दीक्षित, हारगीब्ज, दयाराम साहनी तथा माधोस्वरूप वत्स ने उत्खनन करवाया तथा निर्माण के नौ चरण ढूंढे 1950 में ह्वीलर ने पानी के तीन मीटर नीचे तक खुदाई करवाई 1964 व 66 में डेल्स ने भी उत्खनन किया, परन्तु वो भी सतह तक नहीं जा सके। इस टीले की अधिकतम ऊँचाई 12 .19 है। यहां गढ़ी के दक्षिण पूर्वी किनारे पर एक विशाल बुर्ज (9.15×671मी.) प्राप्त हुआ है। सत्' तरह का एक अन्य बुर्ज पश्चिमी क्षेत्र में भी मिला है। मोहनजोदड़ो की सबसे – महत्वपूर्ण इमारत स्नानागार (54.86×32.91 मी.) है। स्नानागार के चारों और कुछ अन्य प्लेटफार्म बना है। तालाब मे पहुंचने के लिये 2.43 मी. चौड़ी सीढ़ियां बनायी गई' तालाब के तीन और बरामदे तथा उनके पीछे कमरे व गलियां थी, तालाब के निकट स्थित कुआँ इसके लिये पानी का श्रोत था। स्नानागार के उत्तर में दो पंक्तियों में 8 स्नान कक्ष बने है, ये स्नान क़क्ष दुमंजिले है । मैके का सुझाव है कि इनमें पुजारी रहते थे ।

स्नानागार के उ. पू. में एक अन्य विशाल इमारत है जिसकी नाप 70.1×23.77 मी. है, इनमें 10 मी. वर्गाकार खुला आंगन था, जिसमें तीन बरामदे, बैठक, व कमरे बने थे । मैके इसे पुरोहितों का आवास मानते है । मोहनजोदड़ों में ये टीले के ऊपर कुषाणकालीन स्तुप है । गढ़ी के दक्षिण में 27.43 मी. वर्गाकार प्रशाल है जो 20 स्तम्भों पर आधारित था । गढ़ी में स्नानागार, स्नानागार, स्तम्भयुक्त भवन तथा बुर्ज के अलावा अनेक भवनों के अवशेष है।

मोहनजोदड़ो के निचले नगर में, दूसरे हड़प्पा संस्कृति के शहरों की तरह समकोण पर काटती सड़कें है जो शहर को कई खण्डों में विभक्त करती है। संभवत: इसमें 12 खण्ड रहे होंगे। यह निचला नगर गढ़ी के पूर्व में स्थित है ।

निचले नगर में मकानों के अलावा एक 76.2 मी. लम्बी एक इमारत के अवरोध प्राप्त हुए है। संभवत: यह एक धनी नागरिक या प्रशासक का भवन हो सकता है।

कालीबंगा :

हड़प्पा व मोहनजोदड़ो की तरह कुछ विद्वान कालीबंगा, जो घग्घर नदी के तट पर, उत्तरी राजस्थान में स्थित है, को तीसरी राजधानी मानते है । कालीबंगा का उत्खनन 1961 – 1969 के बीच वृजवासीलाल तथा वी के. थापर द्वारा किया गया । कालीबंगा में भी तीन टीले है तथा अधिकतम ऊँचाई 12 मी. है, हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने यहां भी गढ़ी व निचला नगर बसाया व दोनों में सुरक्षा दीवार बनाई । गढ़ी की सुरक्षा दीवार 3 से 7 मी. मोटी बुर्ज युक्त है । गढ़ी में दक्षिणी भाग में द 5 मिट्टी के चबूतरे बने हुए ये, एक चबूतरे पर कुआं, अग्नि स्थान

व पक्की ईंटों का आयताकार गर्त मिला, जिसमें पशुओं की हड्डियां थी, दूसरे पर सात अग्नि वेदिकायें एक कतार में थी, गढ़ी के उत्तरी भाग में प्रशासकों के निवास भवन थे । निचले नगर की सड़कें उ.द. में बनी है इन्हें समकोण पर काटती सड़कें पू.प. में बनायी गयी । घरों से पानी के निकास हेतु सुन्दर नालियां बनायी गयी है।

धौलावीरा :

धौलावीरा कच्छ की रण में खादिर नामक द्वीप पर गुजरात प्रदेश में पाकिस्तानी सीमा से 45 कि मी. दूरी पर स्थित है । इसकी खोज 1967–68 में जे.पी. जोशी जी ने की थी । इसका उत्खनन पिछले 7 वर्षों से रवीन्द्रसिंह बिष्ट द्वारा किया जा रहा है । धौलावीरा की खोज ने हड़प्पा संस्कृति के अध्ययन को एक नवीन आयाम दे दिया है, जैसा कि यहां गढ़ी व निचला नगर न होकर, सबसे ऊपर पढ़ा उससे कुछ नीची जगह पर मध्य शहर तथा उसस नीचे निचला शहर है । गढ़ी व मध्य शहर में पत्थरों की मजबूत सुरक्षा दीवार के अतिरिक्त सम्पूर्ण शहर में भी सुरक्षा दीवार बनाई गई है । यह टीला लगभग 12 मी. ऊँचा है, तथा यहां अवशेषों को 7 चरणों मे बाटा गया है, प्रथम दो चरण (सबसे नीचे) प्रारम्भिक हड़प्पा संस्कृति के है, चौथा चरण प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति का है जबकि तीसरा चरण संक्रमण का है । पांचवे चरण के उत्तर काल में सार्वजनिक व्यवस्थाओं में कमी नजर आती है, सम्भवत: पतन प्रारम्भ हो गया था।' छटा चरण पतन का प्रतिनिधित्व करता है । कुछ समय के पश्चात् 7वें चरण में लोगों ने पुन: बसाबट बनाई जिसे उत्तर हड़पा कालीन कहा जाता है, धौलावीरा में निर्माण हेतु स्थानीय पत्थरों की खूब प्रयोग किया गया । यहां बसासत के चारों ओर शवागार पाये गये है । यहां बरसात के पानी को एकत्र करने के लिये टैंक बनाया गया तथा नदी पर बांध भी बनाया गया । गढ़ी के अन्दर सुन्दर कुआं प्राप्त हुआ है । उत्खनन में अभिलेख व मूर्तियां भी प्राप्त हुई । यह स्थल 50 हेक्टेयर क्षेत्र में फैला हुआ है ।

2.3.2 समाज

हड़प्पा संस्तुति का समाज निश्चित रूप से वर्गों में बंटा हुआ था, इनमें से आर्थिक व सामाजिक आधार पर वर्गीकरण उनके सांस्कृतिक अवशेषों से स्पष्ट नजर आते है, शासक हमेशा गढ़ी के अन्दर रहते होंगे । जो कि सामान्यतया निचले नगर के पश्चिम में ऊँचे स्थान पर बनाया गया। कभी–कभी इनके भवनों के साथ–साथ अन्नागार, व स्नानागार भी बनाये गये । निचले नगर में किसान, काश्तकार, व्यापारी, राज्य कर्मचारी आदि रहते होंगे । लोग सम्भवत: मातृदेवी व प्रकृति की पूजा करते थे जैसा कि बड़ी संख्या मातृदेवी की मृण मूर्तियां व प्रकृति पूजा सदृश चित्र व मुहरोठये मिले है । कुछ विद्वानों की धारणा है कि शिव को पाशुपत रूप में पूजा जाता था । कालीबंगा में अग्नि वेदिकायें भी पायी गयी है जिनमें पशुओं की अस्थियों के अवशेष है । सेलखड़ी की एक मूर्ति भी प्राप्त हुई है ।

2.3.3 उद्गम

इस संस्कृति की खोज के पश्चात् लम्बे समय तक –इस का उद्गम रहस्यमयी जैसा बना रहा। हड़प्पा व मोहनजोदड़ो जैसे शहर प्रारम्भ से ही पूर्णतया विकसित नजर आते थे । ऐसी धारणा थी कि हड़पा संस्कृति के लोगों ने इस महान सभ्यता की रचना की प्रेरणा मेसोपोटामिया से प्राप्त की होगी जैसा कि कालक्रम के दृष्टिकोण से मेसोपोटामिया अधिक प्राचीन है, परन्तु इन दोनों संस्कृतियों में ने तो भवन निर्माण, न उद्योग ना ही मृद्भाण्ड तकनीक में कोई समानता है । अत ये स्पष्ट हो गया कि हड़पा संस्कृति मेसोपोटामिया से प्रेरणा लेकर विकसित नही हुई । हड़पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, कोटदीजी, बालिलपुर, सराइखोला, आमरी आदि अनेक स्थलों पर उत्खनन से यह स्पष्ट हुआ कि हड़प्पा व प्राग हड़प्पा संस्कृतियों से भी पहले इन स्थलों पर लोग निवास कर रहे थे । इन विभिन्न प्राग–हड़प्पा संस्कृतियों ने बसाबटों में सुरक्षा दीवार बनायी, तांबा खोज लिया तथा दूसरे स्थलों के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिये थे । हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने इन्हीं परम्पराओं को आगे बढ़ाया तथा शहरीकरण को जन्म दिया । इन सबका आधार कृषि थी जो मेहरगढ़, बलूचिस्तान में कम से कम छठी सहस्राब्दी ई. पू. में प्रारम्भ हो चुकी थी, कई स्थलों पर सांस्कृतिक जमाव के प्रारम्भिक चरण में नवाषमीय अवशेष मिलते है तथा क्रमश ऊपरी स्तरों में विकसित होती ग्रामीण व्यवस्था देखी जा सकती है । अत संक्षेप में ये कहा जा सकता है–हड़प्पा संस्कृति निश्चित रूप से प्राग–हड़प्पा कालीन संस्कृतियों से विकसित हुई । यह पूर्णतया भारतीय उप–महाद्वीप में ही उदगमित् हुई है । इसे विकसित होने में किसी विदेशी संस्कृति ने योगदान नहीं किया । वर्तमान में अनेक विद्वान हड़प्पा संस्कृति को ऋग्वैदिक मानने लगे है । क्योंकि ऋग्वेद में प्रजा, राजा, समाज व अर्थव्यवस्था की जैसी तस्वीर मिलती है जो हड़प्पा संस्कृति से मेल खाती है।

2.4 अर्थव्यवस्था एवं व्यापार

ग्रामीण हड़प्पा संस्कृति के लोगों के लिये शहरों का निर्माण तभी सम्भव हुआ जब उनके गांवों में आवश्यकता से अधिक अनाज व पशुधन था । भोजन की यही अधिक मात्रा व्यापार व नवीन उद्योगों को जन्म देती है, इस संस्कृति के शहरों की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से खेती पर टिकी हुई थी । अनेक उत्खनित स्थलों के अध्ययन से अब यह स्पष्ट हुआ है कि लोगों ने गेहूं व जौ खूब उगाया जबकि गुजरात में ज्वार बाजरा व रागी उगाया गया । घग्घर नदी में सिंचाई के साधन भी बनाये गये, इनके पालतू पशुओं में गाय, बैल, भेड़ व बकरी प्रमुख है।

इस संस्कृति के अनेक स्थल उद्योग व व्यापार के कारण ही अस्तित्व में आये । कुछ स्थलों पर विशेष प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करके व्यापार किया गया तथा – गुजरात में नागवाड़ा व सिन्ध में चन्हूदड़ों में पत्थर के मोती बनाये गये, गुजरात में ही नागेश्वर व नागवाड़ा तथा बगासरा में शंख की वस्तुएं चूड़ी, मोती इत्यादि सामग्री का निर्माण हुआ । राजस्थान के खेतड़ी से गणेश्वर में तांबे व कांसे के औजारों का उत्पादन किया गया, इन

वस्तुओं का निर्माण करके आवश्यकतानुसार दूसरे स्थलों पर भेजा जाता होगा । यह उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण हड़प्पा संस्कृति के क्षेत्र में स्थलों पर बर्तन नाप, तौल के बांट, ईटें, मोती, भवन निर्माण कला, मुहरें आदि लगभग एक जैसे है, यद्यपि कुछ क्षेत्रीय विशिष्टता भी दृष्टिगोचर होती है ।, इसी कारण पोसेल सौराष्ट्र में इन बर्तनों को सोरठ हड़प्पा के बर्तन तथा सिन्ध में सिन्धी हड़प्पा के बर्तन कहते है संस्कृति के उत्तरी चरण में जब शहरीकरण का पतन हो गया तो सौराष्ट्र में अधिकांश स्थलों के लोग घुमन्त पशुचारक हो गये।

भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत व रोम के बीच व्यापार खूब फल–फूल रहा था । इससे पूर्व केवल हड़प्पा संस्कृति के लोग ही भारत के अन्दर व बाहर पश्चिम एशिया के क्षेत्रों तक खूब व्यापार कर सके । मेसोपोटामिया के साथ सिन्धु संस्कृति के व्यापारिक संबंध अब पुष्ट हो चुके है । मेसोपोटामिया में हड़प्पा की मुहरें कार्नेलियन के मोती व दूसरी सामग्री केवल व्यापार द्वारा ही इतनी दूर पहुंची– होगी । क्यूनीफार्म अभिलेखों के आधार पर दित्युन, मगन व मेलुहा तत्कालीन समय में मेसोपोटामिया के साथ व्यापार करते थे । कई पुरातत्वविद मेलुहा को सिन्धु सभ्यता से जोड़ते है, विशेषकर समुद्री क्षेत्र से जहां से व्यापार किया गया होगा । दित्युन को ईरान की खाड़ी में स्थित बहरीन बताते है । मगन को ईरान का दक्षिण पूर्वी हिस्सा कहा जाता है । लोथल (गुजरात) जहां से गोदी प्राप्त हुई, में एक विदेशी मुहर भी प्राप्त हुई है, हड़प्पा संस्कृति के लोगों ने न केवल अपने राज्य के भीतर यायावती खानाबदोश लोगों से सम्पर्क करके उनकी सेवाओं (शिकार आदि) का लाभ उठाया बल्कि मिश्र, मेसोपोटामिया, अफगानिस्तान व ईरान तक व्यापार भी किया । व्यापार की वस्तुओं में कार्नेलियन, हाथी दांत की सामग्री, नीला रंग, कपड़ा, स्टीएटाइट, लकड़ी, मिट्टी के बर्तन प्रमुख है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि मेसोपोटामिया से अनाज, कपड़ा, ऊन, चमड़ा, चांदी जैसी वस्तुएं मंगाई गई ।

2.5 पतन

उत्तर हड़प्पा काल में जब संस्कृति पतन की ओर उन्मुख थी, केन्द्रीय शक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं था । हड़प्पा संस्कृति की विशिष्ट वस्तुएं माप के बांट, लेख विशिष्ट प्रकार के बर्तन, मुहरें, आदि सामग्री स्थलों पर नहीं मिलती, हड़प्पा संस्कृति के नगरों को व्यवस्था समाप्त प्राय हो. गयी, लोगों ने सड़कों पर मकान बनाने प्रारम्भ कर दिये । पानी के निकास की व्यवस्था भी चरमरा गई । कई क्षेत्रों में नवीन क्षेत्रीय मृदभाण परम्परा अस्तित्व में आ गयी। सुरक्षा दीवार बनाना अब असंभव हो गया ।

शनै :शनै : द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य के आसपास यह महान संस्कृति लुप्त प्राय: हो गयी । गुजरात में ऐसे प्रमाण मिले है कि इस अन्तिम चरण के लोग यायावरी पशुचारक बन गये । इस संस्कृति के पतन के निम्न कारण थे :–

(1) मौसम मे परिवर्तन:

औरेल स्टाइन व मार्शल ने सिन्ध व बलूचिस्तान में, अध्ययन करके सुझाया कि इस क्षेत्र में हड़प्पा संस्कृति के दौरान कालान्तर की अपेक्षा अच्छी वर्षा होती थी । इस परिकल्पना का समर्थन पिगट, ह्वीलर ने भी किया, साठ के – में कुछ पुराविदों ने इस परिकल्पना को

चुनौती दी तथा कहा – 'यह आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण हड़प्पा सभ्यता के दौरान मौसम गीला रहा हो, गुरदीप सिंह ने 1971 मे राजस्थान के खारे पानी की झीलों के अध्ययन करके सुझाव दिया कि अधिक वर्षा के दौरान ' हड़प्पा संस्कृति फल– फूल रही थी परन्तु जब वर्षा कमाबन्द हो गयी तो संस्कृति का पतन प्रारंभ हो गया ।

(2) विदेशी आक्रमण :

हवीलर ने 1947 व 1966 व 1968 में सुझाव दिया कि ऋग्वेद में आर्यों द्वारा सुरक्षा दीवार युक्त शहरों का विनाश का जो उल्लेख है उसे हड़प्पा संस्कृति से जोड़ा जा सकता है । इस तथ्य की पुष्टि हेतु उन्होंने मोहनजोदड़ो में मार–काट के उदाहरणों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया । पिगट व गार्डन ने भी इस सुझाव का पुरजोर समर्थन किया तथा पशियम एशिया व बलूचिस्तान में अनेक स्थलों पर आग लगाकर बस्तियों को उजाड़ने व हथियारों की खोज को आधार बनाया । डेल्स व रैका ने ह्वीलर की परिकल्पना को चुनौती देकर कहा है कि मोहनजोदड़ो के सारे कंकाल अन्तिम चरण के नहीं है, न ही आग के ऐसे उदाहरण है ।

(3) बाढ़ से विनाश:

हड़प्पा संस्कृति के कई शहर जो नदियों के किनारे बसे थे, बाढ़ से कई बार उजडकर पुन: बसे । मोहनजोदड़ो मे भी बाढ़ के निशान है । एम आर. साहनी ने इस सभ्यता के विनाश के लिये बाढ़ को जिम्मेदार बताया, परन्तु यह बात किसी भी स्थल पर सिद्ध नहीं हो पायी ।

(4) जलवायु का बिगड़ना:

मोहनजोदड़ो व दूसरे अनेक हड़प्पा संस्कृति के शहरों में उत्तर हड़प्पा में केन्द्रीय शक्ति के टूटने का आभास होता है । लोगों ने सड़कों व गलियों पर कब्जा करके भवनों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया । पानी के निकास व नालियों की व्यवस्था भी चरमरा गयी, निर्माण के लिये पुरानी ईट का पुन: प्रयोग किया जाने लगा । ऐसा प्रतीत होता कि क्षेत्रीय पर्यावरण का आवश्यकता से अधिक दोहन हो चुका था । मिट्टी में खारापन बढ़ चुका था, जंगलों की कमी हो चुकी थी। सम्भवत: वर्षा में भी कमी हो चुकी थी । इन कारणों से लोगों को मोहनजोदड़ो जैसे शहर को छोड़ना पड़ा! अधिकांश विद्वान इस कारण से सहमत है ।

(5) पानी के स्त्रोतों में बदलाव:

लैम्बिक ने 1967 में ये सुझाव दिया कि मोहनजोदड़ो जैसे शहर पर आपदा इसलिये आयी चूंकि सिन्धु नदी अपने मूल मार्ग से पूर्व की ओर खिसक गई, नदी का मार्ग बदलने से नगरवासियों के लिये पानी दुर्लभ हो गया । इसके अतिरिक्त पानी न होने के कारण जमीन से अनाज का उत्पादन बहुत कम हो गया । उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति की अधिक बसावट घग्घर–हाकरा पर थी न कि सिन्धु के किनारे । इस घग्घर हाकरा में हड़प्पा सभ्यता के समय सतलज व यमुना भी बहती थी । 1968 में रैका ने स्पष्ट किया कि यमुना नदी के मार्ग पूर्व ओर बदलने से शायद घग्घर में पानी की बहुत कमी हो गयी. शायद यही कारण था कि कालीबंगा जैसा शहर उजड़ गया । उत्तर हड़प्पा संस्कृति के लोग सतलज के ऊपरी मुहाने पर जा बसे चुंकी वहां पानी उपलब्ध था, यमुना नदी ने भी अनेक बार अपने मार्ग बदले, इसके

प्राचीन मार्गों पर हड़प्पा संस्कृति के स्थल पाये गये_ है! घग्घर–हाकरा के सूखने व हड़प्पा संस्कृति के उजड़ने का मुख्य कारण यही लगता है कि सतलज ने उत्तर हड़प्पा काल में सिन्धु में बहना प्रारम्भ कर दिया तथा यमुना पूर्व की ओर खिसक गयी, परिणाम स्वरूप घग्घर–हाकरा सूख गयी । उत्तर हड़प्पा कालीन संस्कृति के स्थलों में सांस्कृतिक अवशेषों की अत्यधिक कमी लोगों की गरीबी का प्रमाण भी है ।

2.6 कालक्रम तथा उपसंहार

पिछले 7 दशकों की खोजों के पश्चात इस संस्कृति के तीन चरणों की पहचान की गयी है, इनमें प्रथम प्राग या प्रारम्भिक हड़प्पा काल (ई. पू. 3000 से 2500) दूसरा विकसित या शहरी हड़प्पा संस्कृति (2500–1900 ई.पू.) तथा तीसरा व अन्तिम उत्तर या इलर हड़प्पा काल (1900– 1700 ई.पू.) यहां पर यह जानना आवश्यकीय है कि हड़प्पा संस्कृति सभी क्षेत्रों में एक साथ नहीं फैली, बलूचीस्तान, सिन्धु घाटी, घग्घर, कच्छ व सौराष्ट्र के हिस्सों में प्रारम्भिक व प्रौढ़ (विकसित) हड़प्पा के लोग एक साथ फैले, जबकि सतलज के ऊपरी भाग, शिवालिक की तलहटी, यमुना दोआब व सौराष्ट्र के अन्दरूनी भाग में उत्तर हड़प्पा काल में बसावटें बनी ।

इस संस्कृति के विकसित हड़प्पा शहरों यथा हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, धौलाबीरा आदि से बर्तनों, मुहरों, पत्थर आदि पर इनकी लिपि पायी गयी है । धौलाबीरा के एक फर्श पर एक पंक्ति का अभिलेख मिला है, यह लिपि दांये से बांये को लिखी जाती थी, इसके 4000 चिन्ह पहचाने जा चुके है । आश्को पारपोला समेत कई विद्वानों ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि यह लिपि किसी भी शत लिपि से सम्बन्धित नहीं है, जबकि ऐसी सम्भावना व्यक्त की गयी है कि उनकी भाषा, प्राग–द्रविड़ से अधिक सभ्यता रखती थी । इस संस्कृति की भाषा जिस दिन पढ़ ली जायेगी उस दिन सिन्धु सभ्यता के धर्म व इतिहास के पृष्ठ आइने की तरह स्पष्ट हो जायेंगे, वर्तमान में कम से कम 10 विभिन्न देशों के विद्वान इस लिपि पर कार्य कर रहे है ।

यह महान सभ्यता भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तर–पश्चिमी भू–भाग पर ग्रामीण संस्कृतियों के विकसित होने पर अस्तित्व में आयी तथा प्रथम शहरीकरण किया । इस 31 सभ्यता के लोगों ने सोना, तांबा, कांसा, सीसा जैसी धातुओं का प्रयोग हथियार, जेवर और औजार बनाने के लिये किया । धातु के अलावा ये प्रस्तर औजारों का प्रयोग कर रहे थे । इन्होंने भारत के अन्दरूनी हिस्से में ही नहीं, वरन् पश्चिम एशिया में अफगानिस्तान, ईरान–इराक व ओमान के क्षेत्रों तक जमीनी व समुद्री मार्गों से व्यापार किया । अपने व्यापार हेतु उन्होंने धौलावीरा, लोथल, रोजडी, रंगपुर, पादरी, बगासारा, कुन्तासी, नागेश्वर आदि अनेक व्यापारिक केन्द्र गुजरात में बनाये, इनके व्यापारिक केन्द्रों में ठप्पे, मुहरें व बांट अक्सर मिलते है । पुरा जलवायु के अध्ययन से यह भी स्पष्ट किया गया है कि उत्तर हड़प्पा काल में जलवायु शुष्क हो गयी थी, सम्भवत : इसी कारण ई.पू. 1700 से 1500 के बीच यह संस्कृति पूर्णतया विलुप्त हो गयी।

2.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(1) हड़प्पा संस्कृति के विस्तार व शहरीकरण पर प्रकाश डालिए। (150 शब्द)

(2) प्राग–हड़प्पा संस्कृतियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये। (150 शब्द)

(3) हड़प्पा संस्कृति की नगर योजना समझाइये। (200 शब्द)

(4) हड़प्पा संस्कृति के विदेशी व्यापार पर प्रकाश डालिए। (200 शब्द)

(5) हड़प्पा संस्कृति पर एक निबन्ध लिखिए। (500 शब्द)

2.8 पठनीय शोध पत्र एवं ग्रन्थ

Agrawal, D.P.1964.Harappa Culture, New Evidence for a Shorter Chronology, Science 3609:950–52.

Agrawal, D.P. 1966. Harappa Chronology: A re–examination of the Evidence,

In Studies in Prehistory (Sen and Ghosh eds.) pp 139–48. Calcutta: Firma K.L.Mukhopadhayay.

Bisht, R.S.1990 Dholavira: New Horizons of the Indus, Purattava 20:71–82.

Casal, J.M. 1964. Fouilles d'Amri. Paris.

Dales, G.F. 1962. Harappan Outposts on the Makran Coast,

Antiquity 36:86–92.

Dales, G.F 1964. The decline of the Harappans, Scientific American 214 (5): 93–100.

Dales, G.F. 1979. The Excavation at Balakot: The Summery of four years of Excavations in Pakistan, Man and Environment 3:45–53.

Dhavalikar, M.K.1995. Cultural Imperialism. New Delhi: Books and Books.

Fairservice, W.A., Jr. 1961. The Harrappa Civilization: New Evidence and More Theory, American Museum Novitates 2055:1–35.

Flam, L. 1991. Excavatio0n at Gazi Shah, Sindh, Pakistan, n Harappan Civilization: A contemporary Perspective 2nd Ec. Delhi: Oxfort and IBH.

Frankfort, H.P.1986. Archaeological and Environmental Researches in the Ghaggar (saraswati) plains: Two Seasons of the

IndoFrench Archaological mission: 1983 and 1984, Man and Environment 10:97–100.

Gordon, D.H.1958. The Prehistoric Background of India Culture. Bombay: N.M tripathi.

Gupta, s. p. 1996. The Indus – Saraswati Civilization. New Delhi.

Hegde, K.T.M, K.K.Bham and V.H.Sonawane 1985. Excavation of the M.S.University, Baroda 33–34:3–20.

Joshi, j.p. 1973. Excavation at surkotada, in Radiocarbon and Indian Arcaeolgy (D.P.Agrawal and A.GhoshEds.)

Bombay: TIFR.

Khan, F.A.1964. Excavation at Kotdiji. Pakistan Archaeology 1:39–43.

Misra, V.N.ed.1992. The Eastern Anthropologist 45 (1–2).

Possehl s. 197. The mohenjo - daro floods: A Reply, American Anthropology 69(1): 32–40.

Raikes, R.L. 1965. The Mohenjo–Daro floods, antiquity 39 (155):196–203.

Sharma, Y.D. 1989a. Ropar, in an Encyclopedia of Indian

इकाई–3

शहरीकरण में हास : वैदिक कालीन आर्थिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

उद्देश्य

3.0 प्रस्तावना

3.1 श्रोत

(अ) साहित्यिक प्रमाण

(ब) पुरातात्विक प्रमाण

(स) ग्रामीण सभ्यता एवं नगरीय सभ्यता के आधार एवं सैन्धव सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता में परस्पर सम्बन्ध

3.3 वैदिक काल में पशुपालन

3.4 कृषि का विकास

3.5 उद्योग एवं व्यवसाय

3.6 व्यापार एवं वाणिज्य

3.7 उत्तर वैदिक कालीन परिवर्तन

3.8 सारांश

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.10 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

- इस इकाई में हम हड़प्पा संस्कृति का हास एवं वैदिक सभ्यता के मध्य अन्त सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे । प्रारम्म में पुराविदों की मान्यता रही थी कि हड़प्पा सभ्यता का पतन आर्य लोगों ने किया था लेकिन यह अवधारणा अधिक समय तक मान्य नहीं रही । कुछ वर्षों पूर्व से किये गये उत्खननों एवं शोधपूर्ण कार्यों ने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया है इसका अभिज्ञान आवश्यक है ।
- वैदिक लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए वैदिक साहित्य को आधार बनाना होता है । वैदिक साहित्य न केवल विश्व का प्राचीनतम अभूतपूर्व साहित्यिक खजाना है प्रत्युत तत्कालीन समाज, राजनीति एवं अर्थव्यवस्था को समझने का भी महत्वपूर्ण साधन है । अत : इस ईकाई में वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय जरूरी है जिससे तत्कालीन अर्थव्यवस्था का सम्यक बोध हो सके ।
- जिस प्रकार वैदिक साहित्य को कुछ वर्षो की देन नहीं माना जा सकता उसी प्रकार तत्कालीन समाज ने धीरे–धीरे प्रगति की और अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया तथा आय के एक मात्र साधन से हटकर अन्य उपायों की बात सोची गई.., इसका विश्लेषण हमारी विषय वस्तु है ।
- वैदिक साहित्य हमारी संस्कृति की अनुपम निधि है इस पर निरन्तर शोध कार्य चल रहा है । एक लेखक के लिए समस्त आधुनिक शोधपूर्ण कार्यों को जुटाना संभव नहीं

होता और न ही यह पूरे दावे के साथ कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य का अब अध्ययन पूरा हो गया है अत: यहां हम केवल अब तक हुए शोध कार्यों के आधार पर पाठकों के समक्ष तत्कालीन अर्थव्यवस्था का एक मोटा चित्र ही इस इकाई द्वारा रखने का प्रयास करेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

आर्य लोग नगरीय–करण एवं कुछ अन्य तकनीकी मामलों में सैन्धव संस्कृति के लोगों की तुलना में पीछे थे इसलिए अनेक विद्वानों ने वैदिक काल में शहरीकरण की प्रक्रिया में हास माना है । प्रारम्भिक वैदिक समाज पशुपालन अवस्था में था अर्थात् शुरुआती दौर में आर्य कृषि उत्पादों की अपेक्षा पशुचारण पर अधिक निर्भर थे इसलिए हड़प्पा लोगों की तुलना में वैदिक समाज में शहरीकरण में हास के चिन्ह खोजने के प्रयास इतिहासकारों ने किये है । पशुपालन से धीरे–धीरे आर्यों की कृषि पर निर्भरता बढ़ी और लोहे की खोज ने इस प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये । इस बात का बोध हमें वैदिक कालीन साहित्य से होता है । वैदिक ऋचाओं में पशुपालन और कृषि सम्बन्धी असंख्य उल्लेख आये है जो उनकी ग्राम्य संस्कृति की विशेषताओं को उजागर करते है ।

इस ईकाई में वैदिक कालीन अर्थव्यवस्था का अध्ययन करेंगे ही लेकिन हम यह भी देखेंगे कि किसी सभ्यता को ग्रामीण सभ्यता अथवा नगरीय सभ्यता मानने के क्या आधार हो सकते है । और उन आधारभूत तत्वों के आधार पर हम वैदिक सभ्यता को किस श्रेणी में रख सकते है इसका विश्लेषण अपेक्षित है । यह निश्चित कर लेने के बाद कि वैदिक सभ्यता एक ग्राम्य संस्कृति का प्रतीक थी उसके प्रत्येक पक्ष का अध्ययन साहित्यिक एवं पुरातात्विक खोजों के आधार पर करना युक्तिसंगत कहा जाएगा। अत: हमारी विषयवस्तु समझने से पूर्व तत्कालीन साहित्य एवं पुरातात्विक साधनों पर दृष्टि डलना आवश्यक हो जाता है जिनके आधार पर उस काल की अर्थव्यवस्था का एक स्थूल चित्र उभर सक ।

3.2 (अ) स्त्रोत–साहित्यिक प्रमाण

प्राचीन आर्यों के सम्बन्ध में हमें समस्त जानकारी वेदों से मिलती है । पूर्व वैदिक साहित्य मैं मूलत: ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद एवं सामवेद की संहिताओं का उल्लेख किया जा सकता है । प्रत्येक वेद के साथ उनके ब्राह्मण ग्रंथ आरण्यक वर्गीकृत है और उपनिषदों को वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग कहा जाता है । वेद ' शब्द की व्युपति विद ' धातु से हुई है तथा विद ' से तात्पर्य है जानना या ज्ञान प्राप्त करना । अत : वेद का मानना अभिप्राय गन ' या 'ज्ञान का मूल ' लिया जाता है । वेद तत्कालीन समाज, राजनीति एवं आर्थिक कार्यकलापों की जानकारी प्राप्त करने के महत्वपूर्ण साधन है । इस तरह वेदों को तत्कालीन इतिहास का महत्वपूर्ण स्त्रोत कहा जा सकता है । चार वेदों में भी ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का विशिष्ट स्थान है सामवेद में गेय पदों का संकलन है जिसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से लिए गये है । यजुर्वेद में यज्ञ प्रक्रिया एवं उनका महत्व दर्शाया गया है । इससे आर्यों के ज्यामितिक ज्ञान का भी बोध होता।

ऋग्वेद: भाषा विज्ञान के आधार पर अधिकांश विद्वान इस बात पर सहमत है कि ऋग्वेद की रचना 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. के मध्य हुई होगी । ऋग्वेद 10 मण्डलों में विभक्त है । इसकी विभिन्न संहिताओं में शाकल शाखा की संहिता (संग्रह) अधिक प्रचलित है जिसमें 1028 (कुछ के अनुसार 1017) सूक्त है । प्रत्येक सूक्त में मंत्रों की संख्या निश्चित नहीं है इसीलिए कुछ सूक्त छोटे एवं कुछ बड़े है । शाकल के अतिरिक्त वाष्कल एवं शाखायन शाखा की संहितायें भी मिलती है । ऋग्वेद के मंत्रों की प्राचीन ध्वनि या स्वर को यथावत बनाये रखने के लिए मंत्री को पाठ ' एवं 'पदपाठ ' के रूप में स्मरणीय रखा जाता था ।

ऋग्वेद में आर्यों के आर्थिक कार्यकलाप, सामाजिक व्यवस्था, राजनीति एवं नैतिक मूल्यों की विस्तृत विवेचना मिलती है । इसीलिए कायगी ने ठीक ही कहा (देखिये, दासगुप्त एस. एन., भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 1, पृ.15) है : वैदिक श्लोकों और मंत्रों से यह सिद्ध होता है कि जनता के प्रमुख बुद्धिशाली व्यक्तियों में यह विश्वास जम गया था कि विश्व के अधिपतियों के शाश्वत नियम उतने ही सत्य है जितने की सत्य के पहले आचार और नैतिक. नियम । उनको किसी प्रकार से भंग नहीं किया जा सकता । प्रत्येक अनैतिक कर्म के लिए चाहे वह अनजाने में ही हुआ हो दण्ड अवश्यंभावी है कुछ दण्ड के बिना पाप का समन नहीं हो सकता।'

तत्कालीन अर्थव्यवस्था, लोगों के कार्यकलापों, राजस्व व्यवस्था, व्यापार आदि का चित्रण इसके महत्व के प्रतीक है । पशुपालन, कृषि–एवं विविध व्यवसायों के उल्लेख तत्कालीन अर्थव्यवस्था के क्रमिक विकास को ही दर्शाते है।

अथर्ववेद: अथर्ववेद शब्द 'अथर' एवं वाणि शब्दों से बना है जिसका सामान्य अभिप्राय जादू–टोना माना जाता है। इसी आधार पर अथर्ववेद को जादू–टोने का ग्रंथ मान लिया जाता है जबकि यह बात पूरी तरह सत्य नहीं है–'अथर्वन' उस पुरोहित के लिए आया है जो अग्नि को उदबोधित करता है। दूसरे शब्दों में अथर्ववेद में आचार–विचार एच कर्मकाण्ड सम्बन्धी मंत्र भी मिलते है। इसे लोगों की सामान्य आवश्यकताओं एवं समस्याओं से भी जुड़ा हुआ कहा जा सकता है। इसके अध्ययन से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भ से अन्त तक यह तत्कालीन लोक धरातल से जुड़ा ग्रंथ रहा। राजकर्म, समाज, गृहस्थ जीवन तथा कृषि कार्यो एवं अन्य कार्यकलापों से सम्बन्धित सूक्त बड़ी संख्या में पाये जाते है। इस तरह अथर्ववेद को भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था तथा आर्यों के आर्थिक कार्यकलापों को जानने का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ स्वीकार कर सकते है।

यजुर्वेद: इसमें विशेषरूप,से यज्ञ विधान. और वैदिक प्रार्थनाओं का संकलन हुआ है। जिनके आधार हमें तत्कालीन लोगों की मनोभावनाओं को समझने में सहायता मिलती है। यजुर्वेद कई शाखाओं में उपलब्ध था परन्तु इस समय इसकी पांच शाखायें है मन' में से प्रथम चार कृष्ण यजुर्वेद एवं अन्तिम शुक्ल यजुर्वेद की है। दोनों शाखाओं पर भेद नहीं है किन्तु स्वरूप की दृष्टि सें अन्तर है। शुक्ल यजुर्वेद को बाज सनेयी हित भी कहते है जिसकी दो शाखायें मिलती है: काण्व और माध्यन्दिन। 'कृष्ण यजुर्वेद को चार शाखायें उपलब्ध है: काठक,

कपिसठल मैत्रेयी एवं तैतिरीय। विद्वान बाज सनेयी संहिता को अधिक महत्व देते है। कुछ विद्वान इसे असली यजुर्वेद भी मानते है।

सामवेद: 'साम' से अभिप्राय लय से है लेकिन आगे चलकर इसे एक गेय ग्रंथ समझा जाने लगा। इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद से लिए गये है। वर्तमान में इसकी तीन शाखायें मिलती है:कौथूमू, राणानीय और जैमिनीय। सामवेद में 1,820 मंत्र है जिन्हें ऋग्वेद के प्रगात और सोममण्डल से लिया गया है।

3.2 (व) पुरातात्विक प्रमाण

प्रारम्भ में साहित्य के आधार पर ही इतिहास लेखन की शुरूआत हुई लेकिन सैन्धव स्थलों की खोज ने भारत के इतिहास को एक नई दिशा प्रदान की। उसके बाद अनेक पुरातात्विक स्थल खोजे गये विशेष रूप से पिछले चालीस वर्षो में सिन्धु व घाघरा नदियों के किनारे, पंजाब, उत्तर प्रदेश, उत्तरी राजस्थान में बड़े पैमाने पर उत्खनन हुआ और इन क्षेत्रों से परवर्ती हड़प्पाकालीन उन्नत तामपाषाण संस्कृति के अवशेषों को खोज निकाला गया। पुराविदों ने इन प्रदेशों से प्राप्त अवशेषों का समय 1700 ई. पू. से 600 ई. पू. के मध्य निश्चित किया है और रंगे हुए धूसर मृदभाण्डों (PGW) को वैदिक युगीन माना है। चित्रित धूसर मृदभाण्डों के लगभग 700 स्थलों को विद्वानों ने इब तक चिन्हित किया है। विशेषरूप से बहावलपुर, धामर नदी के शुष्क भागों, सिन्धु व गंगा के तराई वाले क्षेत्रों तथा गंगा यमुना के दोआब प्रदेश से इस युग के अवशेष खोजे गये। अतरंजीखेड़ा, अहिच्छत्र, नोह, हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, भगवानपुर तथा जखेड़ा आदि चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति के प्रमुख स्थल है।

यहा स्मरणीय है विभिन्न प्रकार के मृदभाण्ड बनाने की शैलियों का अभिप्राय यह नहीं है कि इन मृदभाण्डों का प्रयोग करने क्ले लोगों में अन्तर था। इस तरह की उपलब्ध सामग्री सम्बन्धित संस्कृति जे एक विशेष लक्षण को ही दर्शाती है ।

3.2 (स) ग्रामीण सभ्यता एवं नगरीय सभ्यता के आधार तथा सैन्धव सभ्यता और वैदिक सभ्यता में परस्पर सम्बन्ध

कांस्ययुगीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में कुछ पुराविदों की मान्यता है कि बड़े कस्बे और अधिक आबादी होने से ही शहर बनते थे और इनमें शिल्प और व्यापार का अधिक महत्व नहीं था । डा. रामशरण शर्मा (प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 181) लिखते है कि दूसरे वर्ग के विद्वानों की दलील है कि हड़प्पाकालीन शहरी जीवन में व्यापार की प्रमुख भूमिका थी । शहर की पहचान में केवल उसके कस्बे और आबादी का महत्व नहीं है बल्कि किस पेशे के लोग शहर में आते है, इसे 'जानना आवश्यक है । मूलत : शहर में ऐसे लोगों का बाहुल्य होता है जो खेतिहर नहीं होते है । अतएव शहर के अगल–बगल के क्षेत्र में जब तक काफी मात्रा में खाद्यान्न पैदा नहीं हो तब: तक शहर में रहने वालों के भोजन का प्रबंध नहीं हो सकता है और इस प्रकार शहर में बड़ी आबादी नहीं रूह सकती हैं। वैदिक सभ्यता ग्रामीण सभ्यता थी अथवा शहरी इस बात का परीक्षण हम आगे करेंगे यहां पहले यह देखा जाना आवश्यक है कि सैन्धवजनों एवं वैदिक लोगों में परस्पर क्या सम्बन्ध थे ।

प्रारम्भ में व्हीलर (द इण्डस सिविलाइजेसन, पृ.91), जैसे कई विद्वानों की मान्यता थी कि मोहनजोदड़ो के अन्तिम चरण में पतन के चिन्ह दृष्टिगोचर होते है । सभ्यता के अन्तिम चरण में टीले पर आबादी के विस्तार की संभावनायें नहीं रह गई थी अत : पूर्वनिर्मित भवनों को छोटे–छोटे कमरों में विभक्त कर दिया गया वह भी लापरवाही से । इतना ही नहीं पूर्व निर्मित इमारतों की ईंटों का प्रयोग भी नये निर्माण में देखा जाता है । मोहनजोदड़ो के अतिरिक्त हड़प्पा, कालीबंगा और लोथल आटि में भी इस प्रकार के हास के चिन्ह दिखाई देते है । 1946 में अपनी बात पर जोर देते हुए वीलर ने कहा कि ई.पू. द्वितीय सहस्त्राब्दी के मध्य तक सैन्धव सष्यक यद्यपि पतनोंमुखी थी इसी दौरान आर्यों के तूफानी आक्रमण हुए । ऋग्वेद में प्रगायें। के दुर्गों का उल्लेख मिलता है एवं आर्यों के देवता इन्द्र को दुर्गों को नष्ट करने वाला (पुरभिदे कहा गया है । सैन्धव लोग शान्ति प्रिय एवं सम्पन्न थे उनके नगरों की सुरक्षा का समुचित प्रबंध नहीं था । वे लोग संभवत : आर्यों के आक्रमण के शिकार हुए होंगे । इस बात के प्रमाण में व्हीलर ने कुछ अस्थिपंजरों का उल्लेख किया है जो मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुए है । स्त्री पुरूष एवं बच्चों के अस्थिपंजरों पर पैने शस्त्र के घाव के निशान आर्यों के आक्रमण के प्रतीक माने गये । लेकिन अधिकांश विद्वानों ने व्हीलर के मत को अमान्य ठहराया है । क्योंकि सैन्धव स्थलों से आक्रमणकारियों के अस्त्र–शस्त्र प्राप्त नहीं हुए है और दूसरे अस्थिपंजर जो प्राप्त हुए है आक्रमणकारी आर्यों के शारीरिक गठन से मेल नहीं खाते । दूसरे शब्दों में आर्यों ने सैन्धव लोगों पर आक्रमण किया होता तो उनके मारे जाने से अस्थि अवशेष भी मिलने चाहिए थे । पर ऐसे प्रमाण नहीं मिले है अत: सैन्धव लोगों पर आर्यों का आक्रमण का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

एक दूसरी धारणा विद्वानों ने यह भी प्रस्तुत की है । चित्रित धूसर मृद्भाण्णो (पी. जी. डब्लू–स्लेटी अंग के बर्तन) को आर्य संस्कृति से जोड़ने एवं आर्यों को मध्य एशिया का स्वीकार करने में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि इस तरह के मृद्भाण्ड पंजाब एवं बहावलपुर से भी मिलने चाहिए थे परन्तु ऐसा नहीं है । जबकि आर्यों कों मध्य एशिया का मामने वाले विद्वानों के अनुसार उनके आगमन का मार्ग यही था । इस तरह आर्यों को मध्य एशिया का नहीं माना जा सकता ।

इसके अतिरिक्त सैन्धव सभ्यता जो एक नगरीय सभ्यता थी और आर्य संस्कृति के बीच अन्तराल अवश्य होना चाहिए क्योंकि सैन्धव सभ्यता के पतन के बाद आर्य सभ्यता का विकास हुआ माना जाता रहा है । लेकिन इस विचारधारा को स्वीकार किये । के मार्ग में दघेरी, माडा, भगवानपुर एवं हरियाणा में किये गये उत्खननों से प्राप्त दोनों प्रकार के अवशेष बाधक है इन स्थलों से उत्तर हड़प्पा और आर्य संस्कृति के प्रतीक मृद्भाण्ड (पी. जी. डब्लू) एक साथ उपलब्ध हुए है । इस प्रकार आर्यों के बाहर से आकर आक्रमण द्वारा भारत पर कब्जा करने का सिद्धांत प्रमाणित नहीं होता । अब यह सिद्धांत पूरी तरह अमान्य हो गया है कि आर्य लोग बाहर से आये थें । पुरातत्व में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि 1500 ई.पू. में पश्चिमी एशिया से भारतीय उपमहाद्वीप में बड़े पैमाने पर लोगों का आगमन हुआ ।

साथ ही यह मान्यता भी अस्वीकार्य हो गई है कि आर्यों ने एक नगरीय हड़प्पा सभ्यता को नष्ट कर नई ग्रामीण सभ्यता की स्थापना की । दरअसल जब सैन्धव सभ्यता पतनोन्मुख थी उसी दौर में भारत की एक अन्य प्रजाति जिसे आर्य कहा गया, में एक भिन्न संस्कृति विकसित हो रही थी । वह सभ्यता पशुपालन एवं कृषि पर निर्भर थी इसलिए उसे हम ग्रामीण संस्कृति कह सकते है लेकिन उस संस्कृति में एक विस्मयकारी साहित्यिक प्रतिभा का विकास हो रहा था जिससे आगे जाकर विशाल वैदिक साहित्य का सृजन हुआ । आर्य लोगों की जीविका का आधार मूलत: पशुपालन एवं कृषि था ।

प्रारम्भ में विविध व्यवसाय एवं व्यापार में प्रगति अत्यन्त धीमी रही और उनकी बस्तियां योजनाबद्ध नगरों का स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाई थी इसलिए उन्होंने ग्रामीण संस्कृति को ही जन्म दिया । लेकिन आर्य बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न थे वे जिस संस्कृति को जन्म दे रहे थे वह नैतिक मूल्यों और उच्च आदर्शों पर आधारित थी ।

यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक हो जाता है कि एक ओर जहां भारत के उत्तर एवं पश्चिमी क्षेत्रों में सैन्धव लोग निवास करते थे यद्यपि उनकी सभ्यता पतनोन्मुखी थी दूसरी ओर आर्य लोगों की संस्कृति के परस्पर अस्तित्व में सन्देह नहीं किया जा सकता जैसे कि वर्तमान विकसित समाज में अनेक आदिवासी जातियों का अस्तित्व बरकरार है । डी. डी. कोसाम्बी (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 1०2 – 1०3) की यह धारणा युक्तिसंगत है : 'जब हम आर्य संस्कृति की चर्चा करते है, तो इसका अर्थ हमें स्पष्ट होना चाहिए । तुलना में आर्य लोग ईसा पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दी की उन महान नगरीय संस्कृतियों से श्रेष्ठ नहीं थे–आर्यों के ऐसे कोई विशिष्ट मृद्भांड अथवा खास औजार नहीं है जिनके आधार पर आर्य संस्कृति का पुरातात्विक विवेचन किया जा सके । वस्तुत : जिस बात के कारण इन लोगों को विश्व इतिहास में इतना महत्व मिला है, वह थी इनकी बेजोड़ गतिशीलता, जो इन्हें मवेशियों के चल खाद्य–भण्डार के रूप में, युद्ध में अश्व–रथ के रूप में और भारी माल ढोने के लिये बैलगाड़ी के रूप में प्राप्त हुई थी । आर्यों ने उन स्थानीय शिल्पों को अपना लिया जो उनके लिए उपयोगी थे और आगे बढ़ गये । '

3.3 वैदिक काल में पशुपालन

आर्यों ने अपने ग्रामों की स्थापना उत्तर भारत के घने जंगलों को साफ करके की थी । आर्य संस्कृति का विस्तार अल्प समय का कार्य नहीं था । जब आर्य लोग अपने साहित्य का सृजन कर रहे थे और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना की जा चुकी थी तब उन्होंने अपनी संस्कृति का धीरे धीरे प्रसार करना शुरू किया । इस प्रक्रिया में पंजाब के बाद, सैन्धव प्रदेश, और वर्तमान उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में बहुसंख्यक ग्रामों की स्थापना हुई । प्रारम्भ में पशुचारण वैदिकजनों का प्रमुख व्यवसाय था । आर्य कबीले कभी कभी अपने पशुओं के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते थे इस तरह उनके ग्राम भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रतिस्थापित होते रहते थे। पशुओं को लेकर दो भिन्न समूहों में संघर्ष हुआ करते थे और पराजित समूहों द्वारा विजित सरदारों को कर (बलि) अदायगी करनी पड़ती थी । ऐसे मुद्दों के. लिए गाविष्टी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद (1/91/23) में मिलता है । आर्यों के पशुपालन व्यवसाय

के महत्व की चर्चा करते हुए डी. डी. कोसाम्बी (वही, पृ.101–102) लिखते है. 'संस्कृत के दुहितृ (पुत्री) शब्द का अर्थ दूध दुहनेवाली' भी होता है, और यह शब्द आर्य भाषाओं में व्यापक रूप से पाया जाता है । इसके आधार पर कुछ यूरोपीय विद्वानों –ने आर्यों के घरेलू जीवन का एक मनोहर चित्र तैयार किया है । दुर्भाग्यवश,'दूध' के लिए कोई सर्वमान्य शब्द नहीं मिलता । प्राचीन आर्य भाषाओं में 'गाय ' और 'अश्व के लिए सर्वमान्य शब्द मिलते है, जिससे पता चलता है कि ये पशु उनकी अर्थव्यवस्था के मूल आधार थे। पशुपालन पर निर्भरता के फलस्वरूप पूर्व वैदिक आर्यों की आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं रही होगी । लेकिन पालतू पशु सम्पन्नता के प्रतीक थे और एक सम्पन्न पालतू पशुओं के स्वामी को 'गोमत' कहा जाता था । पशु ही सम्पति के प्रतीक थे । पशुओं में गायों का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है । गोपाल की देखरेख में गायें 'गोष्ठ ' में चरती थी । ऋग्वेद (1/191/4) में गोपाल द्वारा गायों को गड्डे आदि में गिरने अथवा चुराये जाने से रक्षा करने के उल्लेख मिलते है ।

पशुओं से सम्बन्धित देवताओं में पूषन नामक देवता का प्रमुख स्थान था । किन्तु वैदिक जनों के शत्रु 'पणि ' लोगों द्वारा उनके पशुओं को चुराकर पर्वतों एवं जंगलों में छिपा दिये जाने पर उन्हें मुक्त करवाने हेतु इन्द्र से प्रार्थना की जाती थी । उन दिनों पशुओं का अपहरण एक सामान्य बात थी । एक राज्य या जन' की गायों की रक्षा करने के कारण राजा को 'गोपति' कहा जाता था । गायों को प्रात : काल जंगलों में चराने के लिए ले जाया जाता था –अत : प्रात :कालील वेला गोधुली ' का सम्बोधन आज भी समय का मानदण्ड बना हुआ है 'गोत्र' शब्द की उत्पत्ति भी गायों का एक साथ गोष्ट में रखने के कारण हुयी प्रतीत होती है अर्थात अपनी गायों के साथ जो लोग एक ही गोष्ट में रहते थे उनको उसी गोत्र का माना जाने लगा।

गायों की पहचान के लिए उस काल में भी स्वामित्व सूचक चिन्ह अंकित किये जाते थे । ऋग्वेद (1/161/11) में एक स्थान पर कहा गया है कि जो घर गायों के रहने योग्य नहीं है उसमें ऐश्वर्य नहीं हो सकता। गोओं के लेन देन से वस्तुएं खरीदी एवं बेची जा सकती थी । यही नहीं गाय मुद्रा की भांति भी प्रयुक्त होती थी। इसी तरह के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए गायों को न मारने योग्य (अद्या) कहा गया है । गाय का गोबर खाद के रूप में उपयोगी था एवं चमड़े से अनेक वस्तुएं बनाई जाती थी । बैल हल जोतने एवं गाड़ी खींचने में उपयोगी था ।

गायों के अतिरिक्त ऋग्वेद में भैंस, अजा (बकरी), अवि, भेड के उल्लेख आये है । गांधार की भेडें (ऋग्वेद 1/126/7) अपनी ऊन के लिए प्रसिद्ध थी। कदाचित इनका मांस खाने के काम में आता था। आर्यों के लिए ऊंट भी उपयोगी पशु था। सिन्धु नदी घाटी क्षेत्र में ऊंट नि:सन्देह वर्तमान की तरह उपयोग में लाया जाता होगा। गाड़ियों को खींचने एवं बोझा ढोने के लिए गधे का भी महत्व उस समय था। पशुओं में घोड़ा आर्यों के लिए सर्वाधिक उपयोगी था उसका युद्ध के दौरान अश्वारोही सेना के रूप में विशेष महत्व था । रथों और गाड़ियों के खींचने (ऋग्वेद 2/34/3) में भी काम आता था। मैक्टानल की मान्यता थी कि आर्य अश्वारोहण नहीं करते थे केवल उसका उपयोग गाडियों को खींचने आदि में होता था। प्रो. अविनाश चन्द्र दास (ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ. 82 –83) ने इस बात का खण्डन करते हुए लिखा है कि आर्य लोग

अश्वारोहण करते थे और युद्ध में अश्वारोही सेना का विशेष महत्व था। सेना में हाथी भी होते थे एक स्थान पर उसे अंकुश द्वारा नियन्त्रित करने का जिक्र आया है ।

3.4 कृषि का विकास

पशुपालन के साथ–साथ आर्यो ने कृषि को एक महत्वपूर्ण व्यवसाय के रूप में अपना लिया था 'कृष' शब्द ऋग्वेद (1/100/10) में कई बार आया है। इससे सिद्ध होता है कि कृषि एक लोकप्रिय व्यवसाय बनता जा रहा था । भूमि हल (सीर) से तैयार की जाती थी जिसमें बैलों का उपयोग किया जाता था। भूमि के तैयार किये जाने पर बनी हराइयों (सीता) में बीज बोये जाते थे । प्रारम्भ में हल में संभवत: दो बैलों का उपयोग किया जाता होगा लेकिन उत्तरवैदिक काल तक आते–आते हल से भूमि के तैयार करने में आठ–से बारह बैलों का उपयोग होने लगा था। तैयार फसल को 'सवि' या 'दात्र' (हंसिये) से काटा जाता था और गट्ठर बांध कर 'खल ' (खलिहान) मे ले जाया जाता था और कूटकर शर्प' (सूप) से अन को अलग किया जाता था । अनाज का माप (परिमापन) हेतु उपयोग में लाया जाने वाला बर्तन (ऋग्वेद 2/14/11) उस्दर् ' कहा गया है ।

सामान्यत: वर्षा के जल पर ही किसानों को निर्भर रहना होता था किन्तु अधिक फसल के लिए सिंचाई भी की जाती थी । 'अवट ' (कुएं) के जल को चक्र द्वारा निकाला जाता था और नालियों अथवा नहरों (कुल्पाओं) द्वारा खेतों तक पहुंचाया जाता था। आर्य लोग अनेक प्रकार के अन्न का उत्पादन करते थे जैसे यव (जों), गोधूम (गेहू,धान, तिल, उडद (माष), मसूर, चना आदि । विवरण मिलता है कि अश्विन देवताओं, ने मनु को हल चलाना एवं यव का उत्पादन करना सिखाया। कृषि भूमि के विस्तार हेतु जंगलों को साफ किया गया इस दृष्टि से कमी–कभी आग लगाकर जंगल साफ किये जाते थे । संभवत: सिंचाई के लिए झील, जलाशय, नदी का जल भी काम में लाया जाता होगा । खेतों में पानी देने के लिए छोटी छोटी नहरें एवं नालियां बनाई जाती थी ।

कृषि धीरे–धीरे समृद्धि का प्रतीक मे (नो खाने लगी । अपाला को अपने पिता की खेती की समृद्धि के प्रार्थना करते हुए (ऋग्वेद 8/91/6) दर्शाया गया है। इसी प्रकार पूषन देवता से हल चलाने के लिए प्रार्थना की गई। इतना ही नहीं हारे हुए जुआरी को भी एक स्थान पर सलाह दी गई कि वह खेती करे जिससे उसे पत्नी, धन एवं पशुओं की प्राप्ति होगी। भूमि उस समय सहज ही उपलब्ध थी इसलिए भूस्वामित्व व्यक्तिगत सम्पति का आधार नहीं बन पाया था। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में राज को भूमि को स्वामी नहीं कहा गया। संभवत: उस समय तक सामूहिक भूस्वामित्व मान्य रहा होगा।

3.5 उद्योग एवं व्यवसाय

वैदिक लोगों की आजीविका का मुख्य साधन यद्यपि पशुपालन एवं कृषि था लेकिन धीरे–धीरे अनेक प्रकार के शिल्प एवं व्यवसायों का भी विकास हो रहा था। विविध व्यवसायों में लगे हुए लोग भिन्न भिन्न नामों से जाने जाते थे। तक्षन (बढई), हिरण्यकार (सुनार), कर्मार (धातु शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (जुलाहा), आदि अनके व्यवसायियों का उल्लेख वेदों में

आया है। ऋग्वेद (9/112/1) में एक स्थान पर उल्लेख आया है जिसमें एक ऋषि कहता है: हमारे कर्म विभिन्न प्रकार के है, बढई काष्ठ की कामना करता है, ब्राह्मण सोम का अभिषवण करने वाले यजमान की कामना करता है और वैद्य रोग की कामना करता है। तक्षन को रथ निर्माण करने वाला कहा गया है तथापि वह गाड़ी (अनस) तथा नावें (नौ) भी बनाता था। विद्वानों की मान्यता है कि उस समय छोटे पोत भी बनाये जाते थे जिसमें तक्षन को अपनी दक्षता दर्शाने का अवसर मिलता था। तक्षन के उपयोग में आने वाली कुलिश (कुल्हाडी), वांशी (वसूले) एवं परशु का जिक्र आया है। इसके द्वारा निर्मित प्रोष्ठ (संभवत पंलग) पर स्त्रियाँ सोती थी एवं प्रोष्ठ का निर्माण लकड़ी से होता था।

धातु का कार्य कर्मार (लुहार) करता था। धातु के लिए 'अयस' शब्द आया है और इसे लाल रंग का कहा गया है। संभवत अयस तांबा अथवा कांस्य का प्रतीक था क्योंकि लोहे का पता चलने पर भी इसका अभी अधिक प्रचलन नहीं रहा होगा। अथर्ववेद में श्याम अयस (लोहा) एव लोहित अयस (ताम्बा) में भेद किया गया है। कर्मार विशेष रूप में किसानों के काम वाली वस्तुओं का निर्माण करते थे जैसे–अश्र, दात्र (दतेली या हसिया), फाल (हल के काम आने वाली नुकीली फाल) आदि। हिरण्यकार (सुनार) शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं हुआ है लेकिन उस काल में प्रयुक्त विविध प्रकार के स्वर्णाभुषणों के कई उल्लेख आये है। (ऋग्वेद स्वर्ण 2/33/10) से निष्क (हार), कुरीर (तिकला), कुम्ब (सिर का आभूषण), कर्णशोषण (कानों का आभूषण) बनाये जाते थे। विविध प्रकार के आभूषण के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में आभूषणों का उपयोग होता था। सोना भू खदानों के अतिरिक्त सिन्धु नदी के तल से प्राप्त किया जाता था इसलिए सिन्धु नदी को हिरण्यवर्तिनी या हिरण्यमपी' कहा जाता था।

वस्त्र बुनने वाले वासोवाय' का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था ये लोग वेग (करघे) पर वस्त्र बनाते थे। संभवत: स्त्रियां भी वस्त्र बुनने का कार्य करती, कुपिंन्नेगी। ऋग्वेद (5/47/6) में एक स्थान पर अपनी मां दारा पुत्र के लिए वस्त्र 'निर्माण' का जिक्र आया है।

चमड़े से 'चर्मन' नामक शिल्पी वस्तुओं का निर्माण करता था । उसके द्वारा निर्मित सामग्री में मशक (दृति), गोफन, प्रतञ्चा, चाबुक एवं रथ के प्रयोग में आने वाली रस्सियों (चर्मरज्जु) प्रमुख थी । नाई अपने विशेष व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध था । कमागार छोटे स्तर पर इकट्ठे काम करते रहे होंगे जैसे कपड़े निर्माता, कपड़े सिलने वाले चटाई बनाने वाले आदि । भिषग (चिकित्सक) का समाज में विशेष सम्मान था । कहा गया है कि आश्विन देवताओं के भिषग थे जो अन्धे को नेत्र एवं पंगु को गति (ऋग्वेद 1/116/16) देने में समर्थ थे । उन्होंने विश्पला की जंघा कटने पर वापस सिलाई करके जोड़ दी थी । इसी तरह ऋषिस्वान की अन्धता समाप्त कर दी थी ।

3.6 व्यापार एवं वाणिज्य

वणिक शब्द व्यापारी के लिए प्रयुक्त हुआ है और उसके धनोपार्जन के लिए विदेश जाने की चर्चा मिलती है। व्यापार के लिए संभवत: इस युग में वस्तु विनिमय (बार्टर) की प्रथा रही होगी । सामान्यत: वस्तुओं के मूल्य का अंकन गायों को इकाई मान कर, विनिमय किया जाता

रहा होगा । यद्यपि निष्क नमक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है लेकिन स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह एक स्वर्ण आभूषण के अतिरिक्त मुद्रा के रूप में प्रयुक्त हो रहा था। जैसा उदाहरण मिलता है कि (ऋग्वेद 4/24/40) दस गायों को देकर इन्द्र की प्रतिमा ली गई । इसी प्रकार एक कवि दान में सौ घोड़ों के साथ सौ निष्कों की प्राप्ति की चर्चा करता है इस विवरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि धीरे–धीरे निष्क एक स्वर्ण मुद्रा में परिणित हो गया । ऋग्वेद (4/24/9) हमें वस्तुओं के क्रय–विक्रय का भी बोध करता है। एक विक्रेता ने कम मूल्य पर अधिक वस्तु विक्रय कर दी थी इस लिए वह क्रेता से जाकर कहता है– मैने वस्तु नहीं बेची है लेकिन खरीद करने वाले ने कहा कि एक बार वस्तु बेच दी गई है अब वह अधिक मूल्य की मांग नहीं कर सकता एक बार तय हो गया है उसे मानना चाहिए ' ।

वैदिक संहिताओं में बड़ी नौकाओं का भी अनेक सूक्तों में जिक्र आया है । कुछ पाश्चात्य विद्वानों का विचार रहा है कि आर्यों को समुद्री यात्रा का ज्ञान नहीं था (देखिये– कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया आफ इंडिया, जि. 1, 1995 पृ. 71) लेकिन वैदिक इंडैक्स के लेखकों एवं मैक्समूलर (देखिये द वैदिक एज, पृ.248) की धारणा है कि ऋग्वेदिक आर्य समुद्र से परिचित थे । ए. डी. पुसालकर ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि वैदिकजन समुद्री यात्रा से परिचित थे । सरस्वती नदी के बहकर समुद्र में मिलने की बात ऋग्वेद में कही गई है । दशम मण्डल (ऋग्वेद 10/136/5) कुछ ऋषियों को पूर्व पश्चिम स्थित समुद्र में निवास करने वाला कहा है । डा. जयशंकर मिश्र ने जिक्र किया है कि जो आर्य व्यापार का कार्य करते थे उन्हें देवपणि कहा जाता था और वे फारस की खाड़ी तक जाते थे एवं सुमेरिया के लोगों से व्यापार करते थे । ऋग्वेद में एक स्थान पर अश्विन देवों द्वारा भुज्यु को समुद्र में से बचाने की चर्चा मिलती है और भुज्यु को सौ बल्लियों से चलाई जाने वाली नाव पर स्थित कहा है । संभवत : समुद्री व्यापार में ही इतनी बड़ी नावें उपयोग में आती रही होगी और वे नावे फारस की खाड़ी तक व्यापार के लिए जाती थी ।

कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक लोग आर्थिक दृष्टि से प्रगति की ओर अग्रसर थे, कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त लघु उद्योगों और कई नये व्यवसायों का विकास हो रहा था।

3.7 उत्तर वैदिक कालीन परिवर्तन

उत्तर वैदिक काल तक आते आते अर्थव्यवस्था में काफी बदलाव देखे जाते है । उत्तरी भारत में लौह युग की शुरूआत हुई जिससे नवीन उपकरणों का निर्माण होने लगा और कृषि में उनका बड़ी तादाद में उपयोग किया जाने लगा । कृषि अर्थव्यवस्था ने कबायली जीवन में स्थिरता पैदा की और छोटे–छोटे कबीलों से निर्मित जैन' अब क्षेत्रगत जनपदों के रूप ऊभर कर सामने आये । कृषि क्षेत्रों में वृद्धि हेतु कुल्हाड़ी का प्रयोग शुरू हुआ, दूसरे शब्दों में कुल्हाड़ी के कारण जंगलों को साफ किया जाना संभव हुआ । इसी प्रकार लोहे के रोक वाले हल के उपयोग से बड़े पैमाने पर भूमि को तैयार किया जाने लगा और लोहे के कुदाल से खड़ी फसलों के बीच की घास साफ की जाने लगी जिससे अधिक पैदावार ली जाने लगी । तत्कालीन साहित्य में हमें प्रगतिशील एवं गतिमान अर्थव्यवस्था संकेत मिलते है। शतपथ (7/2/2) में जुताई से सम्बन्धित

कर्मकाण्डों पर. पूरा एक अध्याय दिया गया है । कृषि भूमि की जुताई के लिए 'कर्षण', बुवाई के लिए 'बंपन' एवं कटाई के लिए 'कर्तन' तथा मण्डाई के लिए 'भर्दन' शब्द आये है। अब खेती में काम आने वाले हलों (सीर) में चार से लेकर चौबीस बैल तक जोते जा सकते थे । तैयार फसल को काटने के लिए दात्र (दतिया) का उपयोग किया जाता था एवं गट्ठर बांध कर खलिहान (खल) में ले जाया जाता था। भूखे को अलग करने के लिए 'मर्दन' शब्द मिलता है । अन्त में सूप (शुपई) और चलनी (तिडत) द्वारा अनाज को ओसाया या साफ किया जाता था।

भूमि की उपजाऊ शक्ति बढाने के लिए गोबर की खाद उपयोग में लाई जाने लगी। ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक स्थानों पर गोबर (शकृत) और सूखा गोबर (करीष) शब्द आये है । सिंचाई की ओर भी इस काल में ध्यान दिया जाने लगा । कुएं खोदकर उनसे चरस (कोष) और गरारी (अश्मचक्र) की सहायता से पानी निकाला जाता था नालियों द्वारा खेतों तक पहुंचाये जाने की प्रणाली विकसित हुई । कुओं के अतिरिक्त सिंचाई के लिए जलाशयों (हदों) व रक्याहों (कुल्पाओं) का प्रयोग शुरू हो चुका था। इस प्रकार फसल पैदा करना एक उत्तम कर्म माना जाने लगा । तैत्तिरीय उपनिषद में विवरण आया है कि अन्ध ही वक्ष है, उसी से सब प्राणी उत्पन्न होते है और उसी से सबकी आजीविका चलती है । अधिक पैदावार लिए जाने के लिए कई प्रकार के अनुष्ठानों का प्रचलन हो रहा था जिसमें इन्द्र, पूषन, जैसे देवाताओं की स्तुति की जाती थी।

पूर्व वैदिक काल की तुलना में इस युग में हमें कई नये शिल्प व्यवसायों की जानकारी मिलती है। जैसे तन्नुवाय (जुलाहे), रजक (रंगरेज), सुवर्णकार (सुनार), रज्जुकार (रस्सी बनानेवाले), लौहकार (लुहार), रथकार (लकड़ी का कार्य करने वाले), कुंभकार (कुम्हार), नर्तक, गायक, व्याध (शिकारी) इषुकार (वाण निर्माता), भिषग (वैद्य), गोपाल, (गौ चराने वाला), अजपाल (गों चराने वाला), क्षता (रथ संचालक), ध्र्याहार (लकड़ी विक्रेता), वास पस्पृली (धोषन), भागधुग (कर संग्रहकर्ता), धीवर (मछली पकड़ने वाला),वंसवर्तिन (नट),मवीकार (आभूषण निर्माता), ग्रामणी (ग्राम का मुख्या), मृगयु (शिकार से आजीविका चलाने वाला) आदि । कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सूचि में व्यवसायों की कई श्रेणियां सम्मिलित है जिनमे कुछ उद्योग एवं व्यवसायों से सम्बन्ध थे जबकि अन्य को दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु श्रम विभाजन के आधार पर निर्मित वर्ग की संज्ञा दी जा सकती है।

इसमें कुछ राज्य के अधिकारी भी सम्मिलित थे जैसे–क्षता, ग्रामणी एवं भागधुग । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह देखी जाती है कि रथकार और तक्षन दो भिन्न वर्गों के रूप बताये गये है । अश्वमेघ यज्ञ के अवसर तक्षन को लकड़ी के आधार, गाड़ी आसन और पोत निर्मित करने को कहा जाता था जबकि रथकार को केश रथ दूसरे शब्दों में रथकार का महत्व बढ़ गया था । वह श्रोत यज्ञ भी कर सकता था और उन्हें उपनयन का अधिकार प्राप्त था । इस तरह उन्हें द्विज की श्रेणी में रखा गया । कढाई का कार्य, डलिया निर्माण तथा वस्त्र रंगाई आदि कार्य संभवत स्त्रियां करती रही होंगी । इस काल की अर्थव्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता धातु उद्योग का उत्कर्ष था । आर्य लोग सोना चांदी, लोहा, तांबा एवं सीसा आदि से परिचित थे । अब तांबे के साथ–साथ लोहे का उपयोग बड़े पैमाने पर होने लगा था, लोहे से

कर्मार (लुहार) हल, छुरा, चाकू, सुईयां और कई उपयोगी सामग्री का निर्माण कर रहे थे । वस्तुत: लोहे के उपयोग ने न केवल कृषि के क्षेत्र में प्रत्युक्त उद्योग–व्यवसाय के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया था । अब लोहे से सैनिकों के लिए बड़े पैमाने पर हथियार बनने लगे थे । परिणामस्वरूप अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण का कार्य बड़े स्तर पर होने लगा था।

जहां तक व्यापार–वाणिज्य का प्रश्न है इस दृष्टि से इस काल तक आते आते वैदिक लोग दूर–दूर तक व्यापार पर जाने लगे थे। व्यापार में लगे लोगों के लिए 'वणिक ' शब्द आया है और ऐतरेय ब्राह्मण में इन्हें श्रेष्ठि कहा है। श्रेष्ठि संभवत: व्यवसायिक संघों के अध्यक्ष के लिए प्रयुक्त होता रहा होगा । यद्यपि अभी भी वस्तु विनिमय प्रथा (वार्टर) का प्रचलन था लेकिन विद्वानों की मान्यता है कि 'निष्क' एवं 'शतमान' एक निश्चित मान वाली मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होने लगी थी । शतपथ ब्राह्मण में चर्चा मिलती है कि 'एक यजमान ने सौ सुवर्ण शतमान दक्षिणा के रूप में दिये' जो इस तथ्य का घोतक कि शतमान एक आभूषण से स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तित हो गया था। वैश्य लोंग जनसामान्य को कर्ज भी देते थे तैत्तिरीय संहिता से इस बात का बोध होता है।

आर्यजन समुद्र से अच्छी तरह वाकिफ थे । अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों में समुद्र का जिक्र आया है। समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर शासन करने वाले राजा को 'एक राट सम्राट' कहा जाता था । इसी तरह शतपथ ब्राह्मण जानकारी देता है कि पृथ्वी को समुद्र ने घेर रखा है एवं पूर्वी (पूर्व) एवं पश्चिमी (अमर) समुद्र का जिक्र आया है। जो संभवत: हिन्द महासागर एवं अरब सागर की ओर संकेत था।

आर्य लोग पश्चिमी देशों से व्यापार करते रहे होगें । निर्यात योग्य सामग्री में स्वर्ण एवं चांदी की वस्तुएं, बहुमूल्य पत्थर, हाथीदांत की सामग्री, वस्त्र आदि थे । एशिया माईनर से प्राप्त बोगजबुनई अभिलेख में (दूसरी शताब्दी ई. पू.) में मित्र वरूण आदि देवताओं का जिक्र आया है। जो इस तथ्य को इंगित करता है कि भारत का पश्चिमी देशों से व्यापार था । गांधार की ऊन भी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी संभवत: इसका भी निर्यात किया जाता रहा होगा । विदेशों से व्यापार दो तरह से रहा होगा। एक स्थल मार्ग से जिसका प्रवेश बोलन एवं खैबर दर्रों से था । दूसरा समुद्री मार्ग से लोग पश्चिमी देशों को जाते रहे होंगे क्योंकि सौ–पतनवारों या वल्लियों की नावे निश्चित रूप से दूर देशों से व्यापार में ही उपयोग में लायी जाती होगी ।

3.8 सारांश

कहा जा सकता है कि हड़प्पा सभ्यता की तुलना में वैदिक संस्कृति यद्यपि एक ग्रामीण सभ्यता थी। वैदिक जनों ने सैन्धव लोगों की तरह नगरों का विकास प्रारम्भ में नहीं किया था । उन्होंने नगरों का निर्माण किया भी होगा तथापि वे नगर संभवत नियोजित नहीं थे और नहीं उनमें पकाई ईंटों का प्रयोग हुआ । प्रणाल व्यवस्था, पत्थरों या ईंटों को बिटुमिन या जिप्सम से जोड़ने की कला का भी उन्हें ज्ञान न था । दरअसल वैदिक लोग तकनीकि दृष्टि से सैन्धव लोगों से पिछड़े हुए थे फलत: महास्पानागार अनाज गोदाम एवं सभा भवन जैसे उत्क्रस्ट भवन वे नहीं बना पाये। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं था कि आर्य लोग नितान्त ग्रामीण और सभ्यता से दूर आदिवासी जीवन जी रहे थे । वस्तुत: उन्होंने ऐसे उत्क्रस्ट साहित्य का

सृजन किया जो उस समय के संसार में किसी सभ्य जाति के लिए संभव नहीं हो पाया। दूसरे शब्दों में उनमें तेजी से बौद्धिक जागरण हो रहा था इसके संकेत ऋग्वेद आदि ग्रंथों से मिलता है। इन्हीं ग्रंथों से हमें उनके आर्थिक एवं सामाजिक क्रिया कलापों की जानकारी मिलती है । लोहे का आविष्कार हो जाने पर जैसे–जैसे समय गुजरता गया उन्होंने कई नये व्यवसायों को विकसित किया । कृषि की नई तकनीक सामने आई जिससे अधिक उत्पादन लेना संभव हुआ । लोहे के औजारों ने उनके कार्य की गति को कई गुना बढा दिया था जिससे विशाल पैमाने पर कृषि की जाने लगी ।

कृषि के साथ–साथ कई नये व्यवसायों का आविर्भाव हुआ जिससे नये सामाजिक वर्गो का अम्युदय भी हुआ । नये वर्गों ने एक ओर अपने समाज में स्थान बनाने की कोशिश की दूसरी ओर उनके उत्पादन समाज के लिए आवश्यक हो गये थे इस तरह कई नये कार्मिक वर्ग सामने आये । व्यवसायिक वर्गों के उत्पादनों पुन: एक नई व्यवस्था पर जोर देना शुरू किया और वह व्यवस्था थी व्यापारिक प्रक्रिया का तेजी से विकास । अब लोग दूर–दूर तक व्यापार हेतु यात्रा पर जाने लगे । इस प्रकार व्यापार व्यवसाय में वृद्धि हुई । अब विनिमय प्रथा समाप्त हो रही थी । शतमान एवं निष्क एक मुद्रा का स्वरूप ग्रहण कर रहे थे । कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन आर्थिक व्यवस्था हमारे समक्ष प्रगतिशील समाज की तस्वीर रखती है ।

3.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्रश्न 1 वैदिक कालीन आर्यव्यवस्था को जानने के प्रमुख स्त्रोत कौन से है । (150 शब्द)

प्रश्न 2 वैदिक कालीन कृति व पशुपालन के बारे में आप क्या जानते है? (180 शब्द)

प्रश्न 3 उत्तर वैदिक काल में आए आर्थिक परिवर्तनों को बताइए । (150 शब्द)

प्रश्न 4 वैदिक कालीन उद्योग व वाणिज्य पर एक लेख लिखिए । (300 शब्द)

3.10 संदर्भ ग्रंथ

1. अविनाश चन्द्र दास : अवैदिक इंडिया पृ. 82–83
2. ए. डी. पुसलकर : वैदिक एज
3. भारद्वाज, कमलेश : प्राचीन भारत में समाज एवं राज्य
4. जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास।
5. जी. एस. पी. मिश्र : प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था।
6. झा. डी. एन. एवं श्री माली : प्राचीन भारत का इतिहास
7. गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत

इकाई – 4

नगरीयकरण का दूसरा चरण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नगरीयकरण की पृष्ठभूमि

4.3 नगर नियोजन

4.4 (अ) नगरों के प्रमुख व्यवसाय

(ब) रहन–सहन

4.5 नगरों का अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान

4.6 नगरों के दूसरे चरण का विघटन

4.7 सारांश

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.9 प्रांसगिक पठनीय ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

- इस इकाई का उद्देश्य यह दर्शाना है कि भारत में नगरीयकरण के दूसरे चरण से क्या अभिप्राय है।
- दूसरे दौर में नगरों का विकास किन कारणों से संभव हुआ।
- तत्कालीन नगर योजना तथा विशेषताओं की जानकारी करना।
- साथ ही नगरों में प्रचलित विविध व्यवसायों की विवेचना द्वारा तत्कालीन शिल्प का बोध करना।
- लोगों को शिल्पगत कुशलताओं का व्यापार पर प्रभाव का ज्ञान करना।
- अन्त में नगरीयकरण में इस दौर में स्थिलता क्यों आई, इससे सम्बन्धित तथ्यों की जानकारी करना।

4.1 प्रस्तावना

नगरीयकरण की प्रक्रिया ऐतिहासिक काल में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शुरू न् जिसका प्रारम्भ गंगा एवं सहायक नदियों के किनारे हुआ। इस क्षेत्र की नदियां फ़ दर स्प प्राध्यम भी थी । आरम्भ में अधिकांश नगर छोटे–छोटे राज्यों की राजधानियां ." ६ अ । जनीतक तथा व्यापारिक गतिविधियों के केन्द्र थे । शहरों की परिभाषा पाणिनि क पर पतंजलि ने दी है और ग्राम तथा शहरों के वर्गीकरण का आधार व्यवसाय ज़ो बनाया है । पतंजलि (महाभाष्य 7.3.14) ने चार प्रकार की बस्तियों का जिक्र किया . ग्राम, घोष, नगर एवं संवाह । कृषक और पांच तरह के कामगार (शिल्पज्ञ) तथा ब्राह्मण जिस बस्ती में निवास करते थे उसे ग्राम की संज्ञा दी गई । जिन लोगों की बस्ती में गाय–भैस आदि पालने वाले लोग रहते थे उसे घोष ' कहा गया।

और जिस बस्ती में विविध कामगार, शिल्पकार पृथकपृथक मोहल्लों में रहते थे उसे नगर सम्बोधित किया। जाता था एवं इससे बड़ी बस्ती की संवाह कहा गया । आर एस. शर्मा की भी यही धारणा रही है कि शहर के वर्गीकरण में आबादी को विशेष महत्व नहीं दिया जाना चाहिए । प्रो शर्मा प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास ' (पृ.180) में लिखते है कि शहर में ऐसे लोगों का बाहुल्य होता है जो खेतिहर नहीं होते है अतएव शहर के अगल–बगल के क्षेत्र में जब तक काफी मात्रा में खाद्यान्न पैदा नहीं हो तब तक शहर में रहने वालों के भोजन का प्रबंध नहीं हो सकता और इस प्रकार शहर में बड़ी आबादी नहीं रह सकती है।

गंगा की उपत्यका में विकसित हुए इस युग के नगरों के बारे में हमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि इनकी बसावट हड़प्पाकालीन नगरों के समान योजनाबद्ध नहीं थी । दूसरे शब्दों में प्रारम्भिक शहरी बस्तियां स्वाभाविक बसावट का प्रतिफल थी । हड़प्पा नगरों को जहां पहले से योजना बनाकर बसाया गया वह तकनीक इस दौर में विकसित नहीं हुई थी । यद्यपि योजनाबद्ध नगर बसाने का कार्य दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक आते–आते दिखाई देने लगती है । छठी शताब्दी ईसा पूर्व एवं उसके बाद की शताब्दियों में उदित नगरों के बारे में तत्कालीन साहित्य में जो विवरण मिलते है वह अतिश्योक्ति पूर्ण है । तत्कालीन साहित्य में अयोध्या एवं वैशाली जैसे नगरों का क्षेत्रफल 30 से 50 वर्ग किलोमीटर दर्शाया गया लेकिन उत्खनन से प्राप्त प्रमाणों से इसकी पुष्टि नहीं होती । इसी प्रकार महलों आदि का वर्णन भी अतिरंजित है । प्रो. आर एस. शर्मा ने तत्कालीन नगरों के उत्खनन से प्राप्त स्त्रोतों के आधार पर जिक्र किया है कि इन शहरों का भौतिक जीवन बहुत ऊंचा नहीं था । मध्य गंगा के किनारे बसे कौशाम्बी, वाराणसी, खेराडीह, वैशाली राजगृह, चम्पा जैसे शहरों का उदय हुआ किन्तु इनके मकान मिट्टी के बने होते थे और ऐसा लगता है कि फूस से इन मकानों का छाजन होता था । मकान लकड़ियों से भी बनते थे । मौर्यकाल से पहले पक्की ईट का प्रयोग 'मकान बनाने में नहीं होता था।' मौर्यकाल के दौरान जब राजधानी राजगृह से हटाकर '"पाटलीपुत्र बनाई गई तब स्मारकीय वास्तु अवशेष मिलने प्रारम्भ होते है । उत्तर मगध काल में शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई थी और यह व्यापारिक व राजनैतिक गतिविधियों – के केन्द्र बनने लगे थे तब लोगों ने लकड़ी के स्थान पर ईंटों का प्रयोग करना शुरू किया । कहा जा सकता है कि उत्तर मगधकालीन शहरों में हड़प्पा नगरों के निर्माण में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री का प्रयोग शुरू हुआ । इसीलिए हड़्यन नगरों को नगरीयकरण का पहला चरण माना जाता है और ईसा पूर्व की छठी शताब्दी में पनपे नगरों को नगरीयकरण के दूसरे सोपान की सवा दी जाती है।

4.2 नगरीयकरण की पृष्ठभूमि

नगर योजना की चर्चा करने से पूर्व नगरीयकरण के विकास कई पृष्ठभूमि को समझन । आवश्यक है । ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि पूर्व दिशा में मगध, कलि:, ' बंग आदि के राजाओं का सामाज्य के लिए अभिषेक होता है और वे समाट कहलाते है इस ब्राह्मण ग्रंथ में अलग–अलग श्रेणी के राज्यों का उल्लेख आया है और सामाज्य को श्रेष्ठ बताया गया है । सामाज्य के शासक को समाट कह कर सम्बोधित जाता था और उनकी राज्य विस्तार की नीति से साप्राज्यवादी प्रवृति को बढ़ावा मिलौ '. इस प्रक्रिया में एक राजा द्वारा दूसरे राज्य पर

अधिकार, सेनाओं के विस्तार, स्थान से दूसरे स्थान हेतु सेनाओं का प्रस्थान, पड़ाव, आदि के कारण नये व्यवक एवं व्यापारिक गतिविधियों में तेजी आई । अनेक नगरों का दुर्गीकरण हुआ । प्राचीन प्रथ दुर्गीकरण के आख्यानों से भरे पड़े है । ' दृढ़ किले सुरक्षा के महत्वपूर्ण आधार माने जाने लगे । दुर्गीकरण की इस दौड़ में शहरों में शिल्पियों को काम के अधिक अच्छे अवसर उपलब्ध थे । राज्य द्वारा किलेबंदी का प्रभाव शहरी लोगों पर भी हुआ और इस तरह नगरवासियों ने भी अपने भवनों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग करना शुरू किया । स्मरणीय है कि प्रारम्भिक दौर में कुछ ही नगरों का विकास राजधानियों के कारण संभव हुआ, लेकिन जो बस्तियां व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र थी अथवा जो नदियों के किनारे जहां संचार के साधन उपलब्ध थे अथवा व्यापारिक माँगों पर स्थित थी उनका शहरीकरण अधिक संख्या में हुआ ।

नदियों की उपजाऊ घाटियों का नगरों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । कृषि भूमि का विकास एवं विस्तार पहाड़ी क्षेत्रों की अपेक्षा मैदानों में सरलता से होता – है । भारत के प्रमुख गंगाघाटी के मैदानों के जंगलों को कृषि के विस्तार हेतु साफ किया गया और इस तरह भारत के प्रमुख नगर गंगा घाटी में विकसित हुए । गांगेय प्रदेश में स्थित इन नगरों को गंगा एवं उसकी सहायक नदियों के किनारे स्थित बन्दरगाहों (तटों) की सुविधा मिल जाती थी । इस क्षेत्र का बहुत बड़ा व्यापार नदी मार्ग द्वारा सम्पन्न होता था । नदियों के किनारे स्थित नगरों में अनेक बन्दरगाहों के स्थित होने के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलते है । सरयू के किनारे आयोध्या राप्ती के श्रावस्ती (सावत्थी), गंगा के काशी (वाराणसी), यमुना के कौशाम्मी एवं मथुरा, गोदावरी के पोतन (अरसक प्रदेश की राजधानी) आदि उल्लेखनीय है बौद्ध साहित्य में छः प्रधान नगरों में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत (अयोध्या) कौशाम्मी तथा वाराणसी की गणना की गई । अन्य. प्रमुख नगरों में लिच्छावियों की राजधानी वैशाली, शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु, वैदेहों की राजधानी मिथिला, मद्र देश की सागल एवं अवन्ति में उज्जयिनी का जिक्र बौद्ध ग्रंथों में आया है । कहा जा सकता है कि गांगेय प्रदेश के नगरों के विकास में गंगा एवं उसकी सहायक नदियों की विशेष कुमका रही थी । गंगा नदी द्वारा समुद्र तक पहुँचा जा सकता था, दूसरे यह बिहार के लोह उत्पादक क्षेत्रों से गुजरती थी । राज्यों की विस्तार नीति तथा परस्पर युद्धों ने लोह को प्रारम्भ से ही एक महत्वपूर्ण धातु बना दिया था।

लोहे के कृषि उपकरणों के रूप में प्रयोग से कृषि उत्पादन में तेजी आई । उत्तर प्रदेश में अतरंजीखेड़ा तथा अन्य स्थानों पर किये गये उत्खननों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर विद्धानों की मान्यता है कि भारत में लोहे का उपयोग ईसा पूर्व 1000 के लगभग हुआ । गंगा के मैदानों में कई स्थलों से तांबे से निर्मित वस्तुओं के ढेर मिले है । इनसे अस्त्र–शस्त्र का निर्माण निश्चित रूप से समृद्ध जनपदों द्वारा करवाया जाता होगा । कृर्षी क्षेत्र में लोहे के उपयोग ने कृषि उत्पादन को अधिशेष (सरप्लस) की स्थिति में पहुँचा दिया था। सामारिक रूप से शक्तिशाली जनपदों का सैन्य विस्तार की नीति के लिए इस प्रकार के अधिशेष की आवश्यकता थी । डॉ. डी. डी. कौशाम्बी ने इस ओर विद्धानों का ध्यान आकर्षित किया है कि लोहे के प्रयोग व धान के रोपाई की तकनीक की जानकारी से नगरों के विकास को बल मिला । लोहे के फालवाले हल के प्रयोग से खेतों की जुताई अधिक अच्छी तरह संभव हो गई और इससे

कृषि व्यवसाय में तेजी आई । अब गंगा घाटी में लोग पशुचारण के स्थान पर खेती –पुर अधिक निर्भर थे । पशुपालन के स्थान पर कृषि का मौलिक व्यवसाय के रूप में अपनाये जाने से भी अधिशेष का सृजन होने लगा था और अधिशेष ने नगरों के विकास को गतिशील बनाया यह भी उल्लेखनीय है कि अधिशेष के सृजन से माल का क्रय–विक्रय व्यवस्था पनपने लगी ।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मुद्राओं का प्रचलन एवं व्यापार में प्रगति प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलू थे । धातु मुद्रा के प्रयोग से वाणिज्य एवं व्यपार में उल्लेखनीय वृद्धि हुई । मुद्रा प्रणाली के आविर्भाव से व्यापार में विनिमय प्रथा धीरे– धीरे कम होने लगी । अब क्रय–विक्रय का माध्यम सामान्यत: एक प्रकार के सिक्के थे जिन्हें कार्पापण कहते थे । कार्षापण 146 ग्रेन के तांबे से निर्मित सिक्के थे। इनके अतिरिक्त निक्स (निष्क) और सुवण्ण (सुवर्ण) नामक सोने के सिक्कों का उल्लेख भी पालिसाहित्य में मिलता है। 'मासक ' व 'काकनिका ' कम मूल्य की छोटी मुद्रायें भी प्रचलन में थी । सहस्त्रों की संख्या में चांदी की आहत मुद्राओं की उत्खननों से प्राप्ति व्यापार की व्यापकता की घोतक है। इतिहासकारों ने इस युग की तीन आर्थिक विशेषताओं को स्वीकार किया है– व्यापारिक बन्दरगाह, नगरों का विकास तथा समुद्रपारीय व्यापार । यह वह समय था जब देश का रोम के साथ व्यापार बढ़ने लगा और कुषाणों के काल तक पहंचते–पहुँचते यह व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। कुषाणों ने मध्य एशिया एवं भारतीय उपमहाद्वीप को एक सूत्र. में बांधे रखा जिससे रोम के साथ व्यापार को बढ़ावा मिला । चीन से शुरू होकर पश्चिम और यूरोप को जाने वाला सिल्क रूट कुषाण सामाज्य से गुजरता है । यह मार्ग रेशम के व्यापार के लिए विख्यात था । सिल्क मार्ग से कुछ माल भारत आता था और भरुकच्छ बन्दरगाह से दूसरे देशों को निर्यात किया जाता था । ईसा की प्रथम दो शताब्दियों तक रोम के साथ व्यापार चलता रहा । आर एस. शर्मा के अनुसार 'मध्य एशिया के साथ व्यापार होने के कारण उत्तरी भारत के नगरों. का विकास हुआ और रोम तथा एशिया के साथ व्यापार के कारण दक्षिण भारत के शहर विकसित हुए। 'इस प्रकार हम कह सकते है कि मुद्रा प्रणाली का आविर्भाव और रोमन मुद्राओं के भारत में आगमन से व्यापार विनिमय को प्रोत्साहन मिला, जिसके फलस्वरूप व्यापारिक केन्द्रों का नगरीयकरण हुआ । व्यापारिक मार्गों पर स्थित नगरों की विशेष महत्ता थी । उत्तरपश्चिमी में स्थित कम्बोज और गंगा घाटी के कौशाम्बी, कौशल, वाराणसी आदि का व्यापार मार्गों पर स्थित होने का विशेष महत्व था । इन नगरों में घोड़े के सौदप्तारों के उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलते है । व्यापारियों द्वारा उत्तरपथ से आकर बनारस में घोड़े बेचे जाने के उल्लेख आये है ।

स्मरणीय है कि कुछ नगर शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित हुए । बौद्ध, जैन एवं बाहण साहित्य से इस बात का बोध होता है कि तक्षशिला, बनारस एवं उज्जैन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे । पाटलिपुत्र के निवासी जीवक ने तक्षशिला जाकर अध्ययन किया था जो आगे जाकर आयुर्वेद का महान विद्वान बना । कौशल नरेश प्रसेनजित, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य, कौटिल्य, पाणिनि (व्याकरणाचयि) एवं पतंजलि आदि ने यही से शिक्षा प्राप्त की थी । इस युग में शिक्षा के प्रसार ने नये विकसित हो रहे नगरों की ओर लोगों को आकर्षित किया । सेना में भरती एवं राज्य की नौकरी पाने की इच्छा से भी लोग राजधानी में बसने लगे थे । समुद्रतट

के निकट विकसित होने वाले नगरों के लिए कच्छ शब्द का प्रयोग किया जाता था जैसे पृगुकच्छ आधुनिक काठियावाड़ को वारूकच्छ कहा जाता था । इसी प्रकार महीरेवा का पिप्पलीकच्छ नाम था। इस प्रकार नगरों के विकास में कई कारक अपना योगदान कर रहे थे । किसी एक मात्र कारण को नगरों के विकास में उत्तरदायी नहीं माना जा सकता प्रत्युत ये विविध परिस्थितियों एवं तथ्यों के समुचय के परिणाम थे । हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि किसी एक शहर में किसी एक तत्व का अधिक प्रभाव रहा जबकि दूसरे में किसी अन्य तत्व का ।

4.3 नगर योजना

इस काल के शहरी आवासों का निर्माण अक्सर मिट्टी व लकड़ी से किया जाता था तथा छत खपरेल की होती थी । इस प्रकार के घर आज भी गंगा के मैदानी इलाकों में देखे जा सकते है । धीरे–धीरे घरों के निर्माण में पक्की इटों एवं पत्थरों का उपयोग शुरू हुआ । समकालीन ग्रंथों के आधार पर नगरीय जीवन का चित्रण सरलता से किया जा सकता है । नगरों में राज्य के प्रमुख आधिकारियों के आवास मध्य में बनाये जाते थे । राजा एवं विशिष्ट जन अपने–अपने प्रसादों से नगरीय शोभा में अभिवृद्धि करते थे । राज प्रसाद की भव्यता के अनेक उदाहरण तत्कालीन साहित्य में मिलते है । चाणक्य (कौटिल्य) ने अर्थशास्त्र (तृतीय अध्याय) में नगर विधान एवं दुर्ग विधान का निरूपण किया है1 उन्होंने एक आदर्श नगर की तस्वीर प्रस्तुत की है जिसके अनुसार : 'आठ सौ गांवो में एक स्थानीय संज्ञक विशिष्ट नगर की रचना जनपद के मध्य में करे, जो कि राजा की धन वसूली का केन्द्र भी हो (वहां राजस्व अधिकारी नियुक्त हो) । वास्तुविद्या विशेषज्ञों के अनुसार ऐसा नगर किसी प्रशस्त स्थान पर, नदी के संगम स्थल के समीप अथवा जलपूर्ण बड़े जलाशय के तट पर बनवाया उस नगर को वास्तु स्थिति के अनुसार गोल, चौकोर या लम्बा रखे । नगर के चारों और जलयुक्त नदी का प्रवाह अथवा जल से पूरित खाई अवश्य हो । नगर के चारों और की उत्पादित वस्तुएं लाकर संग्रह करने और क्रय–विक्रय करने की पूर्ण सुविधाएं रहें तथा उसका सम्पर्क जस्कथल मार्गो से भी रखा जायें नगर के चारों ओर एकएक दण्ड (चार–चार हाथ) के अन्तर पर तीन खाइयां हो जो क्रमश : चौदह दण्ड, बारह दण्ड और दस दण्ड चौड़ी तथा इससे पौन या आधी गहराई रहे अथवा चौड़ाई की तिहाई भाग ही गहराई रखे । उन खाइयों का तल पाषाण विछा कर पक्का किया जाना चाहिए उनकी दीवार भी पत्थरों से पक्की करवाई जाये । खाइयों में भूमिगत जल अथवा किसी नदी का जल सदैव प्रवाहित रहे । ' ईट उपलब्ध न होने पर पत्थर से प्रकार (परकोटे) की रचना करें । परकोटा काष्ठ का न हो । काष्ठ के परकोटे से अग्नि का भय बना रहता है । परकोटे के भीतर भवनों (अटालिकाओं) का निर्माण किया जाये । प्रत्येक भवन की पारस्पारिक दूरी तीस दण्ड रहे और प्रत्येक दो भवन के मध्य रथ के चलने योग्य वीथि (सड़क) बनी हो ' ।

यद्यपि चाणक्य की नगर योजना एक आदर्श नगर का चित्र प्रस्तुत करती है क्स इसके कुछ तत्वों का मिश्रण तत्कालीन नगरों के निर्माण में अवश्य रहा होगा क्योंकि चाणक्य की नगरीय योजना की पुष्टि मेगस्थनीज के पाटलिपुत्र के वर्णन से भी होती है । मेगस्थनीज

(मेकक्रिम्हल की एंश्येष्ट, पृ. 187) ने पालिवेस्था (पाटलिपुत्र। के शासन की 5–5 सदस्यों की 6 समितियों का उल्लेख किया है । उसके अनुसार पाटलिपुत्र 80 स्टैडिया लम्बा एवं 1 दु स्टैडिया चौड़ा था, इसका आकार समानान्स चतुर्भुज की भांति था और इसके चारों और लकड़ी की दीवार थी जिसमें तीर छोड़ने के लिए छिद्र बने हुए थे । राजधानी के सामने खाई भी थी । एरियन (मैकक्रिण्डल पृ 20 9–210) इस विवरण को आगे बढ़ाते हुए लिखते है कि पाटलिपुत्र में दु 70 स्तम्भ एवं 64 द्वार थे । पतज्जलि ने भी महाभाष्य में पाटलिपुत्र का कई बार जिक्र किया है । उन्होंने पाटलिपुत्र को शोण (नदी) के किनारे स्थित बताया है और इसके विशाल प्रासादों (भवनों) एवं प्राकार (परकोटे) का भी उल्लेख किया है ।

तत्कालीन साहित्य में राजमार्गों का वर्णन मिलता है जो नगर के मध्य में होकर. जनपदों की और जाते थे । राजपथ के दोनों ओर अनेक विशाल भवन निर्मित किये जाते थे जो वातायनों एवं तोरणों से अलंकृत होते थे । विशिष्ट एवं समृद्ध नागरिकों के विशाल भवन लोगों के आकर्षण के केन्द्र थे । अशोक के पाटलिपुत्र स्थित राजप्रसाद का वर्णन चीनी यात्री फाहियान ने सात सौ वर्ष. बाद. किया था, उसने लिखा था कि नगर में अभी तक अशोक का राजप्रसाद और सभाभवन है । ये वब असुरों के बनवाए हुए है । पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गए है । राजपथ आजकल की तरह कोलतार या सिमेंट आदि से निर्मित नहीं होते थे तत्कालीन राजमागों पर जब व्यापारियों का काफिला गुजरता था तो उनके पीछे धूल के गुब्बारे निकलते रहते थे ।

साहित्यक साक्ष्यों की पुष्टि के लिए पुरातात्विक साधनों का विश्लेषण करना समीचीन होगा । अब तक किये गये उत्खनन से प्राप्त विवरणों से प्राचीन भारत के नगरों के बारे में विस्तृत जानकारी दी जा सकती है । अभी हाल ही में डा. रामशरण शर्मा (भारत के प्राचीन नगरों का पतन, राजकमल, दिल्ली 1996) ने विविध स्थलों पर किये गये उत्खनन के परिणामों को सारगर्भित रूप में प्रकाशित कर भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को लोगों के समक्ष रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया है उनकी मान्यता है कि 'भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापक संख्या में उपलब्ध आरम्भिक ऐतिहासिक स्थलों. में केवल तक्षशिला, कौशाम्बी, अहिच्छात्र और नागार्जुन कोंडा का बड़े पैमाने पर उत्सनन हुआ । अंतरजीखेड़ा, राजघाट, खैराडीह और चिराद का उत्खनन भी यथेष्ठ हुआ है लेकिन मधुरा जैसे अतिमहत्वपूर्ण स्थल की अभी तक समुचित खुदाई नहीं हुई है । 'वस्तुत किसी भी स्थल के व्यापक पैमाने पर उत्खनन किए जाने से ही किसी नगर के आकार और उसकी आबादी के बारे. 'में' सही अनुमान लगाया जा सकता है । एक स्थल पर एकाधिक टीलों की उपस्थिति घनी आबादी की घोतक मानी जाती है और मकानों की सघनता भी उस बस्ती की अधिक आबादी को इंगित करती है । इसी प्रकार शहर किसी नदी के तट पर स्थित नहीं है तो तालाबों और छल्लेदार कुओं की अधिकता से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी बड़ी आबादी को इन से जलापूति की जाती थी । विविध कामगारों की बस्ती में उपस्थिति उसकी नगरीय बस्ती होने का प्रमाण मानी जाती है । दूसरे शब्दों में गैर कृषकों की उपस्थिति शहरी आबादी का विशिष्ट लक्षण है । जैसा उल्लेख किया गया है— भारत के अधिकांश प्रारम्भिक नगर नदी मार्गों एवं व्यापारिक मार्गों पर

स्थित थे । कुरू राज्य में इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर, यमुनातट पर कौशाम्बी और गंगा पर बनारस तट (वाराणसी या काशी) आदि इस तथ्य के प्रमाण है । डी. डी. कोसंबी (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 119) ने कहा भी है कि 'ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के शुरूआत में इन नगरों की स्थापना को केवल इसी आधार पर समझा जा सकता है कि अभेद्य जंगलों और दलदल वाले प्रदेशों से तेजी से बहने वाली इन विशाल नदियों से पहले से ही नौकाओं का आवागमन होता था – ऋग्वेद में सौ डौंडोंवाली नौकाओं के और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल यात्रा के संक्षिप्त उल्लेख मिलते, है जिनसे पता चलता है कि आर्य लोग नाव चलाना जानते थे । इन सारी बातों का यही एक निष्कर्ष निकलता है कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्त्राब्दी के आरम्भकाल के ये अज्ञातनामा साहसी अग्रगामी समुद्र तक पहुंच गए थे और इन्होंने कच्ची धातुओं के भंडारों को खोज निकाला था, अन्यथा गंगा तट पर वाराणसी के किले की खुदाई में तटबंध के नीचे पुरावशेष प्राप्त होने का कोई कारण या अर्थ नहीं हो सकता ।

सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग अयोध्या कोशाम्बी और श्रावस्ती अस्तित्व मे थे । इन बस्तियों में रहने वाले लोग विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तनों को उपयोग में लेते थे । छठी शताब्दी तक आते–आते इस समूर्ण क्षेत्र के निवासी उत्तरी काली पॉलिश वाले मृदभाण्डों (एन. बी. पी. डब्लू) का उपयोग करने लगे । इस विशेष प्रकार के चमकदार परत वाले मृदभाण्ड इस बात के प्रमाण है कि इस समय गंगा घाटी के नगरों में व्यापक सांस्कृतिक एकरूपता थी । संभवत कुछ ही नगरों के कामगार इस प्रकार के मृदभाण्डों का निर्माण करते थे और दूसरे स्थलों पर इस तरह के मिट्टी के बर्तन व्यापारियों द्वारा निर्यात किये जाते थे ।

श्रावस्ती का उत्खनन एक छोटे से भाग में किया गया है । फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि यह नगर पांचवी शताब्दी में अपने पतन पर था । इलाहाबाद से लगभग साठ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में स्थित कौशाम्बी में खुदाई अधिक विस्तृत क्षेत्र में की गई है । यहां से अशोक के स्तम्भ लेख (जिस पर समुद्रगुप्त की विजय उत्कीर्ण है) एवं तीन कुषाण लेख प्राप्त हुए है । एक अभिलेख में कोशाम्बी के धोषिताराम विहार का जिक्र है जिससे इस स्थल की पहचान सुनिश्चित हो जाती है । यहां से मघों के बहुसंख्यक सिक्के ईसा दूसरी एवं प्रारम्भिक तीसरी शताब्दियों के उपलब्ध हुए है । अयोध्या में 1969–70 में थोड़ी सी खुदाई की गई । इसके कुबेर टीले से अनेक चरणों में ईटों से निर्मित इमारतों के अवशेष मिले है । पूर्ववर्ती चरण नगर योजना को इंगित करता है । विद्वानों ने इस स्थल को उत्तर काली पालिशदार मृदभाण्ड के समय आबाद माना है । तक्षशिला की स्थापना पांचवी सदी ई. पू. में भी टीले पर की गई जिसका क्षेत्र उत्तर से दक्षिण 12000 गज एचं पूर्व से पश्चिम 730 गज था । मौर्य शासन काल में यह अपनी विकसित अवस्था में था । नगर योजना का अच्छा उदाहरण दूसरे तक्षशिला में देख गया इस नगर को सिरकप कहा जाता है । बैक्ट्रिया के यूनानियों ने दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में इसकी स्थापना की । इसकी योजना यूनानी शहरों की शतरंज पद्धति पर आधारित थी । यदि इसके उपनगरीय भाग को छोड़ दिया जाए तो यह 3..5 मील लम्बा था।

चित्रित धूसर मृदभाण्ड वाले स्थल के रूप में मेरठ जिले में हस्तिनापुर का उल्लेख किया जा सकता है जिसका विकास 200 ई. पू. के लगभाग हुआ और 300 ई. तक लाल

मृदभाण्डों का प्रचलन रहा । विद्वानों ने इसको सात उपकालों में विभक्त किया है जिसमें पक्की ईटों के मकान मिले है । यहां चारों दिशाओं के अनुकूल गृह योजना भी देखी गई है । पांचालों की राजधानी अहिच्छत्र (बरेली जिला) की बस्ती में 300 ई. पूर्व कच्ची ईटों को उपयोग में लाया जाता था और पक्की ईटें ई. पू. पहली सदी में प्रयुक्त हुई, उस समय यह नगर 3.5 मील लम्बी पक्की ईटों की दीवार से दुर्गीकृत था । यहां से अनेक सिक्के मित्र उपाधि वाले राजाओं के प्राप्त हुए हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य में वर्णित प्राचीन नगरों की उत्खनन से प्राप्त अवशेषों की पुष्टि होती है । प्रारम्भ में भवन निर्माण हेतु लकड़ियों का उपयोग किया जाता रहा जब लकड़ी विपुल मात्रा में उपलब्ध थी । लेकिन धीरे–धीरे लोगों ने कच्ची ईटों एवं बाद में पक्की ईटों तथा पत्थर का उपयोग करना शुरू किया । यद्यपि द्वितीय नगरीय क्रांति में नगरों से हड़प्पा सभ्यता की तरह योजना बद्ध नगरों का विकास नहीं हुआ और न वहां की तरह समुचित प्रणाली (पानी के निकास हेतु नालियां) अवस्था विकसित हो पाई थी । इन नगरों का विकास स्वभाविक प्रक्रिया का परिणाम था । सड़कें बिछाने का इस काल में पूरा ध्यान रखा जाता था । और धीरे–धीरे ईटों एवं पत्थरों में विशाल भवनों का निर्माण करना शुरू किया जैसा तत्कालीन साहित्थ में विवरण मिलना है । यद्यपि तत्कालीन साहित्य में नगरों की शान–शौकत को कुछ अधिक बढ़ा–चढ़ा कर दर्शाया है फिर भी इसके परिवर्ती दौर में नगर अपने विकासमान संस्कृति के प्रतीक थे ।

4.4 नगरों के प्रमुख व्यवसाय

शहरी व्यवसायों पर कारीगरों एवं व्यापारियों का प्रभाव था वो विस्तृत क्षेत्र के लिए वस्तुओं का उत्पादन और विनिमय करते थे । शहरी अर्थव्यवस्था के विकास में कुछ तत्वों का विशेष योगदान रहता था जैसे : अतिरिक्त अन्न उत्पादन (समीप के गांवों से जिसकी पूर्ति होती थी) कारीगरों के उत्पाद, व्यापारिक समुदाय का विकास, धातुमुद्रा का प्रचलन, शासकीय निकाय एवं शिक्षत वर्ग । सामान्यत : शहरों के कारीगर विविध व्यवसायें में संलग्न रहकर उत्पादन करते थे और व्यापारी वर्ग शहर एवं अन्य नगरों के साथ व्यापार करते थे । नगरों का एक वर्ग जिसे कारीगर या उत्पादक वर्ग कहा जाता है विभिन्न व्यवसायों द्वारा माल उत्पादन करते थे । एक वर्ग ऐसा भी था जिनका किसी प्रकार के उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं था । दूसरा वर्ग राज्य सेवा में लगे हुए अधिकारियों का था इसी श्रेणी में सेना को भी रखा जा सकता है । इनका शहरी अर्थव्यवस्था पर कोई नियंत्रण नहीं था इस श्रेणी के लोगों को सेवाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता था । व्यापारी वर्ग भी इसी तरह का वर्ग था परन्तु वह वस्तुओं के वितरण एवं विनिमय द्वारा शहरी अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान करता था अनेक नगरों की खुदाई से प्राप्त अवशेषों के आधार पर तत्कालीन व्यवसायों का वर्गीकरण सरलता से किया जा सकता – जैसे मिट्टी के बर्तन बनाने वाला समुदाय (कुम्हार या कुलाल) का महत्व बड़ी मात्रा में उत्तरीकाली पालिश वाले मृदभाण्डों की उपलब्धि से स्पष्ट है । बढ़ई गिरी एवं लकड़ी की वस्तुओं के निर्माण करने वालों का उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है और इस वर्ग का महत्व आगे भी बरकरार रहा । उत्तरवैदिक साहित्य, बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में भी इनकी चर्चा मिलती है ।

विविध धातुओं का काम करने वाले वर्ग की जानकारी ऋग्वेद से मिलने लगती है । बौद्ध एवं जैन साहित्य स्वर्णकारों, लोह सामग्री निर्माताओं को महत्वपूर्ण उत्पादक वर्गों में रखा गया । मिलिदपन्हों में सोना, तांबा, लोहा, सीसा, टिन आदि की वस्तुओं के निर्माण करने वाले अलग–अलग वर्गों का उल्लेख मिलता है । तत्कालीन शहरी केन्द्रों के उत्खनन से प्राप्त हाथीदांत की वस्तुएं, सिक्के, पत्थर व शीशे की वस्तुएं, मनके, ताबे व लोहे की वस्तुएं आदि अनेक प्रकार के कारीगर वर्ग के अस्तित्व के प्रमाण है ।

वर्तमान बनारस जो भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है इसकी प्रसिद्धि एक तीर्थ केन्द्र होने के कारण थी । तीर्थों में देश के कोने–कोने से लोग आते थे और देवी–देवताओं को कुछ न कुछ भेंट करते थे । इस तरह से मन्दिरों के पुजारी वर्ग तीर्थ यात्रियों के संसाधनों को अपनी ओर खींचने में सक्षम थे । दूसरे शब्दों में नगरीय केन्द्र अपनी भौतिक सीमा के बाहर रहने वाले लोगों को भी धार्मिक सेवाओं के अतिरिक्त प्रशासनिक एवं आर्थिक सेवाएं प्रदान करते थे । धार्मिक सेवायें ब्राह्मण या पुजारी वर्ग, प्रशासनिक सेवा राज्य सेवक तथा आर्थिक गतिविधियों को व्यापारी वर्ग नियन्त्रित करते थे । नगरों में रहने के कारण ही व्यापारी वर्ग धातुओं, खनिजों एवं विलासिता की सामग्री की आपूर्ति को नियंत्रित करके नगरीय प्रभाव क्षेत्र के ग्रामीणों के संसाधनों के एक भाग पर कब्जा करने से सफल हो जाते थे ।

4.4 (ब) इस प्रकार शहरी लोग जो ग्रामीण क्षेत्रों के अतिरिक्त संसाधनों को अपनी ओर खींचने में सफल होते है ग्रामीण लोगों की तुलना में अधिक धनी होते है और अपने इस धन के बल पर ही आलीशान भवनों का निर्माण करवा पाते है । नगरीय जन अपने धन से सम्मान तथा ताकत प्राप्त करने में करते है । आज की तरह उन दिनों अपने धन से लोग विशाल महल, सुन्दर मन्दिरों का निर्माण करवाते थें कुछ लोगों की रूचि अपने धन को अधिक बढ़ाने में रहती थी । इसी तरह कुछ लोग धन के बल पर मूल्यवान धातुओं व पत्थरों को संग्रह करते थे ।

जहां तक शिल्पकारों एवं कामगार का सवाल है उन्हें सम्पन्न लोगों की तरह विशेषाधिकार प्राप्त न थे, परन्तु इन लोगों में अपने व्यवसायिक कौशल में वृद्धि तथा अधिक लाभ की कामना से अपने को संगठित करने की प्रवृति का विकास उनमें होता हुआ देखते है । पालिग्रंथों से जानकारी मिलती है कि गौतम बुद्ध के काल में विभिन्न प्रकार के शिल्पी नगरों में बसते थे और उनकी अपनी–अपनी वीथी (गली) होती थी । श्रेणी और निगमों के रूप में ये अपने को संगठित करते थे । रोमिला थापर (भारत का इतिहास, पृ. 55) ने इनके विषय में लिखा है नगरों के विकास के साथ शिल्पियों की संख्या में वृद्धि हुई, जो श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक श्रेणि नगर के एक निश्चित भाग में बसी हुई थी जिससे एक श्रेणी के सदस्य एक साथ रहकर कार्य कर सकते थे और आम तौर पर उनमें सम्बन्ध पाया जाता कि उन्हें एक जाति के रूप में देखा जाने लगा ।

नगरों में रहने वाले लोगों में सबसे खराब स्थिति स्वच्छकारों (भंगियों), चाण्डालों, धोबियों एवं भिखारियों की थी । अन्तिम संस्कार के लिए भंगियों का महत्व था । इनकी स्थिति अत्यन्त खराब थी । जाति व्यवस्था में इनका स्थान सबसे नीचे और शहरों से बाहर इनके निवास थे । जहां कामगारों की स्थिति उनके व्यवसायिक कौशल के कारण ठीक थी वहीं

इस तिरस्कृत वर्ग की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी और इस तरह समाज में धनी और गरीबों का अस्तित्व नगरीय जीवन की एक विशेषता बनी ।

4.5 नगरों का अर्थव्यवस्था के विकास में योगदान

अनेक विद्वान तत्कालीन नगरीयकरण को परजीवियों का संस्कृति स्वीकार करते हुए उनका समाज के लिए कोई विशेष योगदान नहीं मानते क्योंकि शहर में उपभोग की सब–कुछ सामग्री गांवों से प्राप्त होती थी । और शहरी लोग गांवों के अधिशेष का उपभोग करते तथा जनपद के लोगों पर भार स्वरूप थे । इस श्रेणी में शासकवर्ग, राज्य के अधिकारी, सैनिक, पुरोहित और कुछ हद तक व्यापारी सम्मिलित थे । इस सम्बन्ध में डा. रामशरण शर्मा (प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 187) ने उल्लेख किया है कि उत्पादन के प्रबंध से कुछेक लोगों का सम्बन्ध अवश्य था परन्तु वे स्वयं भी पैदा करने में हाथ नहीं बंटाते थे । पर इसमें सन्देह नहीं कि शहरों में बहुत से शिल्पी और तरह–तरह के कामगार हस्तशिल्प में लगे थें उनके और व्यापारियों के कार्यकलाप के कारण शहर विनिमय उद्योग धंधे और तकनीक के केन्द्र बन गये थे । इसलिए हस्तशिल्प और एक प्रकार से खद्यान के उत्पादन में भी शहरों के योगदान नकारा नहीं जा सकता । सारे शहर को परजीवी, समझना गलत होगा । इसलिए प्राचीन शहरों के उत्पादक पक्ष की अनदेखी नहीं की जा सकती है । शहरों के कारण राजतंत्र भी मजबूत होता था । नगरों के शिल्पकारों की श्रेणियों तथा वाणिज्यिक समुदाय के संगठन धीरे–धीरे प्रभावशाली होने लगे थे । अलग–अलग नगरों में कुछ विशिष्ट वस्तुओं का बड़ी मात्रा में निर्माण होता था और फिर सारे देश में उनका वितरण किया जाता था । मुद्रा के प्रचलन से व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई । इस युग की नगरीय संस्कृति में पनपे हस्तशिल्प का ही परिणाम था कि रोम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध कायम हुआ । यहां सिल्क वस्त्र एवं अन्य हस्तशिल्प की सामग्री का निर्यात बड़ी तादाद में हो रहा था और रोम से स्वर्ण सिक्कों के रूप में भारत आ रहा था ।

नगरीयकरण का परिणाम यह भी था कि वाणिज्य व्यापार एवं वाणिज्यक मार्गों का विकास हुआ! जिसका चरमोत्कर्ष कुषाण काल में देखा जाता है । व्यापारिक मार्गों की चर्चा आगे की जायेगी यहां यह जान लेना पर्याप्त है कि रोमन साम्राजय से होने वाले व्यापार का काफी बड़ा भाग इन मार्गों से होकर गुजरता था । पालिग्रंथों से ज्ञात होता है कि व्यापारी पांच–पांच सौ बैलगाड़ियों से माल ढाकर ले जाते थे । कश्मीर व उज्जयिनी से लाई गई अनेक वस्तुएं भरुकच्छ (भड़ोच) के बन्दरगाह से पश्चिमी देशों को भेजी जाती थी । इस प्रकार नगरीय लोगों के आर्थिक विकास में योगदान को भुलाया नहीं जा सकता ।

4.6 नगरीयकरण का विघटन

तीन सौ ईस्वी के बाद अधिकांश नगरों का पतन होने लगा । वाई. डी. शर्मा के अनुसार बडे नगर गुप्त और गुप्तोत्तरकाल में पतनावस्था में पहुंच गये थे नगरों के पतन पर डा. रामशरण शर्मा (भारत के प्राचीन नगरों का पतन) ने गहन अध्ययन किया है और कुछ महत्वपूर्ण साक्ष्य जुटाये है उनकी मान्यता है कि पांचवी और छठी शताब्दियों तक नगर प्रशासन में वाणिज्यक, व्यापारिक और शिल्पीय तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका थी और भूमि की खरीद–

फरोख्त में उनकी सहमति आवश्यक समझी जाती थीं । बिना उनकी राय के नगरीय प्रशासन जिले में कोई भूमि नहीं बेच सकता था । लेकिन गुप्तोत्तर काल में ऐसा नहीं था । नागरिक प्रशासन में सौदागरों, व्यापारियों एवं शिल्पियों का कोई योगदान नहीं था । इस आधार पर निष्कर्षत : कहा गया है कि सातवीं से दसवीं शताब्दियों तक के काल में व्यापार और नगरीयकरण मंद पड़ गए और जो लोग शिल्प तथा वाणिज्य में लगे हुए थे उनका महत्व कम हो गया ।

डा. शर्मा के अनुसार दूसरा महत्वपूर्ण कारण जिसकी चर्चा उन्होंने अपने प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास नामक ग्रंथ में की है, भारत और रोम के बीच तेजी से घटता हुआ व्यापार था । भारत और अन्य पूर्वी देशों के साथ व्यापार के कारण रोम का खजाना खाली होने लगा रोमन शासकों ने भारतीय उत्पादों के आयात पर प्रतिबंध लगा दिया । तीसरी शताब्दी के अन्त तक भारत के साथ रोम का व्यापार बहुत घट गया था । इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति का भी व्यापार–व्यवसाय पर बुरा प्रभाव पड़ा । जब तक सातवाह एवं कुषाणों की सत्ता रही तब तक कानून एवं व्यवस्था बनी रही जो व्यापार की प्रगति के लिए एक आवश्यक शर्त होती है । व्यापारियों को स्थान–स्थान पर चुंगी नहीं देनी पड़ती थी । उनके पतन के बाद धीरे– धीरे शहर अपने पतन की ओर अग्रसर हुए ।

गुप्तकालीन भूमिदान की प्रथा भी नगरीयकरण के लिए घातक सिद्ध हुई । गुप्त शासक और सामन्त भूमि के साथ नगर भी दान करने लगे । नगरों व गांवों के दान से वाणिज्य व्यापार पर बहुत से प्रतिबंध लग गए अब नये स्वामियों (बोद्ध भिक्षुओं या पुरोहित वर्ग जो भूमि एवं नगरों का दान ग्रहण करते थे) के अधीन व्यापारियों एवं शिल्पकारों को पूर्व की भांति स्वतंत्रता न थी । अब नगर भी एक तरह से सामन्ती व्यवस्था के अंग बन गये थे । इस प्रकार गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में अनेक तत्व नगरीयकरण के पतन के लिए एक साथ जुट गये थे ।

4.7 सारांश

इस इकाई में हमने नगरीयकरण उद्भव के बारे में जानकारी प्राप्त की है । नगरों की उत्पत्ति कृषि क्षेत्र में कई तकनीक का विकास का एक परिणाम थी । लोहे के उपयोग से कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई और अधिशेष नगरी जनता के उपभोग हेतु पहुँचने लगा । नगर के लोग जो पहले कृषि व्यवसाय पर ही अपनी जीविका चलाते थे ग्रामीण अधिशेष की समुचित उपलब्धता के फलस्वरूप अन्य व्यवसायों की ओर उन्मुख हुए । लोहे की तकनीक से अधिक खाद्यान्नों का उत्पादन जब होने लगा वही ऐसा महत्वपूर्ण मोड़ या जिसने विविध व्यवसायों को जन्म दिया । और अलग–अलग व्यवसायों से सम्बद्ध लोग एक बड़ी बस्ती में रहने लगे जो आगे जाकर नगर कहलाये । इसी प्रकार धान की रूपाई द्वारा भी किसान अधिक उत्पादन प्राप्त करने लगे थे । धान का अधिशेष (सरप्लस) बनना महत्वपूर्ण कारक बना । नगरों के विकास में प्रारम्भ में नदियों, बड़े जलाशयों की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही जहां सरलता से बड़ी बस्तियां विकसित हो सकी तथा नदियों से नावों का संचालन संभव हुआ और नौ संचालन में व्यापार में प्रगति हुई । नगरों की उन्नति के लिए व्यापार व्यवसाय ने रीढ़ का कार्य किया ।

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. द्वितीय नगरीय क्रान्ति से आप क्या समझते है? (250 शब्दों में)
2. द्वितीय नगरीय क्रान्ति में नगर योजना को साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर समझाये । (500 शब्दों में)
3. नगरों के पतन की व्याख्या कीजिये। (500 शब्दों में)
4. नगरों का आर्थिक विकास में क्या योगदान रहा? विवेचना करे। (250 शब्दों में)

4.9 पठनीय ग्रंथ

रामशरण शर्मा :भारत के प्राचीन नगरों का पतन, राजकमल दिल्ली ।

रामशरण शर्मा :प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, हिन्दी कार्या, निदेशालय दिल्ली ।

दामोदर धार्मानंद कोसंबी :प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता राजकमल दिल्ली ।

डा. जयशंकर मिश्र :प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना ।

पी.एल. गौतम और कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत, जयपुर ।

इकाई – 5

प्राचीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 आद्य ऐतिहासिक युग में व्यापार और वाणिज्य

5.4 द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया तथा व्यापार एवं वाणिज्य

5.5 मौर्यकाल में व्यापार और वाणिज्य

5.6 शुंग–शक–सातवाहन–कुषाण काल एवं रोम साम्राज्य से सम्पर्क तथा व्यापार एवं वाणिज्य

5.7 सामंत युग का प्रारम्भ एवं वाणिज्य तथा व्यापार

5.8 उपसंहार

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.10 संदर्भ ग्रंथों की सूची

5.1 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन में व्यापार एवं वाणिज्य की स्थिति का अध्ययन करना है इस उद्देश्य को मद्देनजर रखते हुए इस इकाई में हड़प्पा संस्कृति से प्रारंभ कर विभिन्न राजपूत राज्यों के अभ्युदय के काल तक प्राचीन भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य का सिंहावलोकन करने का प्रयत्न किया गया है । इस इकाई का उद्देश्य यह भी है कि भारतीय चिंतन परम्परा ने पारलौकिक जीवन में जहां एक ओर आध्यात्मिक उन्नति के शिखर को प्राप्त किया था, वहीं दूसरी ओर भारतीय चिंतक भौतिक उन्नति के प्रति भी सचेत थे । इस काल में व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में भारतीय वणिकों ने उन्नति के उस शीर्ष को प्राप्त कर लिया था, जो पुन: प्राप्त नहीं किया जा सका ।

5.2 प्रस्तावना

इस इकाई में आद्य ऐतिहासिक अर्थात हड़प्पा संस्कृति के समय से प्रारम्भ कर परवर्ती गुप्त काल अर्थात 700 ई. तक के व्यापार एवं वाणिज्य का सिंहावलोकन किया गया है । इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे कि हड़प्पा संस्कृति के समय भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य ने विदेशी सम्बन्ध भी स्थापित किए थे जो इस संस्कृति के पतन के साथ ही समाप्त हो गए । इसके पश्चात् भारतीय इतिहास में हम पुन : प्रारम्भिक कृषि समाज से तत्कालीन मानव की यात्रा का आरंभ देखते है कि किस तरह प्राचीन भारतीयों ने अतिरिक्त उपज पैदा करके एक ऐसे आत्म–निर्भर समाज को विकसित किया जिसमें उत्पादन के साधनों की बहुलता ने उत्पादकों के संबंधों को भी विस्तृत आयाम दिए और इन्हीं कारणों से मौर्यकालीन केन्द्रीकृत व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हो सका । इन आधारभूत विशेषताओं ने ही द्वितीय शताब्दी ई. पू. से

द्वितीय शताब्दी ई. के मध्य रोमन साम्राज्य से व्यापारिक संबंध स्थापित कर भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य को तत्कालीन विश्व में उच्चतम शिखर प्रदान किया ।

5.3 आद्य ऐतिहासिक युग में व्यापार और वाणिज्य

भारतीय इतिहास का प्रारंभ हड़प्पा संस्कृति के उद्भव एवं विकास से माना जाता है । अभी तक उत्खननों से प्राप्त विवरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा के अतिरिक्त इस संस्कृति का प्रसार विस्तृत भू–भाग में था जिसके अन्तर्गत पंजाब, हरियाणा, राजस्थान तथा गुजरात के भू–भाग भी थे । इन महत्वपूर्ण आधुनिक राज्यों के रोपड़, राखीगड़ी, बनावली, कालीबंगा, बगसरा, पादरी तथा धोलावीरा आदि हड़प्पा संस्कृति के महत्वपूर्ण केन्द्र थे । इस संस्कृति के अन्तर्गत निवसित नगर अथवा कस्बों की जनसंख्या बहुत थी तथा इन नगरों अथवा कस्बों में बने मकान एक–दूसरे के काफी समीप थे एवं इनमें सम्भवत पुरोहित, जो शासक वर्ग भी था के अलावा, व्यापारी, शिल्पी आदि निवास करते थे । हड़प्पा के निवासियों का अपनी समकालीन संस्कृतियों से व्यापारिक सम्पर्क भी था । अभी तक हड़प्पा संस्कृति से सम्बद्ध लिपि को पढ़ा नहीं जा सका है इसलिए इस संबंध में विस्तृत रूप से कुछ कहना संभव नहीं है लेकिन यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि तृतीय सहस्त्राबादी ई. पूर्व के मध्य से लेकर प्रथम शताब्दी ई. पू. के मध्य तक संस्कृति अपने वैभव में रही तथा इस संस्कृति का इस काल में व्यापार एवं वाणिज्य समृद्धि शिखर पर था ।

1550 ई. पू. में इस संस्कृति के पतन के पश्चात् 600 ई. पूर्व तक का काल भारतीय इतिहास में वैदिक, उत्तर वैदिक युग एवं ताम्र संस्कृतियों का काल है । भारत में विद्यमान विभिन्न ताम्र संस्कृतियों के महत्वपूर्ण पुरास्थलों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में ग्राम्य संस्कृति विद्यामान थी तथा जिनका व्यापार एवं वाणिज्य अतिरिक्त उपज के अभाव में अत्यन्त सीमित ही रहा होगा । दूसरी ओर वैदिक, उत्तर वैदिक कालीन साहित्य से यह ज्ञात होता है कि इस काल में चर्म का कार्य करने वाले, बुनने वाले, रथों के पहिए निर्मित करने वाले तथा धातुकर्मियों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान था । वैदिक कालीन साहित्य का अनुशीलन करने से यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि ऋग्वैदिक आर्य मूलतः युद्धों में संलग्न रहते थे, इस कारण संभावता वह अतिरिक्त उपज उत्पन्न नहीं कर सके थे जो व्यापार की प्रथम शर्त होती है । यद्यपि तत्कालीन साहित्य के अनुशीलन से यह प्रमाण प्राप्त होते है कि उनको कृषि की उच्चतम तकनीकों का ज्ञान था लेकिन दूसरी ओर उनका एक स्थान पर बहुत समय तक आवास न करने का स्वभाव एवं पशुपालन उनके द्वारा व्यापार में उन्नति करने में प्रमुख बाधक तत्व भी थे ।

ऋग्वैदिक काल के विपरीत उत्तर वैदिक काल, जिसका तिथि निर्धारण 1000 ई. पू. से 600 ई. पू. के मध्य किया जाता है, में जब आर्यों का पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश और उत्तर बिहार में विस्तार हुआ तो इनकी भौतिक संस्कृति में काफी वृद्धि हुई । तत्कालीन साहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि इस समय आर्यों ने घने जंगल जलाए तथा उनमें कृषि कर्म किया । इस समय के साहित्य से हमें 6,8,12 एवं 24 बैलों द्वारा भूमि जोतने के प्रमाण प्राप्त होते है । इतने अधिक बैलों द्वारा जुताई का कार्य उस अवस्था में ही

संभव था जब वह जोतने का कार्य लोहे के हल से करते । तत्कालीन साहित्य से इस संबंध में यह सूचना भी प्राप्त होती है कि तत्कालीन आर्य श्याम रंग की धातु से परिचित थे । इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि कुछ पुरातात्विक स्त्रोतों से भी होती है । राजस्थान के नोह जैसे स्थानों से प्राप्त लोहे के प्रमाणों का कार्बन 14 तिथि निर्धारण 1000 ई. पू. के लगभग होता है।

इस तरह से यह माना जा सकता है कि आर्यों ने उत्तर अवस्था में लोहे का विकास कर लिया होगा तथा वह व्यापक स्तर पर कृषि करने लगे होंगें । पुरातत्ववेत्ताओं ने वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल को मृद्भभाण्डों की दृष्टि से चित्रित घूसर मृदभाण्ड संस्कृति (Printed Grey Ware) कहा है । यदि चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति के क्रम का अध्ययन किया जाए तो यह परिलक्षित होता है कि चित्रित घूसर मृदभाण्ड संस्कृति की उत्तर अवस्था 1000 ई. पू. से 500 ई. पू. के मध्य इनको लोहे का ज्ञान अनिवार्यत : हो गया था । लेकिन अभी तक ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यह लोहे के हल निर्मित करने लगे थे ।

5.4 द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया तथा व्यापार एवं वाणिज्य

प्रथम सहस्त्राब्दी ई. पू. के मध्य में ठीक 100 वर्ष पूर्व 600 ई. पूर्व भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का परिचालक है । इस समय वैदिक, उत्तर वैदिक कालीन आर्यों विश और जनपद का स्वरूप प्राप्त कर चुके थे जिसके फलस्वरूप 16 महाजनपदों का उत्कर्ष हुआ जिसमें चार ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की और अंतत : यह भी मगध में विलीन हुए । इस समय एक नवीन प्रकार की मृदभाण्ड संस्कृति का विकास हुआ जिसे उत्तर कृष्ण मृदभांड संस्कृति के नाम से जाना जाता है इस समय तक लोह व्यापक स्तर पर प्रयुक्त किया जाने लगा था जिस कारण कृषि का विकास हुआ और चावल, गन्ना, कपास की खेती की जाने लगी, परिणामत : अनेक कस्बों का भी विकास हुआ ।

प्राचीन भारतीय इतिहास में इस परिवर्तन की प्रक्रिया को द्वितीय नगरीकरण के नाम से जाना जाता है । इस समय जहां एक ओर नंद और मौर्य जैसे साम्राज्य विकसित हुए तो दूसरी ओर पाणिनी की अष्टाध्यायी, कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना हुई, अशोक जैसे महान शासक न अनव अभिलेख उत्कीर्ण कराए, वही इस काल में महावीर और बुद्ध के नवीन धर्म का भी उदय हुआ ।

पाणिनी की अष्टाध्यायी एवं अन्य तत्कालीन स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि इस समय कृषि के विस्तृत ज्ञान तथा उपकरणों से कृषक अतिरिक्त उपज उत्पन्न करने में सक्षम हुए तथा इस –उत्पादन से 60 कस्बों के निवासियों के भोजन की व्यवस्था पूर्ण की जा सकती थी तथा शेष का व्यापार किया जाता था। इस काल मे आवागमन के साधनों में भी व्यापक सुधार हो गया था । एक जातक ग्रन्थ के विवरण के अनुसार एक लोहे के लम्बे ब्लेडनुमा टुकड़े को जो दो इंच चौड़ा होता था, पहिए के वाद्य किनारे पर लगाकर के पहिए को मजबूत बना दिया जाता था। इससे यह ज्ञात होता है कि लोहे का इस काल में व्यापक प्रयोग होने लगा था। इस

आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व मौर्यकाल में लोहे के व्यापक प्रयोग से व्यापार एवं वाणिज्य पर्याप्त उन्नति प्राप्त कर चुका था ।

पूर्व मौर्यकाल में बौद्ध दर्शन के अहिंसा के सिद्धांत ने भी व्यापार और वाणिज्य के प्रसार में पर्याप्त योगदान प्रदान किया जिससे पशुधन की बलि पर रोक लगी । सुत्त निपात के अनुसार चौपाए अन्त, शक्ति, सौंदर्य, प्रसन्नता प्रदान करते है इसलिए इनकी बलि नहीं दी जानी चाहिए, ऐसे सिद्धांतों ने भी तत्कालीन व्यापार और वाणिज्य को गति दी और वैदिक कालीन साहित्य में भी अब यह व्यवस्था की गयी कि दुधारू गाय अथवा गाड़ा एवं हल में प्रयुक्त होने वाले बैल के वध से चान्द्रयण पाप होता है । इससे तात्पर्य यह है कि अर्थव्यवस्था की दृष्टि से समाज की सोच में यह स्वस्थ परिवर्तन था ।

पूर्व मौर्यकाल में जंगलों को साफ कर कृषि योग्य भूमि के विस्तार के प्रयास निरंतरता में थे । धर्मसूत्रों में ऐसा विधान बना दिया गया था कि राजा फल–फूल उत्पन्न करने वाले वृक्षों को कृषि योग्य भूमि के विस्तार एवं यज्ञ हेतु काट सकता है । इस समय समाज का भी विभाजन होने लगा था जिसके फलस्वरूप भूमि पर ऊपर के दो वर्गों ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त गृहपति अथवा कुटुम्बिक का अधिकार था । पाणिनी की अष्टाध्यायी से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में क्षेत्रकर जैसे विशिष्ट अधिकारी भी थे जो कृषि योग्य भूमि का विधिवत् विवरण तैयार करते थे । इस तरह से कहा जा सकता है कि पूर्व मौर्य काल में कृषक कर सीधे राज को देता था तथा इस काल में भूमि को क्रय करने, उपहार में देने अथवा गिरवी रखने का अधिकार कृषक को नहीं था । इस समय के जैन स्त्रोतों में भी कई प्रकार के नगरों का वर्णन किया गया है । तत्कालीन साहित्य के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व मौर्यकाल में सम्पूर्ण देश में 60 प्रतिष्ठित नगर थे जो पूर्व में चपा, पश्चिम में भृगुकच्छ, दक्षिण में कावेरीपट्टन तथा उत्तर में कपिल–वस्तु तक विस्तृत थे । श्रावस्ती जैसे 20 नगर थे तथा जिनमें से 6 चम्पा, राजगृह, साकेत, कौशाम्बी, बनारस और कुशीनारा थे । बौद्धकालीन स्त्रोतों से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में 18 श्रेणियां थी जिनमें से काष्ठकर्मियों, धातुकर्मियों, चर्मकर्मियों की श्रेणियां अत्यन्त महत्व की थी । प्रत्येक श्रेणी का एक अध्यक्ष होता था तथा इनके अपने कानून थे ।

इस काल में भौतिक अर्थव्यवस्था भी अस्तित्व में आ चुकी थी इसकी पुष्टि इस काल के आहत सिक्कों से होती है । इस तरह से यह कहा जा सकता है कि पूर्व मौर्यकाल में नगर तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था उस काल के परिपेक्ष्य में अत्यन्त विकसित थी । यह व्यवस्था 600 ई. पू. से 322 ई. पू. तक रही । इसके पश्चात प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य काल की स्थापना हुई । मौर्यकाल में आर्थिक आधार ने राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण किया और व्यापार और वाणिजय को नवीन दिशा प्राप्त हुई ।

5.5 मौर्यकाल में व्यापार और वाणिज्य:

मौर्य साम्राज्य की स्थापना भारत के प्राचीन इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी, अब समस्त भारत पहली बार, राजनैतिक दृष्टि से बंधा था और इसका श्रेय सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य और चाणक्य को था । इस शासन का समस्त आधार राजकीय नियंत्रण का मूलमंत्र था । इस

तंत्र की स्थापना चाणक्य ने की थी । चाणक्य, जिसका दूसरा नाम कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त भी था, ने कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना की थी । इस ग्रन्थ में कौटिल्य ने तीन विद्याओं– आन्विक्षकी, त्रयी और वार्ता का उल्लेख किया है जिसमें से "वार्ता'' के महत्व को जानना इस इकाई के अध्ययन के लिये आवश्यक है । कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धी के व्यावहारिक शास्त्र का प्रवर्तन वार्ता के नाम से किया वार्ता ग्रन्थ का मूल वृत्ति अर्थात जीविका है । कौटिल्य ने वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को समाविष्ट किया है । कौटिल्य का यह भी मत है कि वार्ता समस्त संसार का मूल है और जब तक राजा वार्ता का संपोषण करता रहेगा, तब तक सब कुछ ठीक चलता रहेगा । महाभारत में लगभग ऐसे ही विचार व्यक्त किए गए है, कि राजा को चाहिए कि वह वैश्यों और शूद्रों को अपने–अपने कर्मों में लगाए रखे क्योंकि यदि वे अपने कार्यों से विचलित होगें तो सारी दुनिया में गड़बड़ी हो जाएगी ।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि मौर्य काल में समस्त आर्थिक गतिविधियों यथा–कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य व व्यापार पर सत्ता का नियंत्रण था तथा इन सभी से शासन कर प्राप्त करता था । इस केन्द्रीकृत आर्थिक प्रशासन का कारण यह था कि शासन को अतिरिक्त उत्पादन एवं मुद्रा के रूप में धन की आवश्यकता थी ताकि शासन अपनी विशाल नौकरशाही और सेना तथा अन्य दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके । इसके अलावा मौर्य शासन में एक नवीन प्रवृत्ति विकसित हुई थी जिसके अन्तर्गत राज कोष में आवश्यकता से काफी अधिक मुद्रा सुरक्षित रखी जाती थी ताकि आपातकाल के समय किसी भी विपत्ति का सामना किया जा सके ।

केन्द्रीय शासन के इस सोच ने इस काल में एक ऐसे सुदृढ़ वाणिज्य और व्यापार की प्रगति का आधार निर्मित किया जिस कारण मौर्यकाल काफी लम्बे समय तक टिका रहा । इस समय मौर्य शासन के अन्तर्गत नवीन क्षेत्रों को आवासित किया गया तथा इन क्षेत्रों में कृषि कार्य हेतु शूद्रों को अनेक रियायतें भी प्रदान की गयीं ताकि अधिकाधिक अन्न उत्पादन किया जा सके । मौर्यकालीन प्रशासन में 'सीताध्यक्ष" जैसे पद का होना इस ओर इंगित करता है कि इस काल में अधिकांश भूमि राज्य के अधीन थी जिसके द्वारा राज्य पर्याप्त आय प्राप्त करता था ।

कृषि की अतिरिक्त पैदावार ने मौर्यकालीन समाज में उन परिस्थितियों को विकसित किया जो किसी भी समाज में व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के लिए आवश्यक होती है । कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मौर्यकालीन राज व्यवस्था में पण्याध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सीताध्यक्ष जैसे वरिष्ठ नौकरशाहों के पद थे । जो वाणिज्य और व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न कार्यो को संपादित करते थे ।

पण्याध्यक्ष वाणिज्य संबंधी कार्यों को देखने वाला प्रधान आधिकारी था, मैगस्थनीज के अनुसार भी चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन में बाजार संबंधी कार्य एक पृथक अधिकारी द्वारा देखे जाते थे जिससे यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में बाजार विशेष महत्व प्राप्त कर चुके थे और उनकी व्यवस्था हेतु एक पृथक अधिकारी की आवश्यकता अनुभव की गयी । बाजार व्यवस्था बिकने वाली सामग्री खरीददार को उचित तोल माप पर प्राप्त हो इसलिए तत्कालीन

व्यवस्था में पौतवाध्यक्ष का पद भी था जो बाजार में भार और माप के उचित उपकरणों के लिए उत्तरदायी होता था ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यापार के लिए जल एवं थल दोनों मार्गों को प्रयुक्त किया जाता था। जलमार्ग भी लोकप्रिय था, इसकी पुष्टि एक अलग अध्यक्ष पद से होती है जिसका कार्य केवल जलमार्ग के यातायात की व्यवस्था को नियंत्रण में रखना होता था, इसके अतिरिक्त समस्त प्रकार के व्यापार पर, चाहे वह बाह्य से अपना आंतरिक, चुंगी कर ग्रहण करने वाला अध्यक्ष, शुल्का– ध्यक्ष के नाम से जाना जाता था, जो बाजार में लाई गयी वस्तु के अनुरूप 1/5 से 1/25 तक की राशि को कर के रूप में प्राप्त करता था ।

इसके अलावा शासन मदिरा पर अत्यधिक कर प्राप्त करता था जो उसकी आय का प्रमुख स्त्रोत थी । मौर्यकालीन प्रशासन में बुनाई कार्य काफी प्रगति पर था, इसकी पुष्टि सूत्राध्यक्ष नामक अधिकारी के पद से होती है । बुनाई का कार्य प्रमुखतया स्त्रियां करती थी तथा तत्कालीन समाज में बुनाई उद्योग एक प्रकार का कुटीर उद्योग था ।

मौर्यकालीन समाज में व्यापार एवं वाणिज्य का दूसरा प्रमुख स्त्रोत धातुकर्म था । तत्कालीन साहित्यिक स्त्रोतों से ज्ञात होता है कि सुवर्ण, चांदी, ताम्र, सीसा, टिन तथा लोहे के शोधन एवं विभिन्न वस्तुओं का कार्य व्यापक पैमाने पर होता था लेकिन पुरातात्विक साक्ष्य केवल ताम्र व लौह धातु के शोधन एवं उपकरण निर्मित करने की ही पुष्टि करते है । कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित आकराध्यक्ष, खान्याध्यक्ष जो खनन के कार्य को देखता था, लक्षणाध्यक्ष आदि उच्च पदस्थ अधिकारियों के वर्णन से तत्कालीन व्यापार एवं वाणिज्य में खननों के महत्व की पुष्टि हो जाती है ।

किसी भी राष्ट्र अथवा समाज के व्यापारिक मार्ग उसके वाणिज्य एवं व्यापार की स्थिति के परिचायक होते है, मौर्यकालीन अद्योलिखित मार्गों के वितरण से तत्कालीन व्यापार एवं वाणिज्य की उन्नत अवस्था का आकलन किया जा सकता है–

1. मध्य गंगा मैदान को निम्न गंगा मैदान और पूर्वी समुद्र तट से मिलाने वाला मार्ग,
2. मध्य गंगा मैदान को उच्च गोदावरी घाटी और दक्षिण पश्चिम समुद्र तट से मिलाने वाला मार्ग।
3. मध्य गंगा मैदान को सिंधु प्रदेश और सिंधु नदी मुख से जोड़ने वाला मार्ग ।
4. मध्य गंगा मैदान को सिंधु घाटी और गांधार से मिलाने वाला मार्ग ।

इसी तरह से सुत्तनिपात के विवरण से यह ज्ञात होता है कि इस समय तक्षशिला होकर जाने वाला राजगृह–पुष्कलावती मार्ग सर्वाधिक चालू व्यापारिक मार्ग था। इस समय तक्षशिला एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केन्द्र था ।

कोटिल्य ने अपने ग्रन्थ में सार्थवाहों की सुरक्षा के विधान का वर्णन भी किया है ।

मौर्यकालीन व्यापार एवं वाणिज्य की उच्च अवस्था को इस एक तथ्य से समझा जा सकता है कि इस काल में विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करने वाले शिल्पियों के समूह बहुत व्यवस्थित तरीके से संगठित थे, इसकी पुष्टि यूरोपीय और भारतीय दोनों साक्ष्यों से होती है । स्ट्रेबो ने लिखा है कि किसी भी माल पर निर्मित होने के शिघ्र पश्चात एकदम कर प्रत्यारोपित

नहीं किया जाता था अपितु उस पर एक विशेष अधिकारी एक विशिष्ट प्रकार की सील लगाता था। इस सील के द्वारा नव–निर्मित माल एवं पुराने बिना बिके हुए माल के मध्य भेद करना आसान हो जाता था । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि किसी भी प्रकार के माल को निर्मित किए जाने की एक निश्चित प्रणाली इस काल में विकसित हो गयी थी । तत्कालीन पूर्व यूगीन एवं मौर्यकालीन स्रोतों से ज्ञात होता है कि इस काल में निर्माण की प्रक्रिया को निर्धारित करने का कार्य विभिन्न शिल्पियों के संघ करते थे जिन्हें ''श्रेणी'' कहा जाता था ।

इन श्रेणियों के नेता को बौद्ध साहित्य में जेट्ठक कहा गया है । यह श्रेणियां विभिन्न व्यापारिक समूहों की अलग–अलग होती थी तथा इनके अपने विधि–विधान थे । इनमें प्राय: दो प्रकार के श्रमिक कार्य करते थे एक वह थे जो नियमित मजदूरी प्राप्त करते थे तथा दूसरे दास थे । इन श्रेणियों का स्थानीय पंजीयन किया जाता था ।

मौर्यकाल में व्यापारियों के दो वर्गों का वर्णन किया गया है । एक व्यापारी वर्ग वह था जो गांव की दुकानदारी करता था उसे आधणिक कहते थे । नगरों में आंतरिक व्यापार सेटिठ के अधीन था। यह सेटिठ लोग इस काल में समाज के अभिजात वर्ग में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि मौर्यकालीन सभी साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य इस काल में व्यापार एवं वाणिज्य की उस अवस्था के परिचायक है जब मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था विस्तार पर रही थी । इस काल में अनेक व्यापारिक वस्तुओं के विस्तार की संभावनाओं को अनुभव किया गया था तथा इन व्यापारिक वस्तुओं के व्यापार का मुख्य बाजार आंतरिक था इस कारण आंतरिक व्यापार को अधिकाधिक विकसित किया गया ताकि अधिक से अधिक वाणिज्यिक लाभ प्राप्त किया जा सके । कुल मिलाकर के इस काल में व्यापारिक उन्नति के साथ–साथ कृषि के विस्तार की ऐसी स्थायी व्यवस्था की गयी थी जिसने मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया।

5.6 शुंग–शक–सातवाहन, कुषाण काल एवं रोमन साम्राज्य से संपर्क तथा व्यापार एवं वाणिज्य

द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व से 200 ई. के मध्य मौर्यत्तर काल में राज्य के अधीन कृषि भूमि मजदूरी पर नियुक्त श्रमिक एवं दास आधारित कृषि कर्म जिसका नियंत्रण कृषि कार्यो के अध्यक्ष के अधीन होता था समाप्त हो गया तथा इसके विपरीत व्यक्ति आधारित भूमि कृषि भूमि का परंपरा विकसित हुई । संभवत : इसका कारण कृषि योग्य भूमि का अधिकाधिक विकसित होना था जिसमें लोहे ने महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किया था । इस अतिरिक्त कृषि योग्य भूमि पर शासन द्वारा कृषि कार्य जब संभव नहीं हुआ तो व्यक्ति आधारित कृषि की परम्परा विकसित हुई । मिलिन्दपन्हों के अनुसार ऐसा व्यक्ति जो अतिरिक्त श्रम करके बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाकर उस पर खेती करता था वह उस भूमि का स्वामी कहलाता था। मिलिन्दपन्हों के अतिरिक्त, मनु एवं गौतम स्मृति तथा दीघनिकाय भी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की पुष्टि करते है । सातवाहनकालीन साक्ष्यों से यह तो ज्ञात होता है कि भू–स्वामित्व का व्यक्तिगत अधिकार होने के पश्चात भी इस काल में लौकिक कार्यो हेतु भूमि के क्रय एवं

विक्रय की परंपरा संभवत : विकसित नहीं हुई थी । संभवत : भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व सीमित था, मिलिन्दपन्हों के अनुसार सभी नगरों, समुद्री बन्दरगाहों, खानों आदि का स्वामित्व अन्तत : राजा के ही अधिकार क्षेत्र में था । इस काल में राजा का यह कर्तव्य था कि वह कृषि उत्पादन को बढ़ाने के उपाय करे तो ऐसे कारकों और व्यक्तियों को दण्ड दे जो कृषि कर्म को हानि पहुंचाते है या पहुंचाने की चेष्टा करते है । अत यह कहा जा सकता है कि कृषि भूमि पर राज्य का दखल कम होने से तथा भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की धारणा से इस काल में कृषि उत्पादन विकसित हुआ होगा । शक और कुषाण कालीन समाज में प्रजा को कौटिल्य नीति के अनुरूप ही कर प्रदान करने हेतु शासक का व्यवहार पूर्व की भांति कठोर नहीं था। यह कर विशेष स्थिति में ही लिए जाते थे ।

इस विवेच्यकाल में सर्वाधिक उन्नति कलाओं एवं शिल्प के क्षेत्र में हुई । यह एक अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि इन दोनों क्षेत्रों पर राज्य का न्यूनतम नियंत्रण था । तत्कालीन साहित्यिक स्रोतों दीघनिकाय, महावस्तु, मिलिन्दपन्हों से इस काल में विद्यमान 22,36 तथा 75 विभिन्न प्रकार के व्यवसायिक कर्मों की सूचना प्राप्त होती है । मिलिन्दपन्हों में आठ ऐसे शिल्पों का विवरण प्राप्त होता है जो खनिज कार्यो से सम्बद्ध थे । यह व्यवसाय, सुवर्ण, रजत, सीसा, टिन, ताम्र, कांस्य लौह एवं बहुमूल्य प्रस्तर के आभूषणों से संबंध रखते थे । इस ग्रन्थ में जस्ते तथा लाल संधियां का भी उल्लेख किया गया है । इस सूची से यह सूचना प्राप्त होती है कि इस काल में धातुकर्म तकनीकी दृष्टि से अत्यंत उच्च था एवं लौह तकनीक इस काल में निपुणता के उच्च शिखर पर पहुंच सकी थी । संभवत : इसी कारण भारतीय लौह एवं स्टील का पेरिप्लस ने अबेसीनिया के बंदरगाहों में विदेशी माल की तरह उल्लेख किया है ।

तत्कालीन व्यापार एवं वाणिज्य को जानने के लिए पेरिप्लस ऑफ दी एरिथ्रियन सी एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है । यह स्त्रोत भारत और पश्चिमी विश्व के मध्य व्यापारिक एवं सामुद्रिक गतिविधियों का मूल्यावान विवरण उपलब्ध कराता है । यहां एरिथ्रियन से तात्पर्य लाल सागर और फारस की खाड़ी सहित हिन्द महासागर से है । इस ग्रन्थ का लेखक अज्ञात है, वह लाल सागर से जहाज द्वारा भारत आया था । पेरिप्लस वणिकों की एक प्रकार से मार्गदर्शक पुस्तिका है । इसमें प्रसिद्ध अन्नों, वस्त्रों, प्रस्तरों, भारतीय देवाओं, और गंधद्रव्यों आदि का उल्लेख किया गया है ।

इस ग्रन्थ में हाथीदांत, कछुए की खोपड़ी, मसाला, गोंद, सल, पन्ना, केसर, चीनी, रूई, रेशम, धागा, नील, चीनी मिट्टी, गोल–मिर्च तथा सुपारी आदि का निर्यात की मदों में उल्लेख किया गया है । पेरिप्लस बताता है कि अरब और अफ्रीका के समुद्रतटों में भारतीय व्यापारी, नाविक और एजेन्ट उपस्थित रहते थे । मोटे रूप से भारत में जो वस्तुएं इस काल में निर्यात की जाती थी उनको तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :

1 वन–उत्पाद
2 पशु–उत्पाद
3 खान–उत्पाद

थियोफ्रास्टस ने लिखा है कि इलायची, तेजपात, दालचीनी, गोल मिर्च, नींबू, अलसी, रूई, कटहल, केला, आम, तेंदू आदि एवं तिल का तेल निर्यात किया जाता था । इसके अतिरिक्त चीनी, नील, विभिन्न प्रकार की लकड़ी गुग्गुल, नारियल, सतालू आदि भी भारत से व्यापार के लिए भेजे जाते थे ।

भारत से हाथी, गेंडा, सिंह, बाघ, कुत्ता, बंदर, अजगर, तोता, और मोर एवं मुरगी व्यापारी उपहार के रूप में ले जाते थे । टोलेमी फिलाडेल्फस की शोभायात्रा में भारतीय गाय और कुत्ते भी शामिल थे । हाथी दांत भी संभवत : पश्चिमी देशों में काफी लोकप्रिय था । हाथी दांत से बनी लक्ष्मी की एक प्रतिमा पोम्पई में मिली है जो कुषाणकालीन मथुरा शैली की है ।

रोम के निवासी रत्नों के बहुत शौकीन थे और रत्न अधिकांशत : भारत से मंगाने पड़ते थे । भारतीय अकीक, कार्नेलिअन, स्फटिक, शैलस्फटिक, माणिक्य, नीलम, तामडा, लाजवर्द, आदि भारत से रोम भेजे जाते थे । इन सबके अतिरिक्त चीन का रेशम पश्चिमी एशियाई महामार्ग से निकलकर दक्षिण की ओर जाते हुए सिंघ के मुहाने और काम्बे की खाड़ी में पहुंचता था ताकि वहां से पश्चिम को निर्यात किया जा सके ।

इन समस्त व्यापारिक वस्तुओं के व्यापार से, जो अधिकांशत : रोम की वित्तीय अवस्था पर व्यापक प्रभाव हुआ । प्लिनी ने इस व्यापार को रोम देश से धन का रिसाव कहा है। भारत प्रतिवर्ष 2,20,00,000 पौंड रोमन धन प्राप्त करता था । टैंसिटल के अनुसार आभूषणों की लोलुपता से रोम साम्राज्य की सम्पत्ति पानी की तरह बह गयी । प्रथम शताब्दी ई. में ही रोम को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा । तरह तरह की रोमन महिलाओं और उच्च वर्ग के लोगों के चलते भारतीय रत्न और मलमल की मांग अबाध रूप से बढ़ती गयी । पूर्व देशीय विलासिता की तृष्णा लगभग तीन शताब्दियों तक रही ।

तत्कालीन व्यापार की स्थिति का विवरण करते हुए प्लिनी कहता है रोम के सोने के सिक्के की अपार राशि दक्षिण भारत चली जाती थी । प्लिनी के इस कथन की पुष्टि अरिकमेडु जैसे उत्खननों की रिपोर्टों से भी होती है । अरिकमेडु से प्राप्त अररिटाईन मृद्भाण्ड, जो मूलत : इटली में निर्मित होते थे, तथा एम्फोरा, जो ऊंची गर्दन वाले मर्तवान होते थे एवं जिनका उपयोग रोम में मदिरा रखने के लिए होता था प्राप्त हुए जिनसे इस क्षेत्र का पश्चिमी देशों से सम्पर्क प्रमाणित होता है ।

पेरिप्लस के अनुसार भारत के पश्चिमी देशों में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की तुलना में आयातीत वस्तुएं कम थी । तक्षशिला के उत्खनन के इस संबंध में जानकारी मिलती है, डमस्क, साधारण प्रकार का वस्त्र, डमस्क की पेटी (कमरबंद) धूप आदि पश्चिम से भारत आते थे । प्लिनी के अनुसार भारतीय भूमध्यसागरीय लाल मूंगा बहुत पसंद करते थे एवं यह ग्रह दोष की शांत करने के लिए पहना जाता था । इस लाल मूंगे की भारत को आपूर्ति सिसली, सार्डिनिया, कोर्सिका, इटली, स्पेन और उत्तरी अफ्रीका से होती थी ।

इस तरह से ईसा पूर्व की अंतिम दो शताब्दियों से लेकर मुख्य रूप से तीसरी शताब्दी एवं मोटे तौर पर छठी शताब्दी ई. तक भारत का रोम से व्यापार निर्बाध गति से चलता रहा । इस व्यापार में भारत को आर्थिक लाभ अधिक हुआ । व्यापार के अधिकाधिक बढ़ने से ''युक्ति

कल्पतरू'' जैसे औद्योगिक उत्पादन विषयक संस्कृत ग्रंथ लिखा गया एवं शक–शासकों ने समुद्र पार व्यापार को शासन के अधीन ले लिया तथा मृगुकच्छ को निरापद बंदरगाह बनाया ।

इस काल में व्यापार से संबंधित निम्न कर लगाए जो परोक्ष रूप से तत्कालीन व्यापारिक गतिशीलता के परिचायक है:–

(1) शुल्क–चुंगी या कस्टम कर, (2) वर्तनी–सड़क–कर (3) अतिवाहक सवारी कर (4) गुल्मदेय–बटमारों से रक्षा हेतु कर (5) तरदेय तरण शुल्क (6) व्यापारियों और उनके अनुचरों का खर्च (7) भाग–मुनाफे में हिस्सा ।

200 ई. पू. से 200 ई. के मध्य इस व्यापार को विकसित एवं नियंत्रित करने में श्रेणियों की भूमिका संभवत : सर्वाधिक थी । इन विभिन्न श्रेणियों का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है । यह व्यापारिक श्रेणियां वाणिज्य एवं व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह इस काल में कर रही थी । व्यवसाय की अनुवांशिकता में इनको तकनीकी दृष्टि से निपुण बना दिया था एवं इनके द्वारा संघ रूप में कार्य करने के कारण यह समाज में अत्यन्त शक्तिशाली थे, इनके अपने विधि–विधान थे, जो राज्य द्वारा भी स्वीकार किए जाते थे । इन श्रेणियों के प्रमुख अधिकारी–भांडागारिक, जेठक, महासेट्ठि, अनुसेट्ठि, उत्तर सेट्ठि, जनपद सेदिठ, लेखक व हेरनिक (कोषाध्यक्ष) आदि थे । इन सब में श्रेष्ठिन सम्भवत : संघ का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारी था । दक्षिण भारत में इन श्रेष्ठियों का स्थान बहुत ऊंचा था । दक्षिण भारत के ग्यारहवीं शताब्दी के एक उत्कीर्ण लेख में हजार प्रदेशों और चारों दिशाओं से आने वाले व्यापार संघ के विविध विभागों का उल्लेख है । लेखपद्धति से यह ज्ञात होता है कि गुजरात के चालुक्यों के राज्य में श्रेणियों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग श्रेणिकरण था। इस तरह से विदेशी शासकों के अधीन होने के पश्चात भी तत्कालीन वाणिज्य एवं व्यापार इस काल में उन्नति कर सका जिसका कारण यह श्रेणियां ही थी ।

द्वितीय शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई. के मध्य शकों, कुषाणों एवं सातवाहनों, इन्डो–यूनानियों के सिक्कों के अतिरिक्त शिबि मालव व यौद्येयों के सिक्के जो पूर्वी, दक्षिणी, उत्तरी राजस्थान, हरियाणा एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए है, इस तथ्य के घोतक है कि यह विभिन्न कुलीनतंत्रात्मक राज्यों की आर्थिक स्थिति काफी विकसित थी जिसमें मुद्रा का प्रचलन व्यापक था । यौद्येयों के सिक्के जो उत्कृष्टता की दृष्टि से पश्चिमी जगत के सिक्कों के समकक्ष है, तत्कालीन सुदृढ़ आंतरिक वाणिज्यिक एवं व्यापारिक अवस्था के घौतक है।

5.7 सामंत युग का प्रारम्भ एवं वाणिज्य तथा व्यापार

द्वितीय शताब्दी ई. के पश्चात् तीसरी चौथी शताब्दी ई. में आर्थिक दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए । अब मौर्यकालीन केन्द्रीकृत शासन की परम्परा के स्थान पर विकेन्द्रित शासन प्रणाली विकसित हुई जिसका सीधा कारण सामंतवाद का विकास होना था। सामंतवाद, जिसका मुख्य लक्षण भूमि को खेती हेतु भूमि का दान करना था, के विकास ने मौद्रिक अर्थव्यवस्था एवं विदेशी व्यापार को न्यूनतम कर दिया था । इसके विपरीत इस काल में उत्पादन की स्थानीय इकाइयों में वृद्धि हुई । उत्पादन की स्थानीय इकाईयों के अम्युदय से व्यापारियों की श्रेणियां

अत्याधिक शक्तिशाली हो गयी । इस काल में सिंचाई, जो कृषि का आधार है, की व्यवस्था भी स्थानीय इकाईयों द्वारा की जाने लगी । गुप्तकाल में गिरनार की प्रसिद्ध सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण भी स्थानीय शासकों द्वारा कराए जाने के प्रमाण प्राप्त होते है । तत्कालीन साहित्यिक साक्ष्य, जिसमें वृहस्पति स्मृति प्रमुख है, में भी सिंचाई की व्यवस्था श्रेणियों द्वारा कराए जाने का उल्लेख किया गया है । गुप्तकाल में लिखी गयी स्मृतियों में व्यापारिक श्रेणियों को कार्य प्रणाली आदि के संबंध में विस्तृत निर्देश दिए गए है । यह श्रेणियां मुख्य आर्थिक कार्यों के अतिरिक्त कार्यपालिका एवं न्याय संबंधी कार्यों को भी करती थी । आर्थिक कार्यों में यह श्रेणियां मुख्य रूप से संयुक्त व्यापारिक गतिविधियों, व्यापार के प्रसार एवं बैंक अथवा महाजनी संबंधी कार्यो को भी करती थी । इनकी श्रेष्ठता एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि यह सिक्के एवं मुद्राऐं जारी करने के अतिरिक्त अपनी सेवाऐं भी रखती थी । कल्चुरी अभिलेखों में श्रेणियों की सेवाओं का उल्लेख श्रेणीबल की तरह किया गया है । इनका चरित्र स्वायत्त प्रकार की संस्थाओं का था । गौतम स्मृति में कहा गया है कि राजा को श्रेणियों के धर्म का सम्मान करना चाहिए । विद्वान मजूमदार ने अपनी पुस्तक कॉरपोरेट लाईफ इन एशियंट इण्डिया में लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्रेणियां अपनी इच्छानुसार सभी प्रकार के कार्यो को करने के लिए स्वतन्त्र थी तथा राजा इनके निर्णयों को स्वीकार करने के लिए बाध्य था । वैशाली और मंदसौर की श्रेणियां अत्यधिक प्रभावशाली थी तथा इन्होंने इन नगरों के आर्थिक जीवन को पूर्णत : प्रभावित किया हुआ था ।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि गुप्तकाल में विकसित प्रभावशाली हुई इन श्रेणियों द्वारा संचालित व्यापार एवं वाणिज्य का माध्यम क्या था? क्योंकि गुप्त शासकों के ताम्र सिक्के बहुत कम संख्या में प्राप्त होते है । यहां पर फ़ाहियान का यह कथन सही प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में सामान्य लोगों के मध्य विनिमय का माध्यम कौड़ी थी । इसके अलावा गुप्तकाल में निगम, जो व्यापारिक श्रेणियों की ही भांति संगठन थे, अपने सिक्के जारी करते थे। नालंदा में निगम अत्याधिक प्रभावशाली हो गए थे तथा इन्होंने न केवल मुद्राएं ही जारी की अपितु यह आर्थिक एवं राजनीतिक दोनो दृष्टियों से आत्मनिर्भर इकाईयां बन गयी । इन श्रेणियों और निगमों के अधिक अधिकार सम्पन्न होने का परिणाम यह हुआ कि अब शिल्पियों को, जो माह में एक बार राजा के लिए कार्य करते थे, कर–प्रदान करने का अधिकार मिल गया। यह एक ऐसा कदम था जो शिल्पियों की स्थिति में सुधार का प्रतीक था ।

गुप्तकालीन ग्रन्थ अमरकोष में पीतल के दो, सीसे के चार, जस्ते के तीन, ताम्रधातु के चार, चाक के पांच, लाल संखिया के सात तथा क्षार के पांच नामों का उल्लेख होना, इस तथ्य का घोतक है कि इस समय धातुओं एवं विभिन्न धातुओं के मिश्रण से मिश्रित धातु निर्मित करने की तकनीक अत्यन्त उच्च थी ।

गुप्तकालीन स्त्रोतों से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में धातुओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण धातु लोहा थी । महायान धर्म की पुस्तकों में वर्णित है कि योगी अथवा भिक्षु को लौह बर्तन अथवा मृद्–भाण्ड रखने का ही अधिकार था । अमरकोष में लोहे के सात नामों एवं हल के पांचनामों का उल्लेख लोहे की उपयोगिता एवं व्यापक प्रयोग की पुष्टि करता है । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मेहरोली स्तंभ लेख स्वयं लौह तकनीक की उच्चता को प्रमाणित

करता है । इन सभी विवरणों एवं भौतिक साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल में धातुशिल्पियों का कर्म बहुत महत्वपूर्ण एवं व्यापक था।

धातु शिल्प उद्योग के पश्चात गुप्तकाल के प्रमुख उद्योगों में माला निर्मित करने वाला, धोबी, कुंभकार, ईट निर्मित करने वाला, कपड़ा बुनने वाला, कपड़ा सीने वाला, अस्त्र–शस्त्र बनाने वाला, चर्म का कार्य करने वाला, सीप का कार्य करने वालों के उद्योग महत्वपूर्ण थे। अमर कोष में लकड़ी एवं स्वर्ण का कार्य करने वालों के क्रमश : पांच व चार नाम उल्लिखित किए जाने का प्रत्यक्ष यह अर्थ है कि इस काल में यह शिल्प समाज में काफी महत्व के थे ।

मध्य और पश्चिमी भारत के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि इन क्षेत्रों में रेशम का कपड़े बुनने वालों एवं तेल निकालने वालों का शिल्प अत्यन्त समृद्ध था एवं इनकी अपनी श्रेणियां थी जो धार्मिक कार्यो हेतु दान दिया करती थी । मालवा के रेशम का कपड़ा बनने वाले इस काल में काफी समृद्ध थे इसकी पुष्टि तत्कालीन अभिलेखों से होती है । मंदसोर के एक अभिलेख से यह सूचना मिलती है कि रेशम बुनकर का एक श्रेणी संघ सामूहिक रूप से लाट देश (नर्मदा प्रदेश) को छोड़कर दशपुर मंदसौर में जा बसा था। इसी तरह से कुम्हार से प्राप्त एक मुद्रा से प्रकट होता है कि गुप्तकाल में तमोलियों का भी संघ था ।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि द्वितीय तृतीय शताब्दी ई. के पश्चात मौर्यकालीन केन्द्रीकृत व्यापार एवं वाणिज्य की तथा द्वितीय शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी के मध्य विकसित हुए विदेश व्यापार की परम्परा छिन भिन्न हो गयी । इसके स्थान पर स्थानीय देशज व्यापार विकासित हुआ जिसकी नियंता श्रेणियां थी । यह परम्परा हर्ष एवं हर्षोत्तर काल में भी जारी रही ।

नौवी शताब्दी ई. के कामा उत्कीर्ण लेख में वास्तुकार के दो संघों और कुंभकार के एक संघ को उल्लेख किया गया है । इस अभिलेख में ही शंख शिल्पियों का भी उल्लेख है । इसी तरह से ग्वालियर के 877 ई. के एक अभिलेख में श्रेष्ठियों के संघ और सार्थवाह का उल्लेख है। सार्थवाह एक बन्जारा व्यापारी होता था जो आंतरिक व्यापार के लिए तथा बाह्य वाणिज्य के लिए भी दल बनाकर चलता था । वह घुमन्तु वर्ग होता था और सार्थवाहजेठक या प्रमुख के मार्गदर्शन में चलता था । एक अन्य उत्कीर्ण लेख में घोड़े व्यापारियों के एक महत्वपूर्ण संघ का उल्लेख है । इसी तरह से स्यादोनी के लेख से तमोलियों, तेलियों और संगतरासों के संघ द्वारा दिए गए दानों की सूचना प्राप्त होती है ।

5.8 उपसंहार:

इन सभी विवरणों से यह सिद्ध होता है कि द्वितीय शताब्दी ई. पूर्व पश्चात् केन्द्रीकृत व्यापार एवं वाणिज्य की परम्परा समाप्त प्राय : हो गयी थी और इसके स्थान पर श्रेणीबद्ध व्यापारिक गतिविधियां प्रारंभ हुई । 200 ई. पू. से 200 ई. के मध्य दक्षिण भारत का संबंध पश्चिमी जगत से हुआ और इस काल को भारतीय इतिहास का आर्थिक दृष्टि से सफलतम युग कहा जा सकता है । इसके पश्चात गुप्त और परवर्ती गुप्तकाल में श्रेणियां बलवती हुई और व्यापार एवं वाणिज्य के विदेशी सूत्र समाप्त हो गए तथा व्यापार एवं वाणिज्य की स्थानीय

इकाईयां विकसित हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार एवं वाणिज्य में सिक्कों का चलन कम से कमतर होता चला गया जिससे व्यापार एवं वाणिज्य अपनी अधोगति को पहुंच गया । संभवत : इसका कारण सामंतवादी आर्थिक व्यवस्था का विकसित होना था । इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय इतिहास में व्यापार एवं वाणिज्य को अधोलिखित बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है –

1 हड़प्पा संस्कृति की नगर आधारित अर्थव्यवस्था ।
2 वैदिककालीन घुमन्तु एवं खेती आधारित अर्थव्यवस्था ।
3 पूर्व मौर्यकाल में लोहे का प्रसार, चावल, गन्ना तथा कपास की खेती ।
4 केन्द्रीकृत व्यापार एवं वाणिज्य जिसमें अर्थव्यवस्था के सभी अंग सम्मिलित थे ।
5 मौद्रिक अर्थव्यवस्था का विकास एवं रोम साम्राज्य से व्यापार
6 सामंतवाद का प्रारंभ तथा व्यापार एवं वाणिज्य में स्थानीय इकाईयों का वर्चस्व ।

सातवीं शताब्दी तक पल्लव और चोल कुछ सीमा तक दक्षिणी पूर्व एशिया के साथ समुद्री व्यापार करते रहे लेकिन उनको भी आठवीं शताब्दी के बाद अरब सौदागरों के साथ होड़ करनी पड़ी । उत्तर भारत में यह काल राजनीतिक अस्थिरता का काल था, इस समय स्थानीय व्यापार एवं वाणिज्य के अलावा विदेशी व्यापार एवं वाणिज्य की संभावनाऐं नगण्य हो गयी थी।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न:

1. मौर्यकालीन व्यापार एवं वाणिज्य का वर्णन करते हुए उन पूर्व कारकों का वर्णन कीजिए जिस कारण मौर्यकाल में व्यापार एवं वाणिज्य विकसित हुआ? (150 शब्द)
2. द्वितीय शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई. के मध्य की व्यापार एवं वाणिज्य की स्थिति का अवलोकन कीजिए । (150 शब्द)
3. सामंतवाद का विकास किस प्रकार से व्यापार एवं वाणिज्यिक गतिविधियों के पराभव का कारण बना? विवेचना कीजिए । (300 शब्द)

5.10 संदर्भ ग्रन्थों की सूची:

शर्मा, आर.एस. : लाईट ऑन अर्ली इंडियन सोसायटी एण्ड एकोनॉमी ।

चौधरी, राधाकृष्ण : प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास ।

थापर, रोमिला : एशियंट इंडिया ।

पी.एल. गौतम व कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत ।

मैती, एस. के. : एकॉनामिक लाईफ इन नार्दन इण्डिया इन द गुप्ता पीरियड ।

मजूंमदार, आर. सी. : कॉरपोरेट लाईफ इन नार्दन इंडिया ।

थापर, रोमिला : अशोक एण्ड द डिक्लाईन ऑफ मॉर्यन एम्पायर।

इकाई – 6

जल एवं स्थल व्यापार मार्ग, परिवहन के साधन तथा निगम

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.0 उद्देश्य

6.2 सैंधव युग के व्यापार पथ

6.3 वैदिक युग के व्यापार पथ

6.4 ऐतिहासिक युग के व्यापार पथ

6.5 मौर्य काल के व्यापार पथ

6.6 मौर्येत्तर काल के व्यापार पथ

6.7 गुप्तकाल के व्यापार पथ

6.8 पूर्वमध्यकाल के व्यापार पथ

6.9 व्यापार परिवहन माध्यम

6.10 व्यापार नियम

6.11 सारांश

6.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.13 संदर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से हमारा उद्देश्य आपको प्राचीन भारत के व्यापारिक मार्गों, परिवहन के माध्यम, तथा व्यापार नियमों तथा परिस्थितियों के संबंध में जानकारी देना है । इस इकाई का अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

1. प्राचीन भारत में पथों का उद्भव
2. सैंधव सभ्यता के युग में व्यापार मार्गों का अस्तित्व। वैदिक काल से पूर्व–मध्य युग तक के स्थल तथा जल व्यापार मार्ग ।
3. व्यापार परिवहन के माध्यम
4. व्यापार नियमों का विवरण ।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय आर्थिक इतिहास की विभिन्न गतिविधियों का विश्लेषण करने पर हमें यह स्पष्ट होता है कि भौतिक सुख उसके जीवन को प्रभावित करता था । उसके लिए किये जाने वाले कार्य आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तित भी होते रहते थे । मेक्स वेबर ने इस संबंध में उल्लेख किया कि आर्थिक कार्यक्रम मनुष्य का सामाजिक संबंध भी अभिव्यक्त करता है । प्रारंभ से ही यात्राओं का सभ्यता में विशेष महत्व रहा हैं ये यात्राएं किसी भी उद्देश्य से की जाती हों– अनुकूल जीवन स्थितियां, व्यापार, राजनैतिक कारण । आदिम मनुष्य ने जो यात्रा पथ कायम किये थे उनका उपयोग विजेता तथा व्यापारियों के द्वारा भी होने लगा । भारतीय व्यापारिक

पथों के विकास में यहां की भौगोलिक परिस्थितियों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण ज्ञात होता है । व्यापार पथों के विकास में शताब्दियां लगी होंगी । मोतीचन्द्र ने सार्थवाह में उल्लेख किया है कि इसमें अनेक युग लगे और हजारों जातियों ने इसमें भाग लिया तथा आदिम शिकारियों द्वारा शिकारों की खोज फिरन्दरों ने अपने पशुओं के लिए घास के मैदान की जानकारियों हेतु पथों की सूचनाएं प्राप्त कर मार्गों के ज्ञान का ऐतिहासिक प्रयास प्रारंभ किया, मान्य किया जा सकता है । पथों की खोजों के यह प्रयास हजारों वर्षों तक चलते रहे । प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप अधिकांश रूप में जंगलों से आवृत्त था जिससे होकर विभिन्न यात्रा पथ गुजरते थे जो पहाड़ियों, घाटियों, नदी तथा समुद्र से होकर विभिन्न व्यापार केंद्रों को जोड़ते थे।

6.2 सैधंव युग के व्यापार पथ

सैधव सभ्यता के समय स्थल और जल व्यापार मार्गों के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। बलुचिस्तान, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात के भू–भाग पर यह व्यापार पथ विभिन्न व्यापार केंद्रों को संयुक्त करते थे जो आंतरिक व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे । बाहरी देशों के साथ बलुचिस्तान के मार्ग से स्थल व्यापार पथ सुमेरियन संस्कृति के केंद्रों से संयुक्त थे । हड़प्पा, मोहन जोदड़ो और लोथल नामक बंदरगाह से जल व्यापार पथ बहरीन द्वीप, उर, तेल्मुन, बेबिलोन, मिश्र आदि स्थानों को जोड़ते थे । ताम्रपाषाण युगीन आर्थिक जीवन में मृदभाण्डों के आधार पर डॉ. सांकलिया ने पश्चिम एशिया विशेषकर ईरान के साथ व्यापार पथों के अस्तित्व को स्वीकार किया है ।

6.3 वैदिक युग के व्यापार पथ

वैदिक युग के आर्थिक जीवन में विभिन्न प्रकार के उद्योग प्रचलित ज्ञात होते है । तक्षा तथा रथकार तैत्तिरीय संहिता से औद्योगिक वर्ग होने की जानकारी मिलती है जो परिवहन के साधनों का निर्माण करते थे । इस समय व्यापार पथों का अस्तित्व भी ज्ञात होता है । आर्यों के भारत आगमन के संबंध में जो जानकारी मिलती है उसके आधार पर विद्वानों ने पूर्वी अफगानिस्तान और पंजाब की नदियों के उल्लेखों के संबंध में ऋग्वेद के संदर्भ उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत के विभिन्न पथों की जानकारी देते है । श्री फूशे ने बल्ख से हिन्दुकुश होकर भारत आने वाले एक सुविकसित मार्ग को स्वीकार किया है । आर्यों के विस्तार के आधार पर डॉ. मोतीचंद्र ने सार्थवाह में विभिन्न पथों के अस्तित्व को पंजाब, गंगा–यमुना का दोआब, कोशल तथा मगध के भू भाग में उल्लेखित किया है । वैदिक साहित्यिक प्रमाणों से यह जानकारी मिलती है कि व्यापारी लंबी यात्राएं करते थे । ऋग्वेद के तीसरे मंडल के पन्द्रहवें सूक्त में उल्लेख है कि व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने में कठिनाइयों की परवाह नहीं करते थे । पूर्व वैदिक युग में व्यापार स्थल मार्गों से विशेष रूप से होता था जो विभिन्न व्यापारिक नगरों ओर ग्रामों से जुड़े हुए थे ।

उत्तर वैदिक युग के आर्थिक जीवन से ज्ञात होता है कि आलिन, पख्तून, बोलन दर्रा, सिंधु का क्षेत्र, कुरू–पंचाल, कोशल, काशी, विदेह, मगध, अंग आदि क्षेत्र स्थल मार्ग द्वारा संबंधित थे जिनका प्रयोग व्यापार पथों के रूप में भी किया जाता था ।

वैदिक युग में सामुद्रिक व्यापार का प्रचलन ज्ञात होता है । ऋग्वेद में समुद्र के रत्न, मोती का व्यापार तथा सामुद्रिक व्यापार से लाभ आदि की चर्चा यह बतलाती है कि इस समय जल मार्ग के माध्यम से व्यापार होता था । तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी के संदर्भ ज्ञात होते है । समुद्री व्यापार नाम के माध्यम से होता था । सार्थवाह में उल्लेख है कि "नौ'' शब्द का व्यवहार नदियों में चलने वाली छोटी नावों के लिए होता था । बुहलर के अनुसार हिन्द महासागर का उपयोग जल मार्ग में होता था । अथर्ववेद में तेमात् अलगी–विलगी, उरूमूला तथा ताबूवम् के उल्लेखों के आधार पर लोकमान्य तिलक ने यह अभिव्यक्त किया है कि यह शब्द बाबुली भाषा के है जो वाबुल तथा भारत के मध्य व्यापार मार्ग को भी स्वीकार करने में मदद करते है । वैदिक काल में मिश्र, असीरिया तथा बेबीलोनिया के साथ भारतीयों का व्यापारिक मार्गों से संबंध था ।

ऋग्वेद में उल्लेखित पणि लोगों के उल्लेख यह बतलाते है कि अधिक धन प्राप्त करने के लिए वे अपने जहाज दूर देशों को भेजते थे । के डी. बाजपेयी ने उल्लेख किया है कि पणि अपने जहाजों को फारस की खाड़ी तक ले जाते थे जहां सुमेरी तथा मिश्री व्यापारियों के साथ व्यापार कार्य करते थे । सिंधु नदी के तट से प्राचीन असीरिया तक व्यापार मार्ग का अस्तित्व था । दक्षिण भारत से अरब तथा पूर्वी अफ्रीका तथा सामुद्रिक व्यापार पथ की वैदिक काल में जानकारी मिलती है । एशिया माइनर के बोगाजकुई नामक स्थान से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भारत और असीरिया के सांस्कृतिक संबंधों को स्पष्ट किया जा सकता है ।

6.4 ऐतिहासिक युग के व्यापार पथ

ई. पू. छठी शताब्दी के प्रारंभ में आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा व्यापार विकसित अवस्था में आ गया । गांधार और सिंधु ईरानियों के अधीन हो गए । तथा यह क्षेत्र उनके साम्राज्य का बीसवां प्रान्त बना । फूशे ने इस संबंध में यह उल्लेख किया है कि कुरूष ने अपने पहले अभियान में कपिश की राजधानी समाप्त की तथा महापथ से होकर गांधार विजय की । जिसकी सीमा पश्चिम में हिन्दुकुश के पार थी तथा दक्षिण में निचले पंजाब तक, पूर्व में रावलपिंडी अपने निर्गमन मार्गों की रक्षा के लिए दारा प्रथम ने निचले सिंधु क्षेत्र को विजय कर अरब सागर पहुंचने के लिए प्रयास किये तथा लाल सागर के मिश्री बन्दर तथा पश्चिमी भारत के बन्दरों की यात्रा निरापद कर दी जिसके कारण फरात और दजला के मुहाने से लेकर सिंधु के मुहाने तक का समुद्री किनारा उसके अधीन आ गया । हेरोडोटस के अनुसार भारतीय और बलूची भाग 17 वें प्रदेश में थे । महापथ जो पेशावर, रावलपिंडी, लाहोर और दिल्ली होते हुए गंगा के मैदान को एशिया के ऊंचे भागों से मिलता था ।

ऐतिहासिक काल में हमें यह जानकारी होती है कि विभिन्न क्षेत्र सड़क मार्गों द्वारा जुड़े थे । बौद्ध साहित्य के आधार पर मोती चंद्र से सार्थवाह में बुद्ध के काल में महापथ कुरूप्रदेश से उत्तर पांचाल, होता हुआ कपिलवस्तु जाने का उल्लेख किया है । गंगा के मैदान का दक्षिणी पथ इन्द्रपस्थ से मथुरा होता हुआ कौशाम्बी जाता था जो चुनार से भी जुड़ा था । कोशाम्बी से उज्जयिनी तक भी पथ था उज्जयिनी तथा मथुरा भी स्थल पथ से जुड़े थे ।

पाणिनी ने व्यापार पथों का उल्लेख किया है जो व्यापारिक नगरों को दूसरे नगरों से जोड़ते थे । कारि पथ, स्थल पथ, रथ पथ, करि पथ, अज पथ, शंकु पथ, राज पथ, आदि जातक साहित्य में व्यापारिक सार्थ की यात्राओं के विवरण मिलते है । दस ब्राह्मण ने साथ यात्रा करने वाले व्यापारी की रक्षा की थी । असंकिय जातक चोरों द्वारा सार्थ से चोरी करने के संदर्भ मिलते है । महानिद्देश मे आज पथ, बनु पथ, मुषिक पथ, वंश पथ, दरि पथ, वेत्राचार पथ आदि पथों की जानकारी मिलती है जिनमें से कुछ व्यापार पथ के रूप में भी अस्तित्व में थे । सार्थवाह इन व्यापार मार्गों पर यात्रा करते थे ।

पाणिनि ने उत्तरापथ का उल्लेख किया है जो प्रमुख व्यापार मार्ग था । कांधार से पाटलिपुत्र तक का लम्बा क्षेत्र इसके माध्यम से जुड़ा हुआ था । इस मार्ग का पश्चिम भाग वंक्षु से केस्पियन सागर के तट और काला सागर होकर योरोप तक था । पूर्व का मार्ग गांधार की राजधानी पुष्कलावती होकर तक्षशिला, सिन्धु, शतुद्रि, हस्तिनापुर, प्रयाग, काशी और पाटलिपुर को जोड़ता था जो आगे चलकर ताम्रलिप्ति जाता था । इस पथ से एक मार्ग तक्षशिला पुष्कलावती कापिशी होकर बाहलीक तक था । एक अन्य भाग पूर्व में कम्बोज को संयुक्त करता था । श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक के मार्ग का व्यापार को प्रमुख योगदान था जिस पर इस समय के साकेत, कोशाम्बी, एरण, विदिशा, गोनर्द, उज्जयिनी, महिम्मति आदि व्यापार नगर थे । श्रावस्ती राजगृह व्यापार मार्ग पर कपिलवस्तु, कुशीनगर, पावा, वैशाली, पाटलिपुत्र, तथा नालान्दा बसे थे । विदिशा से मथुरा तक के स्थल व्यापार मार्ग पर देवगढ़ कांतिपुरी, पदमावती तथा तुम्बवन प्रसिद्ध नगर थे । इस समय कातार पथ के रूप कोशाम्बी से उज्जयिनी होकर दक्षिण के क्षेत्र में प्रतिष्ठान तथा पश्चिम में भरूकच्छ को संयुक्त करने वाले व्यापार मार्ग के संदर्भ भी प्राप्त होते है । अपण्णक जातक से ज्ञात होता है कि एक सार्थवाह जो पूर्व देश से अपरांत 500 गाड़ियों में व्यापार वस्तुएं लेकर आया था गंधार जातक से यह जानकारी मिलती है कि गांधार क्षेत्र के व्यापारी लगभग 1200 मील की यात्रा करते हुए मिथिला व्यापार हेतु गए थे । तंडुल नालि जातक से एक अश्व व्यापारी द्वारा उत्तरा पथ से बनारस 500 घोड़े विक्रय के लिए लाने का उल्लेख मिलता है । महाकाव्य भी इस समय के व्यापार मार्गों पर प्रकाश डालते है । रामायण में विवरण मिलता है कि प्रमुख नगर व्यापार मार्गों द्वारा एक दूसरे से जुड़े होते थे । महाभारत से ज्ञात होता इस समय हस्तिनापुर, काम्बोज, गांधार, आसाम, अपरांत पाण्ड्या तथा सिन्धु क्षेत्र व्यापार मार्गों के माध्यम से भी जुड़े कहे जा सकते है ।

इस युग में स्थलीय व्यापार मार्गों के साथ जलीय व्यापार मार्गों का भी महत्वपूर्ण स्थान था । भारतीय व्यापारी जल मार्गों द्वारा दूर दूर देशों की यात्रा करते थे । एक जातक में उल्लेख है कि वणिक पोत विक्रय करने पर एक युवक को दो लाख मुद्राओं का लाभ हुआ था । जातकों में समुद्र यात्राओं के अनके उल्लेख है । बावेरू जातक से ज्ञात होता है कि बनारस के व्यापारी बावेरू जाते थे । यह यात्रा अरब सागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी । सुप्पारक जातक से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी भरूकच्छ से फारस की खाड़ी, लाल सागर तथा भूमध्य सागर होकर व्यापार यात्रा करते थे । शंख जातक में सुवर्ण द्वीप की यात्रा के विवरण मिलते है । महाजनक जातक भी सुवर्ण द्वीप व्यापार पथ का समर्थन करता है । जातक हमें यह जानकारी भी देते है कि भारत के पश्चिम समुद्रतट पर भरूकच्छ, सुप्पारक और

सोबीर प्रमुख बन्दरगाह थे । पूर्वी तट पर करम्बिय गम्भीर तथा सेरिव थे । सुप्पारक जातक में उल्लेखित खुरमाल, अग्लिमाल, दहिमाल, नीलकुसमाल, नलमाल तथा बलभामुख नामक समुद्र का उल्लेख है । इस आधार पर विद्वान यह अभिव्यक्त करते है कि भारतीय व्यापारियों को भड़ोंच से लेकर भूमध्य सागर तक से व्यापार मार्ग की जानकारी थी । अधिकतर यह व्यापार पथ सोकोत्रा तक अधिक चलता था । कुछ भारतीय व्यापारी सिकन्दरिया पहुंचते थे ।

6.5 मौर्य काल के व्यापार पथ

मौर्य युग में व्यापारिक मार्गों का अत्याधिक विकास हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्य ने युनानी शासकों तथा बिन्दुसार ने पश्चिमी देशों के साथ व्यापार संबंध बनाये रखे । फिलाडेलफस का दूत डायोनिसस बिन्दुसार के समय आया था । अशोक ने अपने शासनकाल में सीरिया, मिश्र, एमीरस, यूनान तथा लंका से धार्मिक के साथ आर्थिक संबंध भी विकसित किये थे । बोधिसत्वाव दानकल्पलता में व्यापार मार्ग रक्षा का उल्लेख है ।

इस समय पुरूषपुर से पाटलीपुत्र तक का विस्तृत स्थल मार्ग था जिसके निकट राजगृह, काशी, कौशाम्बी, मथुरा और तक्षशिला नगर थे । मेगस्थनीज ने उल्लेख किया है कि व्यापार पथ पर आधा–आधा कोस पर पत्थर लगे थे । पाटलीपुत्र तथा कलिंग के मध्य भी व्यापार मार्ग था । पाटलीपुत्र तथा ताम्रलिप्ति भी संयुक्त थे । मध्य एशिया का काशगर नगर चीन को जाने वाले स्थल व्यापार मार्ग पर था । उस समय चीन की राजधानी कुरूक्षेत्र से उत्तर–पश्चिम में कानसू क्षेत्र के पास थी जिसका स्थल व्यापार मार्ग चीन से काशगर तथा मारकंद होता हुआ भारत तक था । कुछ इतिहासकारों का अनुमान है कि कौटिल्य द्वारा वर्णित चीन और भारत के मध्य समुद्र मार्ग की तुलना में स्थल मार्ग द्वारा व्यापार होता था इसकी स्थिति बर्मा के उत्तर से पश्चिम चीन होकर मध्य एशिया को जाने वाले स्थल मार्ग द्वारा था । उत्तर होकर जाने वाले मार्ग पर हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, सेतव्या, श्रावस्ती, मिथिला, चंपा और ताम्रलिप्ति थे । गंगा के मैदान से दक्षिण रास्ते पर मथुरा काम्पिल्य सोरेय, साकेत, कोशाम्बी तथा बनारस बसे थे।

प्राचीन उल्लेखों के अनुसार हेमवत मार्ग अथवा बलख से हिन्दुकुश होकर भारत का मार्ग दक्षिण पथ अर्थात कोशाम्बी उज्जैन प्रतिष्ठान के मार्ग से उत्तम था । कौटिल्य हेमवत मार्ग की तुलना में दक्षिण पथ मार्ग को अच्छा व्यापार मार्ग मानते है तथा दक्षिण पथ में वह व्यापार मार्ग श्रेष्ठ था । यह मार्ग खनिज प्राप्त होने वाले क्षेत्र से होकर जाता था। सार्थवाह लम्बी यात्राएं करते थे ।

मौर्यकाल में जल व्यापार मार्ग द्वारा भी भारतीय बन्दरगाहों में व्यापार होता था । पूर्वी समुद्र तट पर ताम्रलिप्ति तथा पश्चिमी समुद्र तट पर भरूकच्छ बन्दगाह थे । लंका तथा स्वर्ण भूमि के साथ इनसे व्यापार होता था । स्ट्रेबो के विवरण से ज्ञात होता है कि मिश्र के टामली शासकों के समय यूनानी यात्री भारत की यात्रा करते थे । यूडाक्सस नामक यात्री ने भारत की दो बार यात्रा की थी । सर्वप्रथम उसे एक भटके हुए समुद्री भारतीय यात्री ने लाल सागर होकर भारत आने का मार्ग बताया था। बाद में युडाक्सस द्वारा दक्षिण अफ्रीका का चक्कर लगाकर भारत पहुंचने का प्रयास किया परन्तु उसका यह प्रयास सफल नहीं हो सका था ।

स्ट्रेबो के उल्लेख से विदित होता है कि भारतीय जलपोतों को उसने ईरान और अरब देशों से होकर मिश्र की ओर जाते देखा था ।

6.6 मौर्यत्तर काल के व्यापार पथ

ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी के अंतिम समय उत्तर–पश्चिम भारत में शक वंश ने अपना अधिकार कर लिया तथा गांधार, मथुरा, तथा काठियावाड़ के भूभाग में अपनी राजनैतिक सत्ता स्वतंत्र रूप से स्थापित कर ली । दक्षिण भारत में सातवाहन वंश का अधिपत्य था । शक–सातवाहन युग में शिल्प और वाणिज्य के विकास के कारण व्यापार पथ भी सामान्य रूप से गतिमान बने रहे । दक्षिण के व्यापार केन्द्र दक्षिण ही नहीं उत्तर से भी जुड़ गये । कुषाण काल में भारत का पश्चिमी देशों विशेषकर रोम के साथ अनुकूल परिस्थितियों के कारण व्यापार तथा व्यापार पथ विकास करते गये । इस समय भारत का पश्चिमी जगत से व्यापार स्थल तथा जल दोनों मार्गों से होता था । स्थल मार्ग खैंबर दर्र से होकर हिन्दुकुश पर्वत पार करके बल्ख जाता था जो आक्सस नदी के किनारे होता हुआ केस्पियन सागर तक पहुंचता था। व्यापारी यहां से स्थल या जल मार्ग से काला सागर तक अपना व्यापार करते थे । जिनकी मध्य सागर तक पहुंच थी । बल्ख से हिन्दुकुश होकर काबुल, पेशावर, तक्षशिला, मथुरा तथा पाटलिपुत्र तक स्थल व्यापार मार्ग था । दक्षिण पूर्वी मार्ग बोलन दर्रे से भारत आता था तथा उत्तर पूर्वी मार्ग काबुल होकर कोशेय पथ से मिल जाता था । जल व्यापार मार्ग पश्चिम के बन्दरगाहों से फरात नदी के मुहानों तक जाते थे जो स्थल मार्ग द्वारा पामीर शहर को जोड़ते थे । एक अन्य जल मार्ग लाल सागर होकर स्वेज नहर से भूमध्य सागर होकर गाजा तथा राइनोकोलुरा बन्दरगाहों तक जाता था । अरबसागर होकर भारत का मालाबार तट भी व्यापार मार्गों द्वारा संयुक्त था । हिपोलस नामक जहाजी प्रथम बार अरब सागर होकर भारत आया था । इस कारण हिन्द महासागर और अरब सागर होकर जाने वाला मार्ग व्यापार पथ के रूप में अधिक प्रयुक्त होने लगा । इसके पूर्व भारत से मिश्र तक पहुंचने में एक वर्ष से अधिक का समय लगता था परंतु अरब सागर के किनारे स्थित मुजरिस नामक बन्दरगाह से ओकेलिस बन्दर जो स्वेज नहर पर स्थित था यात्रा समय 40 दिन ही लगने लगा । सिकन्दरिया तक व्यापारी लगभग 3 माह समय में पहुंचने लगे । लगभग ई. पू. प्रथम शताब्दी में भारतीय व्यापारी मिश्र से आगे यूरोपी देशों को जाने लगे ।

रोम साम्राज्य टालमी वंश के पतन के उपरांत अगस्तस के समय भारतीय व्यापार पथ रोम के साथ गतिवान बने रहे । लतिनी साहित्य में इसके उदाहरण मिलते है । पुरू देश, भड़ोच क्षेत्र, चेर क्षेत्र तथा पांडय भू भाग के व्यापारी रोम गये थे । पेरिप्लस एक अनुभवी नाविक द्वारा समुद्र यात्रा पर रचित पुस्तक है जिसमें भारत के आंतरिक एवं बाह्य व्यापार मार्गों पर जानकारी मिलती है । भारत का एथियोपिया तथा पश्चिमी अफ्रीकी समुद्र तट से व्यापार संबंध था । अगथार्किडीज से ज्ञात होता है कि भारत के व्यापारी नियमित रूप से अदन जाते थे । भृगुकच्छ महत्वपूर्ण बंदर था जो स्थल व्यापार मार्ग द्वारा उत्तर भारत के क्षेत्रों से जुड़ा था । बंबई के समुद्र तट पर सोपारा और कल्याण बन्दरगाह थे । मालाबार क्षेत्र में नोर, मुजरिस तथा नेल्सिण्ड स्थित थे पूर्वी समुद्र तट पर मसुलिपत्तम के समीप मसुलिया तथा गंगे बन्दरगाह थे । टालमी के भूगोल में भारत के बन्दरगाहों तथा व्यापारिक नगरों का उल्लेख मिलता है ।

इस समय भारत का व्यापार पूर्वी देशों के साथ भी होता था जिसमें स्थल और जल मार्गों की भूमिका महत्वपूर्ण थी । भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त और चीन के बीच व्यापार के मार्ग बैक्ट्रिया में संयुक्त होते थे । चियांग–किएन के विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है । चीन से बर्मा और यूनान होकर जो मार्ग भारत आता था वह अफ़गानिस्तान होकर बेक्ट्रिया जाता था । पेरिप्लस के अनुसार स्थल मार्ग से बैक्ट्रिया बोरिगाज और गंगा के रास्ते कुरू मंडल तट पर पहुंचता था । कुषाण साम्राज्य के स्थायित्व के कारण रेशम मार्ग के विकास को मदद मिली । टालमी से ज्ञात होता है कि एक व्यापार मार्ग पाटलीपुत्र–यूनान–बर्मा, आसाम होता हुआ भारत–चीन के मध्य था । तिब्बत तथा सिक्किम होकर भी व्यापार मार्ग का अस्तित्व था । चीनी रेशम पाटलीपुत्र लाया जाता था । वहां से ताम्रलिप्ति जाता था ।

ई. पू. द्वितीय शताब्दी में भारत के सामुद्रिक व्यापार मार्गों द्वारा संबंध थे । हुअंग–चे अर्थात कांची तथा चीन समुद्र मार्ग द्वारा संयुक्त थे । बौद्ध ग्रंथ मिलिन्दपन्हों में समुद्र मार्ग से चीन का यात्रा का उल्लेख है । गंगा के दोआब और चीन के मध्य नियमित रूप से जल मार्ग द्वारा व्यापार होता था । बौद्ध ग्रंथ निद्देस तथा पेरिपल्स से जल मार्ग द्वारा स्वर्ण भूमि तथा भारतीय व्यापार मार्ग के बारे में जानकारी मिलती है ।

6.7 गुप्तकाल के व्यापार पथ

गुप्त काल में राजनैतिक स्थायित्व के कारण भारतीय व्यापार की अत्याधिक उन्नति हुई । शकों से गुजरात क्षेत्र की विजय के कारण उनका भड़ोंच के बन्दरगाह पर अधिकार हो गया । परिणामस्वरूप पश्चिम के देशों से उनका जल व्यापार मार्गों द्वारा व्यापार होने लगा । समुद्रगुप्त अपनी दिग्विजय स्थल मार्गों के माध्यम से करते हुए उत्तर से दक्षिण तक के विशाल मार्ग होने की पुष्टि करता है । उदयगिरि गुहालेख से भी ज्ञात होता है कि मालवा और पाटलीपुत्र के मध्य स्थल मार्ग था । गुप्तकाल में भड़ोंच, मथुरा, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, विदिशा, बनारस, पाटलिपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, ताम्रलिप्ति तथा पेशावर स्थल व्यापार मार्गों से जुड़े हुए थे । पाटलिपुत्र से भारतीय उत्तर पश्चिमी क्षेत्र तक जाने वाला महा उत्तर व्यापार पथ था जिसका उल्लेख कालिदास ने कुमारसंभव में किया है । रघुवंश में उल्लेख आता है कि नदियों, वनों तथा पहाड़ों से होकर व्यापार पथ गुजरते थे । इन मार्गों का उपयोग व्यापारी निर्भय होकर करते थे । पाटलिपुत्र से एक व्यापार मार्ग विदिशा और उज्जैन होकर नर्मदा तट तक जाता था । श्रावस्ती–कोशाम्बी मार्ग भी महत्वपूर्ण था । मथुरा से एक व्यापार मार्ग सिंधु नदी के मुहाने पर स्थित बंदरगाह तक जाता था । इस युग में आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने पश्चिम भारत से पूर्वी भारत तक के विभिन नगरों का भ्रमण यात्रा पथों से किया था ।

हर्ष के समय भी प्रमुख नगर स्थल व्यापार मार्गों से संयुक्त थे । प्राय: उत्तर भारत के प्राय: प्रमुख नगर व्यापार केन्द्रों के रूप में विकसित हो गये थे । पश्चिम में तक्षशिला से थानेश्वर, मथुरा, कोशाम्बी, बनारस, पाटलिपुत्र नगरों से पूर्व में ताम्रलिप्ति तक जाता था । ताम्रलिप्ति प्रमुख व्यापार केंद्र था जहां पर स्थल तथा जल व्यापार मार्ग मिलते थे । इस समय अधिक व्यापार जल मार्ग से होता था । कालिदास के विवरण कलिंग क्षेत्र तथा दक्षिण पूर्व के द्वीपों के मध्य व्यापार मार्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते है । फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति से लंका और जावा होकर वह चीन गया था । उसके साथ अनेक

सहयात्री व्यापारी थे, चीनी साहित्य से ज्ञात होता है कि वाकाटक गुप्त काल में भारतीय व्यापारी पूर्वी तुर्किस्तान में जाकर बस गये थे । कल्याणी भृगुकच्छ से जल व्यापार फारस की खाड़ी पहुंचता था । भारत तथा रोम का व्यापार इस समय दक्षिण भारत के बंदरगाहों से होता था । ताम्रलिप्ति के अतिरिक्त इस समय कुदूर, घंटशाल, कावेरीपटट्न, कौरके, सलिपुर, मुजिरिस, कल्याण, भड़ोच आदि प्रमुख बंदरगाह थे । चीन के इतिहास से ज्ञात होता है कि चीन के आर्थिक जीवन में भारतीय वाणिज्यिक पथों का महत्वपूर्ण स्थान था । चीन का पश्चिम के देशों के साथ व्यापार भारतीय बंदरगाहों द्वारा होता था । जाबा, सुमात्रा तथा लंका के साथ विभिन्न व्यापार पथों का अस्तित्व भी इस समय ज्ञात होता है । चीन की व्यापारिक वस्तुएं जावा, सुमात्रा, भारत के पूर्वी समुद्री तट, लंका और पश्चिमी भारत के जल मार्ग द्वारा ईरान और अरब जाती थी । कास्मस से ज्ञात होता है कि चीन, जावा सुमात्रा तथा दक्षिण भारत की व्यापारिक वस्तुएं लंका जाती थी जहां से पश्चिम के देशों को भेजी जाती थी प्रो. के. डी. वाजपेयी ने इस समय रोम साम्राज्य, ईरानी साम्राज्य, मध्य एशिया तथा दक्षिण–पूर्वी एशिया आदि के साथ भारतीय वाणिज्यिक पथों के अस्तित्व को स्वीकार किया है । गुप्त काल में उज्जयिनी एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जो भारत के अन्य वाणिज्य पथों से जुड़ा था ।

6.8 पूर्वमध्य–काल के व्यापार पथ

पूर्व–मध्यकाल में स्थल तथा जल व्यापारिक मार्गों के विकसित स्वरूप की जानकारी प्राप्त होती है। समराइच्चकहा, कथासरित्सागर, और कुवलयमाला के विवरण व्यापारियों की यात्राओं के संदर्भ देते है । इसका समय सार्थवाह के नेतृत्व में महत्वपूर्ण यात्राएं होती थी । भविस्यत्तकहा इसका विवरण देती है । आंतरिक व्यापार में स्थल वाणिज्यिक पथों का महत्वपूर्ण स्थान था । भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत की ओर का व्यापारिक पथ अधिक लोकप्रिय था । भारतीय व्यापारी तक्षशिला से हिन्दुकुश पार कर ईरान जाते थे जहां से परसिया तथा आक्सस की घाटी तक वाणिज्य पथ का अस्तित्व था । इलियट ऐंड डाउसन ने बगदाद और पंजाब के बीच व्यापारिक पथ का उल्लेख किया है । इब्न खुर्दाज्बि के उल्लेख से जानकारी मिलती है कि सिन्ध और पर्सिया को जोड़ने वाले एक वाणिज्य पथ का अस्तित्व भी था । अलबरूनी ने भारतीय वाणिज्यिक पथों के बारे में महत्वपूर्ण उल्लेख किया है । उनके अनुसार एक स्थल व्यापार मार्ग कन्नौज से प्रयाग होकर दक्षिण के भूभाग में कांजीवरम तक जाता था । दूसरा मार्ग कन्नौज को गंगा के मुहाने से जोड़ता था । इस मार्ग पर प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र बनारस स्थित था । कन्नौज से पूर्व के क्षेत्र को जोड़ने वाले एक व्यापार पथ का अस्तित्व भी था । इसका प्रयोग व्यापारी कामरूप, नेपाल तथा तिब्बत तक व्यापार करने के लिए करते थे । एक अन्य स्थल मार्ग कन्नौज से बनवासी तक अस्तित्व में था । गुजरात तथा कन्नौज भी एक व्यापार पथ के द्वारा आपस में जुड़े हुए थे । मथुरा से धार तथा वहां से उज्जैन तक एक अन्य व्यापारिक मार्ग का अस्तित्व भी इस समय ज्ञात होता है । मथुरा से धार तक विकसित व्यापार पथ का अस्तित्व ज्ञात होता है । धार से मंदगिरी और पश्चिम में तान तक व्यापार पथ के अस्तित्व की जानकारी मिलती है । सोमनाथ से काठियावाड़ होकर एक मार्ग बजान को व्यापार के लिए उपलब्ध था । इस समय का एक अन्य महत्वपूर्ण व्यापार केंद्र अनहिलपाटन

पश्चिम समुद्र तट पर स्थित तान से स्थल व्यापार मार्ग द्वारा संयुक्त था । करांची से सिंधु नदी के मुहाने होता हुआ भटिण्डा होकर एक मार्ग बजान आता था । कश्मीर से कंनौज तक भी वाणिज्य पथ का अस्तित्व ज्ञात होता है । कंन्नौज, पानीपत, अटक, काबुल तथा गजन भी स्थल व्यापार मार्ग जुड़े हुए थे । अलबरूनी ने तीज से सेतुबन्ध तक के व्यापार पथ का उल्लेख भी किया है । अबू दल्फ मुसइर नामक अरब यात्री बगदाद से स्थल मार्ग द्वारा तुर्किस्तान होकर चीन गया था । वापसी यात्रा में उस व्यापारी ने काबुल से कश्मीर की यात्रा की थी । पूर्व मध्य युगीन व्यापारिक पथों के बारे में शब्दानुशासन में हेमचन्द्र अनेक व्यापारिक पथों के बारे में उल्लेख करते है । राजगृह से गांधार तक व्यापार पथ का अस्तित्व था जिसका पूर्वी भाग तक्षशिला होता हुआ हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग तथा पाटलीपुत्र को जोड़ता था । इन व्यापार पथों पर सुरक्षा के लिए व्यापारी समूह बनाकर यात्रा करते थे । तिलकमंजरी, भविस्यत्तकहा तथा त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित से यह जानकारी मिलती है कि इन व्यापारिक पथों पर जाने के पूर्व अपनी सभी आवश्यक जरूरतों की तैयारी कर जाते थे ।

पूर्व–मध्य–युग में शंकू पथ, कान्तार पथ, स्थल पथ, अज पथ, आदि के विवरण यह जानकारी देते है कि व्यापारिक पथों का समुचित वर्गीकरण इस समय तक हो गया था । स्थल मार्गों के अतिरिक्त पूर्व मध्य युग के आर्थिक जीवन में जल व्यापारिक मार्गों के अस्तित्व की जानकारी भी मिलती है । आंतरिक जल व्यापार मार्ग विभिन्न नदियों में अस्तित्व में थे जिनसे नावों में व्यापारिक वस्तुऐं लेकर व्यापारी विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों पर जाकर क्रय–विक्रय करते थे । सामुद्रिक व्यापारिक मार्गों का भी इस समय विकसित स्वरूप ज्ञात होता है । समराइच्चकहा के विवरण से ज्ञात होता है कि बंगाल की खाड़ी और चीन से स्वर्णभूमि होते हुए देवपुर तक व्यापार मार्ग का अस्तित्व था । वसुभूति की समुद्र यात्रा में उल्लेख है– कि ताम्रलिप्ति से स्वर्णभूमि जहाज दो महीने में पहुंचते थे । सातवीं शताब्दी में ताम्रलिप्ति और वैजयन्ति भारत के महत्वपूर्ण बंदरगाह थे जहां से व्यापारी सिंहल, महाकटाह तथा चीन तक व्यापार हेतु जाते थे । स्वर्णभूमि का श्रीपुर बंदरगाह भारतीय व्यापारियों के लिए व्यापार का प्रमुख केंद्र था । इत्सिंग ने उल्लेख किया है कि सातवीं शताब्दी में भारतीय व्यापारी दक्षिण पूर्व के देशों से जल व्यापार पथ द्वारा करते थे । दक्षिण भारत का बंगाल की खाड़ी, अंडमान निकोबार द्वीप के मध्य के जल मार्ग या दक्षिण निकोबार और आचीन के बीच के व्यापार पथ का उपयोग करते हुए भी व्यापारी तक्कोल और केटा पहुंचते थे । वहां से सिगोरा और त्रांग होकर पातालूंग होता हुआ व्यापार मार्ग कण्डोन खाड़ी तक जाता था । मवालिपुरम और कांजीवरम के बंदरगाह से सिंहल और स्वर्णभूमि को जहाज चलते थे । सिंहल से प्राप्त आठवीं सदी के एक लेख से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी जहाजों पर व्यापारिक वस्तुऐं लेकर सिंहल में व्यापार करने आते थे । सातवीं सदी के मध्य अरब व्यापारी भड़ोंच और थाने के बंदरगाह के जानकार हो गये थे । लाल सागर से आगे भारतीय माल का व्यापार अरब यात्री ही करते थे । अरबों ने सिंध और काठियावाड़ पर वरचस्व स्थापित कर अपने लिए सुगम समुद्री मार्ग खोज लिये थे । फारस की खाड़ी और लाल सागर व्यापारिक मार्ग द्वारा एक दूसरे से जुड़ चुके थे । आठवीं और नवी सदी में अरबों का प्रभाव सिंध, गुजरात तथा कोंकण के समुद्र तट तक ही सीमित था । अलमसूदी ने उल्लेख किया है कि भारत के जहाज बसरा, सिरफ, ओमन,

जावा और चम्पा से होकर केन्टन तक जाते थे । याकूबी के विवरण भी पूर्व मध्य युग में जल व्यापार मार्गों के बारे में जानकारी देते है सुलेमान ने उल्लेख किया है कि सिराफ से केण्टन तक यात्रा 5 माह में पूर्ण होती थी । इब्न खुर्दादबह के विवरण से ज्ञात होता है कि बसरा, खारक का टापू, लवान का टापू, ऐरोन का टापू, खेन, केश, इब्रकवान, हुरमुज होकर सारा पहुंचा जा सकता था ।

अलबरूनी के अनुसार भारतीय समुद्र तट मकरान की राजधानी तीज से प्रारंभ होकर दक्षिण पूर्व को देबल को जाता था । देबल के आगे चलकर करांची, कच्छ ,सोमनाथ, खम्बात, भड़ोंच, सन्दान, सुबारा, तथा थाना पड़ते थे । जहां से जहाज जिंमूर कंजी होते हुए सिंहल पहुंचते थे । वहां से चोर मण्डल के व्यापार पथ से होते हुए रामेश्वर जाते थे । आबूज़ेद सेराफी लाल सागर होकर जद्दा के रास्ते भारत व्यापार मार्ग का उल्लेख करते है । हदूद–ए–आलम से ज्ञात होता है कि कामरूप, मालाबार, खभ्भात से अरब क्षेत्र में व्यापार वस्तुऐं जल मार्गों से जाती थी । अरबों के भौगोलिक विवरणों से यह जानकारी मिलती है कि भारतीय व्यापारियों की फारस की खाड़ी यात्राएं होती थी ।

दसवीं शताब्दी के बाद भी चीन के व्यापार में अरबों और भारतीयों का महत्वपूर्ण योगदान था । डॉ. मोतीचन्द्र ने सार्थवाह में पिंग–चू–कोतान के उल्लेखों के आधार पर मालाबार, कलिंग तथा कालीकट के प्रमुख बंदरगाहों का उल्लेख किया है । चाओ–जु–कुआ के विवरण वारहवीं और तेरहवीं सदियों में चीनियों, अरबों और भारतीयों के हिन्द महासागर में के निकटतम व्यापार संबंधों का संकेत देते हैं । दक्षिण पूर्व एशिया के देशों और द्वीपों से अनेक प्रकार की वस्तुऐं जल व्यापार मार्गों के द्वारा भारत आती थी । राजशेखर के विवरण भी पूर्व मध्य युग में जल व्यापार पथों के विकसित स्वरूप की जानकारी देते है । इस समय भारत का पश्चिम और पूर्वी देशों के साथ व्यापार समुचित व्यापारिक पथों के अस्तित्व के कारण महत्वपूर्ण स्थिति में आ गया था । मलेय प्रायद्वीप से होकर चीन और अरब देशों के मध्य व्यापारिक पथों के माध्यम से व्यापार होता था । दक्षिण पूर्व एशिया के व्यापारिक पथों पर बारहवीं सदी में चीन का पूर्ण अधिपत्य हो गया था । पूर्व और पश्चिम के व्यापारियों के व्यापार के लिए लंका एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में अस्तित्व में था । तेज, देवल, खभ्यात, सोपारा आदि भारतीय बदरगाहों से पश्चिमी देशों को व्यापारिक पथ जाते थे ।

6.9 व्यापार परिवहन माध्यम

भारत के सामाजिक उत्कर्ष में वाणिज्य पथ का महत्व था । कुल्ली संस्कृति से ज्ञात बैलगाड़ी की प्रतिकृतियां व्यापार माल परिवहन से संबंधित मानी जा सकती है । वैदिक युग में रथ, घोड़े, बैलगाड़ी, ऊंट और हाथी का प्रयोग व्यापार परिवहन में होता था । झूकर से घोड़े की काठी की प्रतिकृति प्रमाण इसको स्पष्ट करते है । मेके ने जल मार्गों में नाव के तथा जहाजों के उपयोग के संदर्भ दिए है । ऋग्वेद तथा बाद की संहिताओं से समुद्री व्यापार में नाव के प्रयोग के उल्लेख मिलते है । बौद्ध साहित्य में समुद्र यात्रा के अनेक विवरण मिलते है । जातकों से बैलगाड़ियों द्वारा व्यापार वस्तुऐं एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का उल्लेख भी

मिलता है । जातकों से ज्ञात होता है कि व्यापार में साझेदारी होती थी । कूट वणिज जातक में इस प्रकार के उल्लेख हैं

मौर्य युग में व्यापार में स्थल तथा जल परिवहन माध्यम प्रयोग की जानकारी मिलती है । पण्याध्यक्ष स्थल–पथ और जल पथ से आने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता था । स्वदेशी वस्तुओं तथा शिघ्र खराब होने वाली वस्तुओं का विक्रय करवाना राज्य का उत्तरदायित्व था । मौर्य युग में तोल–नाप तथा विदेशी व्यापार का निरीक्षण शल्काध्यक्ष, पोताध्यक्ष और अन्तपाल करते थे ।

गुप्त युगीन आंतरिक व्यापार श्रेष्टि, सार्थवाह, निगम के माध्यम से होता था । "सार्थ" कहलाने वाले व्यापारी वस्तुओं को घोड़ों, पशुओं और बैलगाड़ी पर लादकर एक स्थान से अन्य स्थान पर क्रय–विक्रय करने ले जाते थे । रघुवंश से नाव का प्रयोग भी परिवहन माध्यम के रूप में ज्ञात होते है । चीनी यात्रियों के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि भारत से हिन्द एशिया और चीन तक जहाज व्यापार में परिवहन के रूप में थे । फाहियान के विवरण से ज्ञात होता है कि बड़े जहाज तथा छोटे जहाज व्यापार वस्तुओं के परिवहन में प्रयोग होते थे ।

पूर्व–मध्य–युग में स्थल तथा जल मार्गों के द्वारा व्यापार वस्तुएं एक स्थल से दूसरे स्थल तक भेजी जाती थी । स्थल व्यापार मार्ग द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर बैलगाड़ी या पशुओं के द्वारा भेजा जाता था । अलमसूदी ने उल्लेख किया है कि मालवाही जहाज जल परिवहन माध्यम थे । मंगरोल अभिलेख ग्राम तथा नगर के मध्य व्यापार परिवहन माध्यम बैलगाड़ी की जानकारी देता है । समराइच्चकहा में भी उल्लेख है कि पोतवाहक परिवहन माध्यम थे । इब्नबतूता के अनुसार एक बड़े जहाज पर काम करने वाले लगभग एक हजार लोग होते थे । लेख पद्धति, तिलक मंजरी, वृहत्कथा मंजरी आदि के विवरण भी जहाजों को उपयोग व्यापार परिवहन के माध्यम के रूप में करते थे ।

6.10 व्यापार नियम

वैदिक युग के विवरण व्यापारियों की प्रपथों से यात्राओं के विवरण देते है । परंतु व्यापार नियमों के बार में उल्लेख कम ज्ञात होते है । जातकों से ज्ञात होता है कि व्यापारी के लिए श्रेणीबद्ध होना आवश्यक था। कूटवणिज जातक के अनुसार व्यापारियों का आपस में साझेदार समझौता रहता था तथा दोनों बराबर पूंजी लगाते थे जिससे उन्हें भी बराबर लाभ प्राप्त होता था । पाणिनि के अनुसार जितना शुल्क व्यापार वस्तु पर लगता था उसके अनुसार उसका नामकरण हो जाता था । पांच कार्षापण चुंगी लगी वस्तु पंचक कहलाती थी । आधा कार्षापण चुंगी शुल्क, वस्तु आगिक कहलाती थी । चुंगी घर से प्राप्त आय शेलक–शालिक कहलाती थी । पाणिनि पूर्ब के देशों में कार नामक कर प्रचलन का उल्लेख भी करते है । बोधायन के अनुसार व्यापार वस्तु के आंतरिक मूल्य के अनुरूप राज्य शुल्क लेता था । नारवा भी राज्य द्वारा मनमाना व्यापार कर न लेने का उल्लेख करते है । जो व्यापारी पथ कर अदा किए बगैर सीमा सूचक को पार कर लेता था उसे आठ भाग अधिक जुर्माना लिया जाता था ।

अर्थशास्त्र में व्यापार नियमों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । कौटिल्य के अनुसार आंतरिक एवं बाहरी व्यापार पर व्यापारी को कर देना होता था । मौर्य काल में राज आज्ञा द्वारा ही व्यापारी अपना नया व्यापार प्रारंभ कर सकता था । राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य ही लिया जा

सकता था । कौटिल्य के अनुसार वस्तुओं का विक्रय उत्पादन स्थल पर किया जाता था । मेगस्थनीज भी इसका समर्थन करते है । संस्थाध्यक्ष वस्तुओं को गोदाम में रखने और विक्रय की व्यवस्था करता था । शुल्काध्यक्ष चुंगी तथा तोल–माप, अन्तपाल विदेशी व्यापार का निरीक्षण करता था । इसके अतिरिक्त व्यापार के लिए शोल्कि, मोल्मिक, आयुक्तक आदि के उल्लेख भी मिलते है । स्थानीय और विदेशी वस्तुओं की मांग और मूल्य में होने वाले उतार–चढ़ाव को सन्निघाता देख–रेख करता था । व्यापार वस्तुओं में मिलावट करने तथा तोल में कमी वाले पर राज्य द्वारा अर्थ दण्ड किया जाता था ।

गुप्तयुगीन व्यापार नियम श्रेष्ठि कुलिक निगम और सार्थवाह के माध्यम से नियंत्रित होते थे । सार्थवाह के सभी व्यापारी लाभ–हानि में समान रूप से भागीदार होते थे । शिव स्कंध बर्मन, हीर हरगुल्मि फलक से शुल्कगह के संदर्भ मिलते है । वात्स्यायन के अनुसार व्यापारियों से पथ कर लिया जाता था । स्कंधगुप्त के विहार स्तंभ ले गोल्मिक नामक अधिकारी का उल्लेख व्यापार नियंत्रित अधिकारी के अर्थ में लिया जा सकता है । प्लिनी के अनुसार खनिज वस्तुओं के व्यापार पर राज्य द्वारा व्यापारियों से कर लेने का विधान था । प्रभावती गुप्ता के रिधनपुर तथा प्रवरसेन के चम्पक ताम्रपतत्र से राज्य के एकाधिकार की व्यवस्था के संदर्भ प्राप्त होते है । वराह मिहिर के विवरण भी व्यापार व्यवस्था के नियमों के बारे में कतिपय संदर्भ देते है ।

पूर्वमध्ययुग में भी शोल्किक, तारिक तथा हट्टपति नामक अधिकारियों के विवरण व्यापार नियमों के पालन हेतु ज्ञात होते है । इस समय व्यापारी बेगार लेने के अधिकारी भी थे । हर्षचरित में थानेश्वर में व्यापार नियमों के उल्लेख प्राप्त होते है । मेधातिथि ने अन्तरप्रादेशिक व्यापार में संलग्न व्यापारियों द्वारा पालन करने वाले नियमों की चर्चा की है । समराइच्चकहा व्यापार वस्तु की मांग और पूर्ति के नियमों के बारे में विवरण देती है । सोमदेव के विवरण व्यापार वस्तुओं का भण्डारण पेण्ठास्थान में किये जाने की जानकारी देते है । इस स्थान पर व्यापार करने वाले व्यापारियों से शुल्क लिया जाता था । नीतिवाक्यामृत के अनुसार यदि किसी व्यापारी का माल पेण्ठास्थान से चोरी चला जाता था तो इसकी पूर्ति राजकोष से की जाती थी । हेमचन्द्र ने क्रय–विक्रय के लिए व्यवहार शब्द का उल्लेख किया है जो व्यापार नियमों के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है । इस समय व्यापारी निश्चित समय मूल्य देने के समझोते के अनुसार, व्यापार वस्तुऐं दृव्यक नामक व्यापारी से लेकर उनका विक्रय करता था । यह वास्त्रिक कहलाता था । हेमचन्द्र व्यापारियों से चुंगी कर लेने के संदर्भ भी देते होते हैं । यह कर व्यापारियों से उन्हें व्यापार सुरक्षा हेतु प्रदत्त सहायता के लिये लिया जाता था । राजोर अभिलेख से यह जानकारी मिलती है कि प्रवीण नामक कर व्यापारियों से लिया जाता था । गहड़वाल शासकों के समय व्यापार नियमों के अनुसार प्रवणि नामक कर लेने के संदर्भ मिलते है । पूर्वमध्य युग में व्यापार नियमों में इस बात का समावेश भी था कि विदेशी व्यापार विकसित करने के लिए राज्य द्वारा करों में छूट भी प्रदान की जाएं । इस समय विदेशी व्यापारियों को राज्य द्वारा कुछ सहायता भी प्रदान की जाती थी । प्राचीन भारतीय व्यापार में शुल्क, वर्तनी, अतिवाहक, गुल्मदेय, तरदेय, भुक्त तथा भाग आदि कर प्रावधान भी व्यापार नियम के अंतर्गत ज्ञात होते है ।

6.11 सारांश

प्राचीन भारत के व्यापारिक पथों का विशलेषण करने पर हमें यह स्पष्ट होता है कि मानव ने सामाजिक विकास के प्रारंभ में विभिन्न मार्गों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । जिनका प्रयोग वह व्यापार के विकास के लिए करता था । व्यापार मार्गों के विकास में भौगोलिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया । अतिरिक्त उत्पादन के कारण सैंधव युग में भारतीय आंतरिक तथा बाहरी व्यापार उन्नत अवस्था में ज्ञात होता है । बलुचिस्तान, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, सोराष्ट्र तथा गुजरात के भूभाग में व्यापार वस्तुओं की उपलब्धि यह स्पष्ट करती है कि यह क्षेत्र सैंधव युग के आर्थिक जीवन में विभिन्न व्यापार पथों के द्वारा संयुक्त थे । भारतीय विदेशी व्यापार स्थल मार्ग द्वारा बलुचिस्तान के मार्ग से होता था । लोथल, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो से सामुद्रिक व्यापार मार्ग द्वारा भी व्यापार होता था ।

वैदिक काल में स्थल तथा जल मार्ग द्वारा व्यापार होने की जानकारी मिलती है । उत्तर वैदिक कालीन आर्थिक जीवन में आलीन, पख्तून, बोलन दर्रा, सिंधु का क्षेत्र, कुरू पांचाल, कोशल, काशी, विदेह, मगध, अंग आदि स्थल व्यापार मार्ग द्वारा संबद्ध थे । वैदिक साहित्य से हमें यह जानकारी भी मिलती है कि जल व्यापार मार्गों के माध्यम से आंतरिक तथा बाहरी व्यापार संपादित होता था । 600– 319 ई. पू. के आर्थिक जीवन में संस्कृति तथा पाली साहित्य से ज्ञात होता है कि एक स्थल मार्ग श्रावस्ती से राजगृह, दूसरा श्रावस्ती से पेठन, तीसरा सिध–सोवीर होकर रोरूक तथा एक अन्य राजगृह से बनारस, साकेत, श्रावस्ती होकर तक्षशिला को जाता था ।

यहूदियों के ऐतिहासिक विवरण से ज्ञात होता है कि भारत के जल मार्ग द्वारा पश्चिम से व्यापारिक संबंध थे । स्कोइलेक्स के विवरण फारस और भारत के मध्य लाल सागर होकर जल व्यापार मार्ग का विवरण देते है । जातक कथाओं से भारत से वर्मा, मलाया, स्याम तथा कम्बोडिया के मध्य जल व्यापार मार्ग का ज्ञान होता है । मौर्यकालीन व्यापार मार्ग के बारे में मैगस्थनीज के विवरण उत्तर पश्चिमी सीमा से पाटलीपुत्र तक स्थल व्यापार मार्ग की जानकारी देता है । स्ट्रैबो भारत तथा पश्चिम के मध्य स्वेज नहर होकर एक व्यापार मार्ग के अस्तित्व को स्वीकार करते है । पेरिप्लस से भारत के भृगुकच्छ बंदरगाह की जानकारी मिलती है । टालमी के भूगोल से भी भारतीय बंदरगाहों तथा व्यापार पथों के विवरण ज्ञात होते है । सातवाहन कुषाणकाल में उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्य विभिन्न व्यापारिक पथों की जानकारी होती है । भारत के रोम तथा पूर्वी देशों के मध्य व्यापार मार्गों की जानकारी भी मिलती है । गुप्तकाल में भडोंच, उज्जयिनी पेठण, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलीपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्ति, कोशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्रा तथा पेशावर स्थल व्यापार मार्गों द्वारा संबद्ध होने के संकेत है । ताम्रलिप्ति इस समय का प्रमुख बंदरगाह था जहां पर स्थल और जल व्यापार मार्ग आकर संयुक्त होते थे । साथ ही जल व्यापार मार्ग कल्याण, कावेरी पलनम, मलाबार के प्रमुख बंदरगाहों से भी विभिन्न व्यापार केंद्रों को जाते थे । भारत के पूर्वी समुद्री तट से लंका, ईरान ,अरब जावा, सुमात्रा तक जल व्यापार मार्ग अस्तित्व में था । पश्चिम के

देशों के साथ चीन का व्यापार भारत के बंदरगाहों से होता था । स्थल व्यापार मार्ग द्वारा भारत और चीन के मध्य व्यापारिक गतिविधियां संचालित होती थी । पूर्व मध्ययुगीन प्रमुख व्यापार केन्द्र कन्नोज ज्ञात होता है जो इस समय अस्तित्व में रहे विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों से विभिन्न वाणिज्यिक पथों द्वारा जुड़ा हुआ था । भारतीय व्यापारी तक्षशिला से होकर हिन्दुकुश पार कर ईरान स्थल मार्ग द्वारा जाते थे। इन खुर्दाज्बा प्रर्सिया सिन्ध व्यापार मार्ग की जानकारी देता है । इस समय का प्रमुख व्यापार मार्ग उत्तरापथ, तक्षशिला हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग तथा पाटलीपुत्र को संयुक्त करता था । पूर्व मध्यकाल में भी जल व्यापार मार्ग समुचित विकसित अवस्था में ज्ञात होते है । ताम्रलिप्ति तथा वेजयन्ति प्रमुख बंदरगाह थे जहां से सिंहल चीन तक जल व्यापार मार्ग अस्तित्व में था । बंगाल की खाड़ी, अंडमान निकोबार के मध्य से भी जल व्यापार मार्ग विभिन्न व्यापार केंद्रों को जाते थे।

व्यापारिक विनिमय की वस्तुओं के परिवहन माध्यम सैंधव युग से पशु बेलगाड़ी, नाव तथा जहाज आदि ज्ञात होते है । सार्थवाह के नेतृत्व में व्यापार परिवहन माध्यमों के कारवां यात्रा करते थे । व्यापार नियमों के संबंध में ज्ञात होता है कि वेदिक युग से ही व्यापार नियमों के परिप्रेक्ष्य में होता था । व्यापार में साझेदारी का महत्व था । मौर्यकाल तक आते आते व्यापार नियम पूरी तौर पर विकसित हो चुके थे और कालांतर में पूर्वमध्य युग में आर्थिक जीवन तक समयोचित परिवर्द्धनों के साथ अस्तित्व में बने रहे ।

6.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय आर्थिक जीवन के विकास में व्यापार मार्गों के महत्व पर प्रकाश डालिये। (500 शब्दों में)
2. सैंधव सभ्यता के काल में अस्तित्व में रहे स्थल तथा जल व्यापार मार्गों का विवरण दीजिये । (500 शब्दों में)
3. वैदिक काल के आर्थिक जीवन में स्थल तथा जल व्यापार मार्गों के योगदान के बारे में आप क्या जानते है? (500 शब्दों में)
4. छटी शताब्दी ई. पू. के विभिन्न स्थल तथा जल व्यापार मार्गों के महत्व को स्पष्ट कीजिये। (500 शब्दों में)
5. मौर्ययुगीन आर्थिक जीवन के विकास में स्थल तथा व्यापार मार्गों के बारे में आप क्या जानते है? (250 शब्दों में)
6. गुप्त युगीन व्यापार विकास में व्यापारिक मार्गों के महत्व को स्पष्ट कीजिये। (250 शब्दों में)
7. पूर्व मध्य युगीन व्यापारिक मार्गों के बारे में विवरण दीजिये। (250 शब्दों में)
8. प्राचीन भारतीय भारतीय व्यापारिक वस्तुओं के परिवहन माध्यमों के बारे में आप क्या जानते है? (150 शब्दों में)
9. प्राचीन व्यापारिक नियमों के बारे में आप क्या जानते है? (150 शब्दों में)

6.13 संदर्भ ग्रंथ

1. जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रन्थ अकादमी पटना
2. राधाकृष्ण चौधरी : प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, जानकी प्रकाशन, पटना, 1986
3. ओमप्रकाश : प्राचीन भारतीय समाज और अर्थ व्यवस्था, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1986
4. के. सी. जैन : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1987
5. जी एस. पी. मिश्र : प्राचीन भारतीय इतिहास एवं अर्थ व्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1992
6. के. डी वाजपेयी : भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा 1951
7. के. डी वाजपेयी : प्राचीन भारत का विदेशों से संबंध, कमल प्रकाशन, इंदोर
8. एन. पी. चक्रवर्ती : इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया
9. लल्लनजी गोपाल : दि इकॉनोमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, बनारस 1972
10. मोतीचन्द्र : ट्रेड रूट्स इन एंशिएंट इण्डिया, नई दिल्ली, 1977
11. प्रकाशचरण प्रसाद : फारेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशिएण्ट इण्डिया
12. पी. नियोगी : दि इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, कलकत्ता, 1962
13. ए. के. सिंह : इंडो–रोमन ट्रेड, पटना, 1988
14. बीना जैन : गिल्ड आर्गेनाइजेशन इन नार्दन इण्डिया, दिल्ली 1990
15. रामशरण शर्मा : प्रचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1992
16. डॉ. मोती चन्द्र : सार्थवाह, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना, 1953
17. गौतम एवं डॉ कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत
18. डा. कमलेश भारद्वाज : प्राचीन भारत में समाज एवं राज्य

इकाई – 7

विनिमय का माध्यम : तौल एवं माप

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्राचीन भारतीय व्यापार एवं नगरीकरण का स्वरूप

7.2.1 देशी व्यापार

7.2.2 विदेशी व्यापार

7.2.3 तटीय व्यापार

7.2.4 नगरीकरण

7.3 विनिमय के माध्यम के रूप में तौल एवं माप की भूमिका

7.4 प्राचीन भारतीय तौल

7.5 प्राचीन भारतीय माप

7.6 माप–तौल विषयक विभिन्न पहलू

7.7 सारांश

7.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.9 संस्तुत अध्ययन सामग्री

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई निम्न उददेश्यों को समाहित करती है –

1. प्राचीन भारत के व्यापार संगठन का संक्षिप्त अवलोकन करना,
2. व्यापार–विषयक विनिमय माध्यमों में तौल एवं माप की आवश्यकता प्रतिपादित करना
3. प्रचलित विभिन्न बाटों और तौल–पद्धतियों का अध्ययन करना,
4. प्रचलित विभिन्न मापों का परिचय प्राप्त करना, तथा
5. प्राचीन भारत के वाणिज्यीय क्षेत्र में तौल व मापों की भूमिका का महत्व रेखांकित करना ।

7.1 प्रस्तावना

वाणिज्य (Commerce) के अंतर्गत दो प्रमुख विधाएँ आती है :–

1. व्यापार, एवं
2. व्यापार के सहायक साधन

व्यापार वस्तुओं या सेवाओं के क्रय–विक्रय की प्रक्रिया है । मानव–सभ्यता के उदय की प्रारंभिक स्थिति में, जब व्यापार सीमित क्षेत्र में सीमित वस्तुओं का सीमित पिछड़े व ग्रामीण–जन के माध्यम से होता था तो वस्तु–विनिमय प्रणाली का विनिमय के माध्यम से प्रयोग होता था । आज भी वस्तु–विनिमय प्रणाली पिछड़े या वनांचलीय वन्य क्षेत्रों में विद्यमान है ।

सभ्यता के विकास के साथ–साथ जब व्यापार अधिक घनीभूत व्यापक एवं जटिल होने लगा तो व्यापार के सहायक साधनों यथा मुद्राएं, परिवहन एवं संचार साधनों, अधिशोषण व्यवस्था आदि की आवश्यकता होने लगी । परिणामस्वरूप अनेक ऐसे आविष्कार अथवा परिवर्धित सुधार सामने आये, जिनसे व्यापारिक क्षेत्रों की दिन–प्रतिदिन सामने आने वाली समस्याओं का सामना किया जाने लगा ।

व्यापार के सहायक साधनों में तौल एवं माप का बड़ा महत्व रहा है । प्रारंभ में तौल एवं माप का स्वरूप बड़ा अवैज्ञानिक रहा किन्तु धीरे–धीरे उसने वैज्ञानिक एवं जन व राज्य मान्य स्वरूप धारण करना प्रारंभ कर दिया । यह स्थिति आज भी विद्यमान निश्चित ही प्राचीन भारत के तौल व मापों का अध्ययन करने के लिये तत्कालीन भारतीय व्यापार के स्वरूप को जानना आवश्यक है ।

7.2 प्राचीन भारतीय व्यापार एवं नगरीकरण का स्वरूप

प्राचीन भारतीय व्यापार के स्वरूप का अध्ययन देशी, विदेशी एवं तटीय व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

7.2.1 देशी व्यापार

देशी व्यापार भी थोक एवं फुटकर प्रकारों का होता है । प्राचीन भारत में अनेक बड़े व्यापारी थे, जो शिल्प–श्रेणियों से इकट्ठा माल खरीदकर उसे दूर–दराज के क्षेत्रों में अपने साथों (काफिलों) के द्वारा पहुंचा कर भारी लाभ कमाते थे । फुटकर व्यापारी पण्य (बाजार) या हाटक (हाट) में अपनी दुकानें लगाते थे या अपने माल के साथ उपभोक्ता के घर तक पहुंचते थे । गांवों में जो शिल्पी या अन्य सेवा प्रदान करने वाले लोग होते थे, वे अपने माल व सेवा के प्रतिफल में कृषि या वन की उपज या पशुधन प्राप्त करते थे साधारणतया उन्हें फसल के पकने पर वर्ष में एक या दो बार यह प्रतिफल दिया जाता था । नगरों में विभिन्न उद्योगों के द्वारा उत्पादित पक्के माल, कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त उत्पादन तथा उप भोक्ता पदार्थो के विक्रय के दर्शनीय केन्द्र होते थे । उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच अनेक प्रकार के बिचौलिये इन नगरों में कार्यरत थे ।

बाजार की स्थितियों पर राज्य का उचित नियंत्रण होता था । भारत में नाप–तौल की पद्धति सैधव–जनों को ज्ञात थी । ऐतिहासिक काल में विभिन्न प्रकार के नाप– तौल अस्तित्व में थे? इन्हें "मान" कहा जाता था। कलिंग और मगध भारत के दो प्रमुख मान रहे अत्यंत सूक्ष्म से लेकर भारी से भारी कर के बाट प्रचलन में थे? इसी प्रकार एक अंगुली के प्रमाण से लेकर निवर्तन तक माप प्रयोग में आते रहे। नाप–तौल के मामले में धोखाधड़ी को रोकने के लिये राज्य द्वारा उचित नियंत्रण रखा जाता था । विभिन्न राजकीय अधिकारी समय–समय पर बाजार का निरीक्षण करते तथा बेईमान, कम तौलने वाले. मिश्रण करने वाले तथा तस्करी में जुटे व्यापारियों को कठोर दण्ड देते थे । राज्य माल की किस्म, भण्डारों में रखी उसकी मात्रा तथा माल की आवक व उसकी मांग के आधार पर समय–समय पर वस्तुओं का मूल्य निर्धारित

करते थे । ऐसा करने से जहां उपभोक्ताओं को संरक्षण मिल जाता था, वहीं व्यापारियों को उचित लाभ तथा राज्य को वांछित कर प्राप्त हो जाता था ।

युद्ध, प्राकृतिक प्रकोपों एवं दुर्भिक्ष के समय कई बार जनता की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन जाती थी । अनेक लोगों को काल के गाल में समाना पड़ जाता था । ऐसे में वस्तुओं की प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती थी और उनके दाम आसमान छूने लगते थे । ऐसे समय में राज्य अपने गोदामों को खोल देता था । राजकीय उद्योगों का माल निर्धारित दाम पर जनता को प्रदान किया जाता था । राज्य की कुछ आय को ऐसे आपात काल के उपयोग के लिये सुरक्षित रखा जाता था ।

7.2.2 विदेशी व्यापार

भारत का विदेशी व्यापार काफी बढ़ा–चढ़ा था । सिंधु घाटी के लोगों के सुमेर, ईरान, बेबीलोन, क्रीट आदि से व्यापार संबंध थे । यह सम्पर्क उत्तर वैदिक काल में भी रहा । कुछ पुराविदों की धारणा है कि ताम्राश्म युग के विभिन्न मृद्भाण्ड प्रकार पश्चिमी एशियाई समकालीनों की देन रहे । ई. पू. 6ठी सदी से कुछ समय तक पश्चिम भारत के कुछ क्षेत्रों में ईरानियों का राज्य रहा । भारतीय माल और लोहे के अस्त्र–शस्त्र इस काल में निर्यात हुए । बौद्ध एवं जैन ग्रंथों, विशेषकर जातक कथाओं, में भारत के जल व जल–मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार के भरपूर उल्लेख प्राप्त होते है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कुछ तमिल ग्रंथों से भी इस संबंध में काफी जानकारी मिलती है । प्राचीन काल के यूनानी, मिश्री तथा रोमन यात्रियों व लेखकों ने भारत के विदेशी व्यापार की महत्ता पर भरपूर प्रकाश डाला है । प्राचीन काल में भारत के आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुएं इस प्रकार रही –

आयात – कीमती धातुएं, टीन, शीशा, घोड़े, अंजीर, अंगूर की मदिरा, यवनियां, चीन पट्ट (चीन की रेशम), अगरू आदि ।

निर्यात – मलमल, विचित्र पशु–पक्षी, औषधियां, काली मिर्च एवं मसाले, अस्त्र–शस्त्र, रत्न एवं उनसे बने आभूषण, रेशमी वस्त्र, हाथी–दाँत का सामान, सुगंधित द्रव्य आदि ।

भारत का निर्यात उसके आयात की अपेक्षा बहुत अधिक था । भारतीय माल की विदेशों में बहुत मांग होने से वह वहां ऊंचे दामों पर बिकता था । व्यापार–संतुलन भारत के पक्ष में होने से विदेशों के सोने के सिक्के व कीमती धातुएं भारत में बहुत आते थे । दक्षिण भारत में कई स्थानों पर उस काल के रोमन सिक्कों के जखीरे मिले हैं । भारत की ओर रोमन धन का यह प्रवाह देख रोमन लेखक प्लिनी ने भारी विलाप किया था । ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीयों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अपने उपनिवेश बसा लिये थे । इस कारण भी भारत के विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई । विदेश व्यापार का यह वैभव केवल गुप्त काल तक ही विद्यमान रहा । उसके बाद वह अनेक कारणों से धीरे–धीरे क्षीण होता चला गया।

7.2.3 तटीय व्यापार

प्राचीन भारत में समुद्र–तट पर स्थित विभिन्न बन्दरगाह भी व्यापार एवं व्यापार–मार्ग से परस्पर जुड़े रहे । इन बन्दरगाहों से देशी और विदेशी दोनों प्रकार का व्यापार होता था । हम

देखते है कि पश्चिमी व पूर्वी विश्व भारत के दूरस्थ तटीय भागों में नियमित जलमार्गीय सम्पर्क था ।

7.2.4 नगरीकरण

प्राचीन भारत में नगरीकरण के मुख्य दो सोपान विद्यमान रहे । दोनों ही सोपानों की पृष्ठभूमि में धातु–उपकरणों के प्रयोग से कृषि–क्षेत्र में अतिरिक्त उत्पादन रहा । इस ग्राम्य अधिशेष से विनिमय एवं यातायात बढ़ा एवं अनेक व्यापारिक मंडियों एवं नगरों का विकास हुआ।

प्रथम, नगरीकरण सैंधव सभ्यता के काल में हुआ । यह कांस्य एवं ताम्र के आविष्कार का परिणाम था जिसके परिणामस्वरूप हड़प्पा, मोहेनजोदड़ो, चन्हूदड़ो, रोपड़, लोथल, कालीबंगा, बनावली जैसे नगर अस्तित्व में आये । सेंधव सभ्यता के पतन के उपरांत लगभग एक हजार वर्षों तक भारत शहरीकरण–विहीन एवं ग्राम्य व कृषि संस्कृति से युक्त रहा । लोह युग के आगमन के प्रभाव से जब ई. पू. छठी सदी के लगभग विस्तृत खेती ने सघन व गहरी खेती का स्थान लिया तो पुन: कृषि–उत्पादन अधिशेष का परिदृश्य सामने आया । उस समय भारत में महाजनपदों का युग था । लोह युग ने समूचे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन में क्रान्ति ला दी । व्यापार के साथ–साथ विभिन्न उद्योग यातायात के साधन, जल व थल मार्ग व्यापार–श्रेणियों व भौतिक संस्कृति का विकास हुआ । इन परिस्थितियों ने ईसा पूर्व छठी सदी से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक द्वितीय नगरीकरण को विकसित रखा । व्यापार ने नगरीकरण और शहरीकरण ने व्यापार को पल्लवित किया । भारत का विदेशी तथा तटीय व्यापार इस अवधि में काफी पनपा । परिणामस्वरूप उत्तर भारत में अनेक विशाल नगर तथा दक्षिण भारतीय समुद्री–तट पर अनेक विश्व–प्रसिद्ध बंदरगाह विकसित हुए । उन्नत व्यापार–व्यवसाय साथों से भरे जल व थल मार्ग, गमनागमन की व्यस्त गतिविधियों, आहत मुद्राओं के निर्गमन से विकसित मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क के घनीभूत सामंजस्य ने भारत की व्यापारिक एवं सांस्कृतिक पताका अनेक शताब्दियों तक विश्व में लहराती रही ।

पूर्व मध्य काल में विदेशी बाजारों के हाथ से निकल जाने, समाज–व्यवस्था के अनुदार होनें, राजनीतिक विघटन के दृश्य उपस्थित होने, सामन्त–प्रथा के दृढ़ीभूत होने, अनवरत विदेशी आक्रमणों तथा पारस्परिक सैनिक एवं राजनैतिक विग्रहों आदि के परिणामस्वरूप भारतीय व्यापार पतनोन्मुख होता चला गया । राजधानियों, धार्मिकस्थलों एवं प्रशासकीय केन्द्रों के रूप में अनेक नगर अस्तित्व में तो रहे किन्तु उनकी व्यापारिक एवं आर्थिक गरिमा एक दूरस्थ स्वपन बनकर रह गई ।

7.3 विनिमय के माध्यम के रूप में तौल व माप की भूमिका

वस्तुओं का विनिमय बिना तौल व माप के संभव नहीं है, यह तथ्य मानव–सभ्यता के उदय के साथ से ही अनुभूत हो गया था । सच तो यह है कि वस्तु–विनिमय के लिये जिन सर्व–मान्य माप–दण्डों की आवश्यकता होती है, उनमें सिक्कों के साथ–साथ तौल व मापों की भी अपरिहार्यता होती रही है । सिक्कों का प्रचलन बाद में हुआ, पर तौल और माप तो उससे

शताब्दियों पूर्व ही अस्तित्व में आ चुके थे । विनिमय–प्रणाली, चाहे वह वस्तु–विनिमय रही हो या मुद्रा का प्रयोग, सदैव ही तौल व माप पर आधारित रही है । आखिर विनिमय की संख्या, आकार या वजन को निर्धारित करने का कोई आधार तो चाहिए । इस कारण तौल व माप के लिये प्रारंभ में जो आधार निर्मित हुए, वे प्रस्तरों, रज्जुओं आदि के रहे । धीरे–धीरे उनका विकास होता गया । धातुओं के ज्ञान ने उसमें पर्याप्त परिवर्तन एवं विकास कर डाला । शनै: शनै: इनका वर्गीकरण एवं स्तरीकरण प्रारंभ हुआ । इनके क्षेत्रीय आधार भी भौगोलिक, कबीलाई या राजकीय आधार पर सामने आतें चले गये । आगे चलकर इन तौलों व मापों को सामाजिक एवं राजकीय स्वीकृति मिलती चली गई । और उनके स्वरूप, पारस्परिक अनुपात, स्तर, आकार आदि का सुनिश्चित होता चला गया । उसमें अधिकाधिक प्रामाणिकता एवं वैज्ञानिकता आती चली गई । यह क्रम आज भी जारी है ।

यहां यह कहना अत्यंत उचित होगा कि प्राचीन भारत के तौल एवं माप किसी न किसी रूप मैं आधुनिक काल तक विद्यमान रहे । भारत की स्वतंत्रता के उपरांत जब यूरोपियन आधार पर सारे भारत में तौल और माप वैधानिक आधार पर अनिवार्य एवं सुपरिभाषित कर दिये गयें, तो पूर्व का सब कुछ ऐतिहासिक बनकर रह गया ।

7.4 प्राचीन भारतीय तौल

सैंधव सभ्यता – प्राचीन भारत मैं तौल एवं माप का व्यवस्थित स्वरूप सैंधव स्थलों के अवशेषों से प्राप्त हुआ है । सिंधु घाटी सभ्यता के उत्खनन में तौलने के अनेक बड़े छोटे बाँट प्राप्त हुए है । वे विभिन्न प्रकार के पत्थरों जैसे चर्ट, चूना पत्थर, स्टियटाइट और स्लेट के बने हुए है । इनमें से कुछ भारी वस्तुओं को तौलने के लिये है जिनको रस्सी से उठाया जाता था । छोटे बाँटों का प्रयोग संभवत: सर्राफ करते थे । घनाकृति के तौल की संख्या सामान्यत: अधिक है । कुछ सिलेटी पत्थर के छोटे बाँट मिले है जिनकी समानता मेसोपोटामिया, मिश्र तथा एलम के बाँटों से की जा सकती है । छोटे बाँटो का अनुपात युग्मक है, जैसे 1, 2, 4, 6, 8, 16, 32, 64 आदि । बड़ी तौल में अनुपात दशमलव पद्धति पर है यथा 160, 200, 320, 640, 1600, 3200, 6400, 8000 तथा 12800 । सबसे छोटी इकाई का तौल 8565 ग्राम है तथा सबसे बड़ा तौल 10970 ग्राम है । तौल के उदाहरण सामान्यत: 13.64 ग्राम के मिलते है । इस प्रकार की तौल प्रणाली से पता चलता है कि तौल पद्धति व्यवस्थित थी । आर्थिक दृष्टि से इसका विशेष महत्व था ।

महेश्वर – नावडा टोड़ी, एरण, कौशाम्बी आदि ताम्राश्मीय स्थलों के उत्खनन से प्राप्त वटखरों से ज्ञात होता है कि भारत कें ताम्राश्मीय –जन भी तौल व माप को व्यवहार में लाते थे।

वैदिक वाङ्मय में संदर्भ – वैदिक वाङ्मय में जो संदर्भ प्राप्त होते है, उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कृष्णल व मान जैसे तौल तथा तौलने के साधन कें रूप में तुला का प्रयोग होता था ।

परवर्ती काल में, जब उद्योग व व्यापार की पर्याप्त उन्नति हो गई थी, तौलों की संख्या मैं वृद्धि हो गई थी । ऐसे तौलों में आढ़क, द्रोण, प्रस्थ आदि का उल्लेख आता है ।

उत्तर वैदिक वाङ्मय तथा बौद्ध साहित्य मैं माप–तौल को विश्वसनीयता को बनाये रखने पर जोर दिया गया है तथा उन लोगों को पापी व दण्डनीय माना है जो गलत माप–तौल व तुला का प्रयोग करके लोगों को धोखा देते और उनका शोषण करतें थे ।

मौर्य काल – मौर्य काल में रसन्य तौल व माप की विश्वसनीयता बनाये रखने, मान के व्यवस्थीकरण एवं वर्गीकरण को प्रामाणिक बनाये रखने एवं इस विषयक सुनिश्चित नियम बनाने तथा उनका पालन करवाने वाले अधिकारियों की नियुक्ति के प्रति अत्यधिक सक्रिय एवं जागरूक था ।

कौटिल्य नें अपने अर्थशास्त्र में जो विभिन्न तौल दिये है, वे निम्न सारणियों से भली प्रकार जाने जा सकते है –

स्वर्ण तौलने के लिये

5 गुंजा = 1 सुवर्ण माष

(या 10 धान्य माष)

16 सुवर्ण माष न = 1 सुवर्ण या कर्ष

4 कर्ष 1 पल

चाँदी की तौल के लिये

88 गौर सर्षप = 1 रजत (रौप्य) माष

16 रौप्य माप न = 1 धरण

रत्नों की तौल के लिये

20 धान्य माष = 1 धरण

भारी वस्तुओं के तौल के लिये

4 पल या 16 कर्ष = 1 कुडव या अंणलि

4 कुडव = 1 प्रस्थ

4 प्रस्थ = 1 आढ़क

4 आढ़क = 1 द्रोण

अर्थशास्त्र में चार प्रकार के द्रोण का उल्लेख – (1) आयामी, (2) व्यावहारिक, (३) भाजनी और (4) अंतःपुरभाजनी । आयाती द्रोण 200 पल के बराबर होता था। भारी तौल का आधार द्रोण था।

16 द्रोण = 1 खारी

20 द्रोण = 1 कुंभ

10 द्रोण = 1 भार

200 द्रोंण = 1 वाह

स्मृति साहित्य का विवरण

मनु ने एक रत्ती के उप–विभागो के लिये निम्न सारणी प्रदान की है –

8 त्रसरेणु = 1 लिष्या या लिख्या

24 त्रसरेणु = 1 काला सर्षप

72 त्रसरेणु = 3 लिख्या या 3 काले या 1 श्वेत सरसों

432 त्रसरेणु = 54 लिख्या या 18 कृष्ण सर्षप या 6 गौर सर्षप या 1 यव

1296 त्रसैरेणु = 3 यव या 1 कृष्णल या 1 रत्ती।

मनु–स्मृति के तांबा, चाँदी और सौने के पृथक्– पृथक् मानों (तौल) का उल्लेख किया गया है।

स्वर्ण का तौल इस प्रकार था –

5 रत्ती = 1 माषक

80 रत्ती = 16 माषक = 1 सुवर्ण

4 सुवर्ण = 1 पल या निष्क

40 सुवर्ण = 10 पल = 1 धरण

चाँदी का तौल निम्नवत् था

2 रत्ती = 1 माषक

32 रत्ती = 16 माषक = 1 धरण या पुराण

10 धरण = 1 शतमान

तांबे का तौल इस तरह रहा –

80 रत्ती = 1 कार्षापण

आयुर्वेद के ग्रंथों में तौल के लिये मान शब्द का प्रयोग मिलता है। ऐसे दो मानो– मागध (मगध साम्राज्य में प्रचलित) तथा कालिंग (कलिंग में प्रचलित) – का उल्लेख आया है और कहा गया है कि कलिंग की अपेक्षा मागध मान श्रेष्ठ था।

श्रेष्ठता कें कारण पहले मागध मान को ही कहते है – खिड़की के छिद्र से कोठरी में आई सूर्य की किरण में उड़ती हुई धूल के जो कण दिखाई देते है, उन्हें ध्वंशी कहते है । छः श्वंसियों की एक मरीचि यथा छः मरीचियों की एक राजिका यान राई होती है । (वंशी का तीसवां भाग परमाणु कहलाता है ।) तीन राई की एक सरसों होती है, आठ सरसों का एक जौ तथा चार जौ की एक गुंजा यानी रत्ती होती है । छ : रत्तियों का एक माषा का मासा होता है जिसे हेम और धामक (कहीं–कहीं धान्यक) भी कहते है । चार मासे का एक शाण होता है । एक शाण 24 रत्तियों का होता है जो वर्तमान प्रचलित 3 मासा या एक चवन्नी भर होता है । इसे धरण तथा टंक भी कहते है । दो टंक का एक कोल यानी अठन्नी होती है । इसे क्षुद्रक, मोरट तथा द्रंक्षण भी कहते हैं । दो कोल कस एक कर्ष (तोला) होता है । पाणिमानिक, अक्ष, पिचु, पाणितल, किंचित्पाणि, तिन्दुक, विडालपदक, षोड़शिका, करमध्य, हंसपाद, सुवर्ण कवल ग्रह तथा उड्डम्बर, इन सब शब्दों का अर्थ कर्ष ही है । दो कर्षों का आधा पल होता है, जिसे शुक्ति तथा अष्टमिका भी कहते है, दो शुक्ति का एक पल होता है । मुष्टिमात्र, चतुर्थिका, प्रकुंच, षोडशी, बिल्व, इन नामों से पल ही कहा जाता है । दो पल की एक प्रसृति या प्रसृत होता है । दो प्रसृत की एक अंजलि होती है । इसे कुड़व, अर्द्धशराव तथा अष्टपल भी कहते है ।

दो कुड़वों की एक मानिका होती है । इसे शराव तथा अष्टपल भी कहते है । दो शरावों का एक प्रस्थ होता है । चार प्रस्थ का एक आढ़क होता है जो भाजन, कंस या पात्र कहलाता है तथा 64 पलों का होता है । चार आढ़क का एक द्रोण होता है । कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मानः, घट तथा राशि, ये द्रोण के ही पर्याय है । दो द्रोण का एक शूर्प या कुम्भ होता है जो 64 शरावों का होता है । दो शूपों की एक द्रोणी होती है जिसे वाह तथा गोणी भी कहते है । चार द्रोणी की एक खारी होती है । यह खारी चार हजार छियान्वे (4096) पल की होती है । दो हजार पलों का एक भार होता है, तथा सौ पलों की एक तुला होती है यह मान सब जगह जाने । मासा, टंक, अक्ष, बिल्व, प्रस्थ, आढ़क, राशि, द्रोणी तथा खारी, ये क्रमशः एक से दूसरा चौ–गुना होते है यानी मासा से टंक, टंक से अक्ष तथा अक्ष से बिल्व, इसी तरह आगे भी चौ–गुने होते है ।

मिट्टी, लकड़ी, बांस अथवा लोहा आदि धातु के बने पात्र जो चार अंगुल लम्बा, चार अंगुल चौड़ा तथा चार अंगुल गहरा हो, उसे कुड़वमान कहते है यानी इसमें जितना द्रव्य आता है वह एक कुड़व होता है । यह कुड़व जल–तैलादि तरल पदार्थ नापने का है ।

अब कलिंग मान कहते है – तीस परमाणु का एक त्रसरेणु होता है । इसका दूसरा पर्याय ध्वंसी (वंशी) है । छः ध्वंसी की एक मरीचि, छः मरीचि की एक सरसों होती है । छः सरसों का एक जौ, तीन जौ की एक गुंजा या रत्ती, तथा आठ रत्तियों का, कहीं–कहीं सात रत्तियों का एक मास होता है । इसे हेम और धामक (धान्यक) भी कहते है । चार मासे का एक शाण होता है । निष्क, टंक, इसके दूसरे नाम है । धरण शब्द भी इसी का पर्यायवाची जानना, क्योंकि अन्यत्र शाण के पर्याय में लिखा गया है । छः मासे का एक गद्याण तथा दश मासे का एक कर्ष होता है । दो शाण का एक द्रंक्षण, कोल या वटक होता है । यह आधा कर्ष होता है । इसका दुगुना यानी दो कौल का एक कर्ष होता है (4 मासे का शाण, दो शाण का द्रंक्षण तथा दो द्रंक्षण का कर्ष यान 16 मासे का कर्ष हुआ ऊपर "कर्ष : स्याद्दशमाषक : " कहा गया है । यह पूर्वापर विरोध है ।) सुवर्ण, अक्ष, विडाल पदक, पिचु, पाणितल, उड्डम्बर, तिन्दुक और कवल ग्रह, कर्ष के ही नाम है । दो सुवर्ण याने कर्ष का एक पलार्ध,'

शुक्ति या अष्टमिका होती है । दो पलार्ध का एक पल, मुष्टि, प्रकुंच चतुर्थिका, बिल्व षोड़शिका, या आम्र होता है । दो पल का एक प्रसृत होता है । दो प्रसृतों का एक कुड़व होता है। अंजलि, अष्टमान तथा शरावार्ध इसी के ही नाम है ।

दो कुड़व की एक मानिका होती है जिसे शराब और अष्टपल भी कहते है । दो मालिका का एक प्रस्थ होता है जो सोलह पल का होता है । चार प्रस्थ का एक आढ़क होता है । इसे पात्र, कंस और भाजन, भी कहते है । यह 64 पल का होता है । चार आड़क का एक द्रोण होता है । घट, केलश, उन्मान, नल्वण तथा अर्मण, ये द्रोण के ही दूसरे नाम है । यह दो सौ छप्पन (256) पल का होता है । दो द्रोण का एक शूर्प या कुम्भ होता है । दो शूर्प की एक द्रोणी होती है । इसे बृहद्–द्रोणी भी कहते है । चार द्रोणी की एक खारी होती है । यह 5096 पल की होती है । सौ पल की एक तुला होती है । बीस तुला या दो हजार पल का एक भार

होता है । मासा, शाण, कर्ष, पल, कुड़व प्रस्थ, राशि, द्रोणी, खारी, ये अगले से पिछले चौ–गुने होते है, याने मास से शाण चौ–गुना, शाण से कर्ष चौ–गुना इसी तरह ।

कतिपय भारों के बारे में विद्वानों ने जो निर्णय निकाले है, उन्हें निम्न सारणी द्वारा सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है -

भार	**ए.एन.बोस**	**ए.एल.बाशम**	**वासुदेव शरण अग्रवाल**
प्रस्थ	आधा सेर या 1 पौंड (16 औंस)	21 औस (लगभग)	–
आढ़क (प्रस्थ)	2 सेर	2.62	सेर 2 ½ सेर
द्रोण (4 आदक)	8 सेर	10 .62	सेर 10 सेर
खारी (16 द्रोण)	128 सेर	–	160 सेर (4 मन)

पूर्व मध्य काल – हर्ष के काल तक ये ही माप–तौल किसी न किसी रूप या नाम में जारी रहे । हर्ष की मृत्यु के उपरांत भारतीय इतिहास का पूर्व मध्य काल (राजपूत युग) प्रारंभ होता है । इस काल के तौलों की सूचना विभिन्न अभिलेखों से भी प्राप्त होती है ।

अभिलेखों के आधार पर भंडारकर ने तौल का वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

4 पाइल = 1 पाइली

5 पाइली = 1 मणा

4 मणा = 1 सेइ

2 सेइ = 1 मण

श्रीधर के गणित सार में तौल का वजन इस प्रकार मिलता है –

4 पावल = 1 पाली

4 पाली = 1 मणा

4 मणा = 1 सेइ

12 मणा = 1 पदक

4 पदक = 1 हारी

4 हारी = 1 माणि

ये तौल विशेषत: समस्त पश्चिम एवं मध्य भारत में प्रचलित रहे ।

साहित्यिक ग्रंथों में इस काल के जिन बाटों या वटखरों का उल्लेख मिलता है, उनमें भारत, घटक या कुंभ, मूलक, माणक, कर्ष ,पलक, वुम्वुक, हारक, वाप, मुष्ठि, सेई, द्रोण आदि विशेष उल्लेखनीय है ।

प्रारंभिक रूप में हर कहीं वस्तुओं के मापने के लिये अंगुली, हाथ के पंजे, हाथ, कदम, बांस आदि का प्रयोग होता रहा । यह क्रम कई आदिवासी एवं वनों के कबीलाई–जन मैं आज भी विद्यमान है ।

7.5 प्राचीन भारत के माप

प्राचीन भारत में मापने का विधिवत् प्रचलन सैंधव सभ्यता में देखने को मिलता है । इस सभ्यता के लोग नापने के लिये संभवत: फीते या पटरियां प्रयोग मे लाते थे । मोहेनजोदड़ों में एक सीपी की टूटी पटरी मिली थी । पटरी का बचा भाग नौ बराबर भागों में बाँटा गया है । प्रत्येक हिस्से का नाम 0.264" है । शायद उस समय का माप दंड 13.2 " का होता था । इस नाप के माप दंड लघु एशिया, मिश्र, सीरिया, यूनान आदि देशों में भी प्रचलित थे । हड़प्पा से भी पीतल का एक छड़ मिला है । इसके दोनों कौने टूट गये है । केवल बीच का 1.5 " भाग रह गया है । यह भी संभवत: नापने का गज था । इस नाप की पटरियां संसार के कई अन्य प्राचीन देशों में भी प्रचलित थी । विभिन्न भवनों की नाम लेने से ज्ञात हुआ है कि सिंधु सभ्यता में फुट तथा कयूविट शैली के नाम साथ–साथ चलते थे ।

वैदिक व सूत्र काल – वैदिक वाङ्मय में अनेक ऐसे संदर्भ मिलते है जिनसे उस समय प्रचलित मापों का परिज्ञान होता है । अंगुल, अंगुष्ठ, हस्त, पाद (प्रक्रम) आदि द्वारा मापे जाने की चर्चा बार–बार आई है । ऐसा लगता है कि इस आकार के कोई फीते या शालाकाएं प्रचलन में थी । यह कहना फिर भी कठिन है कि वैदिकजन सैंधव लोगों की भांति माप–तौल का प्रयोग करते रहे होंगे । सूत्र ग्रंथों से ज्ञात होता है कि एक निश्चित अनुपात एवं आकार के दण्ड द्वारा भूमि–मापन किया जाता था । बांस से बना यह दण्ड "तेजन" कहलाता था । ऐसे पात्रों का उल्लेख भी मिलता है जिससे पता चलता है कि द्रव पदार्थो का माप विभिन्न आकार के पात्रों द्वारा होता था ।

वैदिक वाङ्मय में जिन अन्य नाप–मानों का उल्लेख आया है, उनमें पृथ, वितस्ति (कनिष्ठिका से अंगुष्ठ तक का फैलाये हुए पंजे का अंतर), व्याम, अरत्नि, साम्य, प्रदेश, क्रोश (कोस), योजन, आश्विन, रथाहन्य आदि प्रमुख हैं । परम्परागत रूप में एक योजन 12 कोस का तथा 1 कोस आज के लगभग 2 मील का रहा होगा । एक योजन का तीन–चौथाई भाग त्रिपाद और आधा भाग गब्यूति कहा जाता था ।

महाकाव्यों से, ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मापने के लिये लोगों ने निश्चित इकाइयां बना रखी थीं । द्रव पदार्थ को मापने की इकाई द्रोण थी । धन का विभाजन प्रविभाग कहलाता था । विभिन्न प्रकार के क्षेत्रो को मापने की इकाई दण्ड थी । दूरी को मापने के लिये योजन का प्रयोग किया जाता था । बाल्मीकि योजन को दो रूपों में प्रयुक्त करते है, राज्य के रूप में, यह चार कोश के बराबर होता है। एक कोश एक हजार धनुष्ज्ञ (धनु–4 घन(हाथ) या दो गज) लम्बा होता था। इस प्रकार एक योजन–800 या साढ़े चार मील लेकिन योजन 200 गज का भी माना जाता था।

मौर्य काल – मौर्य काल में माप करने की पद्धति अत्यधिक वैज्ञानिक एवं परिभाषित हो गई थी। सिकन्दर के साथ आये यूनानी इतिहासकारों ने स्टेडिया के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरियों का उल्लेख किया है। उनके तथा अर्थशास्त्र के विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि मार्गों पर दूरी विषयक लेख भी लगे होते थे।

कौटिल्य ने सूक्ष्म दूरी को इस प्रकार वर्णित किया है –

8 परमाणु = 1 1 रथ–रेणु (रज)

8 रेणु = 1 लिक्षा

8 लिक्षा = 1 यूका

8 यूका = 1 यव (जौ)

किन्तु यह एक सैद्धान्तिक पक्ष था.। नाप का व्यावहारिक आधार अंगुली थी। इसी आधार पर विभिन्न दूरियां निम्न प्रकार से नापी जाती थी –

1 अंगुल (3/4" लगभग)

54 अंगुल = 1 हस्त (काष्ट की नाप)

42 अंगुल = 1 कक्ष (निर्माणों की नाप)

84 अंगुल = 1 व्याम (ऊँचाई या गहराई नापने की रज्जु की नाप)

108 अंगुल = 1 गार्हपय धनु (पथ–मापन)

192 अंगुल = 1 दण्ड (कृषि–भूमि को नापने हेतु)

एक अन्य माप भी अर्थशास्त्र में उपलब्ध है –

4 अंगुल = 1 धनुग्रह

8 अंगुल = 1 धनुमुष्ठि

12 अंगुल = 1 वितस्ति या छायापुरुष

14 अंगुल = 1 सत, सल या पाद

24 अंगुल = 1 अरत्नि या प्राजापत्य हस्त

स्पष्ट है नाप–तौल के मौर्यकालीन साधन दण्ड, नालिका, पल्लिका, पौरुष, रज्जु आदि हुआ करतें थे। सामान्यतया दो बाँटो या प्रमापनों के मध्य 4 का एक माननीय अन्तर होता था। 4, 8, 12, 14, 24, 28, 32, 42, 54, 84, 92, 96, 108, 192 आदि अंगुलों के नामों का पृथक्–पृथकृ नाम होता था।

मौर्योत्तर एवं गुप्त काल – इस काल में नाप–पट्टिकाओं द्वारा वस्त्रादि पदार्थ नापे जाते थे। पात्र, पल्ली या नालिका द्वारा द्रव पदार्थो का मापन होता था। इस काल में क्षेत्रीय आधार पर अनेक नाप प्रचलित थे। इनमें प्रजापति एवं मनु द्वारा प्रतिपादित नाप महत्त्वपूर्ण थे। इनका तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है –

प्रजापति	मनु	नाप
8 यव	5 यव	1 अंगुल
24 अंगुल	24 अंगुल	1 वितस्ति (घन)
4 घन	5 घन	1 दण्ड
(इस प्रकार 768 यव	600 यव	1 दण्ड
(ब) 5,000 घन	4,000 घन	1 क्रोश (कोस)

पूर्व मध्य काल में भूमि मापने के लिये "हलवाह" औन निवर्तन का उल्लेख मिलता है। एक हलवाह में उतनी भूमि मानी जाती थी जो एक दिन में हल द्वारा जोती जा सके । इस आधार पर हलवाह को निश्चित नहीं आँका जा सकता, क्योंकि अलग–अलग स्थानों तथा समयों पर विभिन्न हलों का प्रयोग होता था । बैलों के जोतने की कितनी क्षमता थी, इसका भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता । निवर्तन के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है । प्राणनाथ के अनुसार निवर्त्तन एक एकड़ के बराबर. होता था । डी. सी. सरकार इसे तीन एकड़ के बराबर मानते हैं । गणितकार श्रीधर के अनुसार हलवाह 483840 यव या 1/3 क्रास के बराबर होता है 1 भूमि को दण्ड से भी नापा जाता था, जिसे पर्व कहते थे । इस काल में भारत में राजनीतिक विघटन के दृश्य दिखाई दे रहे थे । इसका प्रभाव आर्थिक जीवन पर पड़ना सहज था । इस कारण विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के नाप–तौल प्रचलित थे जिनके आधार प्राचीन एवं परमपरागत रहे थे । यह स्थिति अत्यंत विविधापूर्ण होने सबका अध्ययन एक छोटे आलेख में समेटना संभव नहीं है । इतना फिर भी स्पष्ट है कि इनमें से बहुत से तौल एवं माप आधुनिक काल तक अपना प्रभावी अस्तित्व एवं व्यावहारिक प्रचलन बनाये हुए थे ।

7.6 माप–तौल विषयक विविध पहलू

माप–तौल से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण पहलूओं पर संक्षिप्त विचार अन्यथा न होगा ।

साधन – तौल के लिये प्रारंभिक रूप में मिट्टी प्रस्तर के अपरिभाषित बाट व बटखरे, गुंजा, राई–सरसों, यव (जौ), आदि का प्रयोग होता था । कालान्तर में धातु के बाट, पात्र, टोकीनयों, सिक्के आदि का भारत तौलने के माध्यमों के रूप में प्रयोंग होने लगा । जहां तक माप का प्रश्न है सिद्धांत रूप में रेणु का आधार माना गया किन्तु व्यावहारिक रूप में अंगुल आधार बना । माप के लोकप्रिय माध्यमों में अंगुली, अंगूठा, पंजा, मुष्ठिका, हस्त, पाद, सम्पूर्ण पुरुष आदि शारीरिक अवयव, रज्जु, फीते, पटरियां, बांस व काष्ठ के नाप व दण्ड आदि प्रयुक्त होते रहे । द्रव वस्तुओं की माप पात्रों, नालिकाओं, पल्लियों या पात्रों में भरकर तौल करने आदि के द्वारा की जाती रही ।

अनुपात – प्राचीन भारतीय तौल का – व्यावहारिक आधार माइक एवं माप का अंगूष्ठ रहा था, यद्यपि सिद्धांत रूप में बात परमाणु से प्रारंभ होती रही । वैदिक संदर्भ हमें नाप–तौल की दाशमिक प्रणाली का संकेत देते है, जबकि सैंधव सभ्यता के बटखरे क्रमश+ 4 के अनुपात में बढ़ते चले जाते है । प्राचीन भारतीयों को 1 :4..... का अनुपात अधिक रुचिकर लगा कौटिल्य के अर्थशास्त्र व आयुर्वेद के ग्रंथों में वर्णित

मागध एवं कालिंग मान, इसी अनुपात का अनुसरण करते प्रतीत होते है ।

तुलाएँ – ऐसा लगता है तुला (तराजू) निर्माण का आधार बैलगाड़ी के आगे और संतुलन बनाये रखने वाला धुरा रहा होगा । धुर अतीत में एक खम्भा गाड़ दिया जाता था और उस पर आड़ा बांस या बल्ली को रस्सी से ढीले रूप में बांधकर एक ओर रस्सी से बाट लटकाया जाता था और दूसरी ओर की रस्सी में तौले जाने वाला पदार्थ रखकर संतुलन के आधार पर तौला जाता था । सैंधव स्थलों से प्राप्त भारी बाट इस तथ्य को प्रमाणित करते है । कौटिल्य ने भी

इस प्रकार की कुछ तुलाओं का वर्णन किया है । कौटिल्य ने तुलाओं का "समवृत्त" कहा है । वह कहता है कि एक सामान्य तुला का धुरा "समकर्ण" 72 अंगुल लम्बा होना है जिस पर 53 पल तक का वजन तौला जा सकता है । इसी प्रकार "परिमाणी" नामक तुला का समकर्ण 96 अंगुल होता था । इस तुला से उक्त तुला की अपेक्षा दूना भारत तुल सकता था । कौटिल्य के विवरण के अनुसार न्यूनतम से लेकर अधिकतम भार तौलने वाली तुलाएं उस समय प्रचलन में थीं ।

ऐसा लगता है कि सैंधव–जन और वैदिकजन में यद्यपि माप व तौल के मान–दण्डों में अन्तर था किन्तु तुलाओं के निर्माण व स्वरूप के मामले में वे एकमत से थे । तुलाओं का यह उपयोग प्राचीन काल से लेकर, चाहे पिन रूप में ही सही, आज तक विद्यमान है ।

राजकीय भूमिका – माप व तौल पर, चाहे वह सैंधव सभ्यता रही हो या वैदिक, राजकीय नियंत्रण एवं नियमन रहा है । कौटिल्य का अर्थशास्त्र व स्मृतियों के अध्ययन से यह विदित होता है कि प्राचीन भारतीय प्रशासन की एक–एक उल्लेखनीय समस्या तौल व माप में होने वाले कपट व्यवहार को प्रतिबंधित करना था । इस मामले में प्राचीन भारतीय राज्य–व्यवस्था बड़ी चौकस थी । इस विषय में राज्य की ओर से निश्चित नियम एवं दण्ड–विधान निर्धारित थे । राजकीय अधिकारी का इस क्षेत्र में उचित नियमन एवं नियंत्रण था । माप–तौल के साधनों की इस हेतु नियुक्त अधिकारी हर छः माह में कर से कम एक बार जांच–पड़ताल करता था । छद्म को रोकने के लिये तुलाओं व बाटों पर राजकीय चिह्न अंकित किये जाते थे । जाली माप–तौल रखनेवाले, कम तौल कर ग्राहकों का शोषण करने वाले या अन्य प्रकार से धोखाधड़ी करने वालों को भारी दण्ड का पात्र होना पड़ता था ।

कौटिल्य कहता कि माप–तौल व तुलाओं में गड़बड़ी करने वालों पर वणिजाध्यक्ष व उसके अधीनस्थ कर्मचारी निगाह रखते थे और व्यापार–जगत् को ऐसी हरकतों से मुक्त रखने का प्रयास करते थे । यूनानी राजदूत मेगस्थनीज भी इसे प्रमाणित करते हुए लिखता है कि राजकीय अधिकारी धोखाधड़ी करने वाले ऐसे व्यापारियों से माल के मूल्य से दूना दण्ड वसूल कर सकते थे ।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि माप व तौल के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय राज्य की उचित व चौकन्नी भूमिका रही है ।

7.7 सारांश

अति प्राचीन भारतीय माप–तौल पद्धति वस्तु–विनिमय की सीमाओं को दूर करने के लिये कई मौलिक तत्व सामने आये । इनमें मुद्राओं एवं तौल–माप के साधनों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है ।

तौल और माप के प्रथम प्रमाण हमें सैंधव स्थलों के उत्खनन से प्राप्त होते है । वैदिक वाङ्मय में भी उनके प्रचुर मात्रा में संदर्भ मिलते है । पाणिनि की अष्टाध्यायी, महाकाव्यों, बौद्ध साहित्यों एवं सूत्र–ग्रंथों के अध्ययन से हमें भारत के प्राचीन तौलों एवं मापों के नाम एवं उनके पारस्परिक संबंध ज्ञात होने लगते है । मौर्य व गुप्त काल में तौल व माप की विभिन्न इकाइयों

का स्वरूप अत्यंत सुस्पष्ट, परिभाषित एवं वैज्ञानिक हो चुका था । इस दिशा में अध्ययन के लिये स्मृति–ग्रंथों से भी हमें पर्याप्त सहायता मिलती है ।

प्राचीन भारतीय तौल का व्यावहारिक आधार माषक एवं माप का अंगुष्ठ रहा था, यद्यपि सिद्धांत रूप में बात परमाणु से प्रारंभ होती रही । वैदिक संदर्भ हमें नाप–तौल की दाशमिक प्रणाली का संकेत देते है, जबकि सैंधव सभ्यता के बटखरे क्रमश: 4 के अनुपात में बढ़ते चले जाते हैं । प्राचीन भारतीयों को 1:4:..... का अनुपात अधिक रुचिकर लगा । कौटिल्य के अर्थशास्त्र व आयुर्वेद के ग्रंथों में वर्णित मागध एवं कालिंग मान इसी अनुपात का अनुसरण करते प्रतीत होते है । हर्षोपरांत भारत के तौल व मापों की जानकारी अधिकांशत: अभिलेखों से ज्ञात होती है ।

तौल और माप के विभिन्न साधनों में गुंजा, सरसों, यव, काली, मिर्च, बांस, काष्ट आदि का उपयोग होता था । बाट व बटखरे मिट्टी, प्रस्तर और धातु के बनाये जाते थे । सिक्के व पात्र भी तौल के महत्वपूर्ण साधन थे । उस काल में विभिन्न प्रकार की तुलाओं का प्रचलन था । द्रव पदार्थ विभिन्न प्रकार के पात्रों, पल्लियों, नालिकाओं आदि में मापे जाते थे ।

सभ्यता के उदय के साथ ही राज्य ने माप–तौल के मामले में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया था । धीरे–धीरे माप–तौल राज्य द्वारा नियमित, नियंत्रित एवं निर्मित होने लगे । इस विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र व स्मृतियों से प्रभूत प्रकाश पड़ता है । कई प्रकार के राजकीय अधिकारी नियुक्त किये जाते थे जो बाट–बटखरों व तराजुओं में होने वाली जालसाजी, जाली बाट–निर्माण, माप–तौल में होने वाली धोखेबाजी आदि पर निगाह रखते थे । दोषी व्यक्ति दण्ड के पात्र होते थे । राज्य या तो स्वयं माप–तौल के साधनों का अपने अधिकारियों के माध्यम से निर्माण करता था या निजी संगठनों द्वारा निर्मित साधनों को नियमित, नियंत्रित एवं चिह्नित करता था ।

संक्षेप में कहा जाय तो प्राचीन भारतीय माप–तौल प्रणाली अत्यंत विकसित, परिभाषित तथा वैज्ञानिक रही । कई नाम एवं रूपों में वह मध्य एवं आधुनिक काल तक अस्तित्व में रही।

7.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार कें तौल का उल्लेख कीजिए। (250 शब्दों में)

2. मागध एवं कालिंग मान में अन्तर स्पष्ट कीजिए। (150 शब्दों में)
3. प्राचीन भारत की प्रमापन प्रणाली पर एक टिप्पणी दीजिए। (150 शब्दों में)
4. मौर्यकालीन तौल एवं माप का समीक्षात्मक विवरण दीजिए। (250 शब्दों में)
5. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये –

   (अ) माप पर प्रजापति व मनु के विचार

   (ब) मौर्यकालीन माप

   (स) सैंधव सभ्यता में माप—तौल के प्रमाण

   (द) प्राचीन भारतीय तुलाएँ

   (इ) उत्तर मध्यकालीन तौल एवं माप

7.9 संस्तुत अध्ययन सामग्री

1. जैन, कैलाशचन्द : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं
2. काला, सतीशचन्द्र : सिंधु सभ्यता
3. मार्टिमोर, व्हीलर : दी इण्डस सिविलाइजेशन
4. राय, ब्रजदेवप्रसाद : दी लेटर वैदिक इकानामी
5. सेन, बिनोयचन्द्र : इकानामिक्स इन कौटिल्य
6. निगम, श्यामसुन्दर : इकानामिक आर्गेनाइजेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया
7. गर्ग, विपिन : ट्रेड प्रेक्टिसेस एण्ड ट्रेडीशन्स
8. सेन, गोविन्द (पं. प्रयागदत्त अनु.) : वैद्यक परिभाषा प्रदीप
9. त्रिपाठी, रामनरेश : प्राचीन भारतीय आर्थिक विचार
10. बोस, ए. एन. : सोशल एण्ड रुरल इकानामी नार्दर्न इण्डिया

इकाई – 8

मुद्रा–प्रणाली, साख एवं अधिकोषण तथा राजस्व

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 प्राचीन भारत में विनिमय–प्रणाली का उद्‌गम

8.3 युगयुगीन मौद्रिक प्रणाली

8.3.1 आहत मुद्राएँ

8.3.2 मौर्यकालीन मुद्रा–प्रणाली

8.3.3 मौर्योत्तर काल में स्थिति

8.3.4 गुप्तकालीन मौद्रिक व्यवस्था

8.3.5 गुप्तोत्तरकालीन मुद्राएँ

8.3.6 पूर्व मध्यकालीन मौद्रिक प्रणाली

8.3.7 मौद्रिक प्रणाली की पतनशील परिस्थितियां

8.4 प्राचीन भारत में साख एवं अधिकोषण

8.4.1 साख–पद्धति

8.4.2 अधिकोषण

8.4.3 अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव

8.5 राजस्व

8.5.1 राजस्व से आशय

8.5.2 स्वरूप व क्षेत्र

8.5.3 अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव

8.6 सारांश

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.8 संस्तुत अध्ययन–सामग्री

8.0 उद्देश्य

मौद्रिक प्रणाली, साख एवं अधिकोषण पद्धति तथा राजस्व प्रत्येक सभ्य एवं विकसित राष्ट्र की आर्थिक–संरचना की आधार–शिला माने गये है । प्राचीन भारत आर्थिक दृष्टि से एक पूर्ण विकसित राष्ट्र था । कृषि, व्यापार, उद्‌योग एवं वाणिज्य की दृष्टि से उसकी समृद्धि समूचे प्राचीन विश्व की ईर्ष्या एवं आकर्षण का विषय थी । भारतीय इतिहास के छात्र इनके माध्यम से इस राष्ट्र की राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक गरिमा का सम्यक् अनुशीलन कर सकते है । इस कारण प्रस्तुत इकाई निम्न उद्देश्यों के लिए अभिप्रेत हुई है–

1. प्राचीन भारत के आर्थिक विकास के विभिन्न सोपानों का अध्ययन,

2. प्राचीन भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया एवं उससे जुड़ी वाणिज्य प्रणाली की रूपरेखा का विवेचन,
3. प्राचीन भारतीय विनिमय–प्रणालियों के इतिवृत्त का परीक्षण,
4. मौद्रिक, साख, अधिकोषण एवं राजस्व के विभिन्न स्वरूपों एवं विकास–क्रम, एवं उनके आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण, तथा
5. इन प्रणालियों के उच्चावचन के विभिन्न आयामों का अनुशीलन,

8.1 प्रस्तावना

मानव–सभ्यता की एक बड़ी देन कृषि रही जिससे मनुष्य अन्नसंचयी के साथ साथ अन्न–उत्पादक भी बन गया था । तकनीकी विकास की प्रक्रिया में जब अतिरिक्त उपज होने लगी, तो पहले तो ग्रामीण उद्योग पनपे, फिर व्यापार मंडियां विकसित हुई । धीरे धीरे प्रारंभिक नगरीकरण का युग सामने आया और फिर नगरीय उद्योगों के विकास के साथ साथ देशी–विदेशी व्यापार सीमित मात्रा में पनपने लगा । व्यापार में अधिक विस्तार न होने का एक कारण मौद्रिक व्यवस्था का अभाव रहा । विनिमय का आधार शताब्दियों तक वस्तु–विनिमय प्रणाली रही । भारत में अनेक पुरैतिहासिक सभ्यताएं यथा सैंधव सभ्यता एवं वैदिक सभ्यता विकसित हुई; किन्तु उनमें भी वस्तु–विनिमय प्रणाली ही विनिमय का प्रमुख आधार रही । भारत में सैंधव सभ्यता के रूप में प्रथम नगरीकरण का युग आया । कांस्य, ताम्र, रजत एवं स्वर्ण धातुओं के उपयोग करने वाले सैंधव–जन किसी मौद्रिक प्रणाली का विकास न कर पाये, यह आश्चर्य का विषय है । वैदिक वाङ्मय में आये शतमान, निष्क, हिरण्य आदि शब्दों से इनके मुद्राओं के रूप में प्रचलन की चर्चा विद्वानों ने अवश्य की है, किन्तु इनसे किसी एक सुव्यस्थित मौद्रिक–व्यवस्था की उस समय विद्यमानता का प्रमाण प्राप्त नहीं होता ।

8.2 प्राचीन भारत में विनिमय–प्रणाली का उद्गम

विनिमय का प्रमुख आधार "अतिरक्तता' है । जब उत्पादन, कृषि क्षेत्र का हो या उद्योग का, उत्पादकों द्वारा उपभोग की जाने वाली मात्रा से अधिक होने लगता है, तो उत्पादक अपने इस "अतिरिक्त" को किसी अन्य को देकर बदले में अपनी आवश्यकता की अन्य सामग्री लेना चाहेगा । जब एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु प्राप्त की जाती है, तो यह प्रक्रिया वस्तु–विनिमय (Barter System) के नाम से पुकारी जाती है । यह प्रणाली सीमित क्षेत्र एवं सीमित अवश्यकता वाले समाज के लिये तो कुछ उपयोगी है, किन्तु व्यापक क्षेत्र एवं व्यापार–व्यवसाय के विस्तृत आयामों के लिये कतई उपयोगी सिद्ध नहीं हुई । इस प्रणाली में कई खामियां रही और उन पिछड़े हुए क्षेत्रों में, जहां यह कुछ सीमा तक आज भी विद्यमान है, ये आज भी अनुभव की जाती है । वस्तु–विनिमय प्रणाली के क्रेता–विक्रेता के मध्य होने वाले सम्पर्क के संयोग की बड़ी कठिनाई होती है । विनिमय की वस्तु के विभाजन की समस्या भी इस प्रणाली में सर्वत्र विद्यमान रही है । एक तीसरी समस्या विनिमय के सर्वमान्य माध्यम की है, जिसका

वस्तु–विनिमय प्रणाली में अभाव रहता है । इन कारणों से विकसित या विकासशील आर्थिक परिस्थितियों में यह कतई उपयोगी सिद्ध नहीं हुई और न ही हो सकती है ।

भारत में विनिमय के सामान्य माध्यम की वैसे आवश्यकता वैदिक काल से ही अनुभव होने लगी थी, किन्तु लोह युग के आगमन ने तो उसे एक प्रकार से अपरिहार्य ही बना दिया । लोह–युग के आगमन (ई पू. 700–600 के लगभग) ने भारत की सामाजार्थिक स्थितियों में आमूल परिवर्तन कर दिया था । गहरी खेती के परिणामस्वरूप अतिरिक्त कृषि–उत्पादन सीधे या बिचौलियों के माध्यम से बड़ी बस्तियों में पहुंचने लगा जहां क्रमश: व्यापार–मंडियों और औद्योगिक–केंद्रों के विकसित हाने से द्वितीय नगरीकरण के युग का प्रादुर्भाव हुआ, यातायात के साधनों में वृद्धि हुई और व्यापार और वाणिज्य तेजी से पनपने लगे । भारत का बड़ी तेजी से विदेशों से सम्पर्क बढ़ा, इस कारण ज्ञान और विज्ञान में तेजी से अभिवृद्धि हुई । इसी वातावरण में भारत में मौद्रिक–प्रणाली का विकास हुआ क्योंकि व्यापार–व्यवसाय के वर्णित हो रहे क्षेत्रों, सम्पर्कों एवं आयामों के परिणामस्वरूप वस्तु–विनिमय प्रणाली तेजी से अपना अर्थ खोती जा रही थी । भारत में इस प्रणाली का प्रारंभिक स्वरूप आहत सिक्कों के रूप में सामने आया । सिक्के मौद्रिक–व्यवस्था के एक प्रमुख स्वरूप रहे है । वे एक निश्चित क्षेत्र में अपनी सर्वमान्यता एवं सर्वग्राह्यता के कारण विनिमय का एक सशक्त माध्यम ही नहीं, अपितु मूल्यों के संचय एवं साख का प्रामाणिक आधार भी बने । मुद्राओं को आड़े समय के लिए संचित कर रखा भी जा सकता था। या तो उन्हें सुरक्षा के लिये जमीन में गाड़कर या दीवारों में चुनकर भविष्य के उपयोग के लिये रख दिया जाता था, या किसी विश्वसनीय महाजन या व्यापार–श्रेणी के पास निपेक्ष के रूप में रख दिया जाता था या ब्याज पर उठा दिया जाता था । ब्याज पर उधार देने की प्रणाली धीरे धीरे विकसित हुई, जिसे कालान्तर में "कुसीद" नाम दिया गया । धन को निपेक्ष (Deposit) के रूप में रखे जाने की पद्धति प्राचीन भारतीय अधिकोषण का आधार बनी । जो धन लाभ या ब्याज कमाने के उद्देश्य से विनियोजित किया जाने लगा, उसने पूंजी का निर्माण किया । धीरे–धीरे पूंजी और साख व्यवस्था का विकास होता चला गया जिसने कालान्तर में साख–पत्रों को भी सिक्कों के साथ महत्वपूर्ण बना दिया । इन्हीं सारी बातों की चर्चा काल–क्रमानुसार आगे की जा रही है ।

8.3 युगयुगीन मौद्रिक प्रणाली

भारत में सिक्कों का प्रचलन कैसे प्रारंभ हुआ, यह प्रश्न विद्वानों में विवाद का विषय रहा है । उनके मतों को निम्न सारिणी द्वारा प्रकट किया जा सकता है–

क्र.	मत (उत्पत्ति विषयक सिद्धांत)	प्रतिपादक विद्वान
1.	यूनानी	एच. एच. विल्सन, जेम्स प्रिंसेप, ए. डी. एच. बीवर
2.	पारसीक (ईरानी)	जे. ए. देकार्देमेन्कस, जे. एलन
3.	बेबीलोन	जेम्स केनेडी, विन्सेण्ट स्मिथ
4.	भारतीय	ई. जे. रेप्सन, एडवर्ड थामस, एलेक्जेण्डर कनिधम, डी, आर. भण्डारकर, एस. के चक्रवर्ती आदि

भारतीय सिक्कों की विदेशी उत्पत्ति के सिद्धांत को अधिक मान्यता नहीं मिली । इसका कारण यह है कि यूनान, ईरान और बेबीलोन में सिक्के निर्मित होने के शताब्दियों पूर्व भारत में विनिमय के माध्यम के रूप में शतमान, निष्क, कृष्णल, पाद जैसे धातु–पिंडों के संदर्भ मिलने लगते है । अब सामान्यतया यह माना जाने लगा है कि ईसा पूर्व आठवीं से छठी सदी के मध्य भारत में मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था का प्रारंभ हो चुका था जिसका प्रथम प्रमाण हमें आहत सिक्कों के रूप में प्राप्त होता है ।

8.3.1 आहत मुद्राएँ

आहत (Punch–marked) सिक्कों से प्राचीन भारतीय मुद्रा–प्रणाली का प्रस्थान माना जा सकता है । भारत के इन प्राचीनतम सिक्कों को पण या कार्षायण की संज्ञा थी । चांदी या तांबे की धातु को गरम कर उसे पीटकर एक निश्चित आकार व तोल बनाकर उस पर पहिचान के लिए चिह्न का ठप्पा लगाया जाता था । इसी कारण इन सिक्कों को आहत सिक्के कहा गया । ये सिक्के किसी निश्चित आकार में निर्मित नहीं हुए । गोल, वर्गाकार, आयताकार, पंचकोणीय, षटकोणीय आहत सिक्कों की उपलब्धि हुई है । छड़नुमा एवं कड़ेदार सिक्कों के प्रमाण भी मिले है । पीटकर सिक्के बनाने के कुछ काल उपरांत सिक्कों को ढालकर भी बनाया जाने लगा । पहले सिक्कों के मिट्टी के चिह्नि सांचे बना लिये जाते थे । बाद में उनमें नली द्वारा पिघली धातु डाल दी जाती थी जो ठंडी होने पर सिक्के का रूप धारण कर लेती थी । इस तरह हम देखते है कि या तो पत्तरों को काटकर या सांचे में ढालकर सिक्कों को निर्मित कर उन पर चिह्नों को अंकित किया जाता था ।

आहत सिक्कों पर जो विभिन्न प्रकार के चिह्न अंकित मिले है, उनमें सूर्य, स्वस्तिक, नन्दीपाद, षड़र चक्र; वृत्त, चक्र, धनुष–बाण, मकार, उज्जयिनी चिह्न, वेदिका, स्तूप, पीपल का वृक्ष, मेरु, अर्धचन्द्र, श्वान, नान्दीमुख, मयूर, हाथी, मनुष्य, मेढक, सिंह, अश्व, मत्स, वृत्त, त्रिभुज, नदी आदि प्रमुख है । इन –सिक्कों पर इनमें से एकाधिक चिह्न अंकित मिलते है । परवर्ती आहत सिक्कों के मुख्य भाग पर पांच चिह्न तक अंकित हुए है । अधिकांश सिक्कों का वजन 32 रत्ती है । पृष्ट भाग पर दो या तीन चिह्न तक अंकित हुए है ।

आहत सिक्कों पर इन चिह्नों को अंकित करने के अनेक आशय निकाले गये है । कुछ मुद्राशास्त्री उनका सम्बन्ध विभिन्न राजवंशों से जोड़ते है तो कुछ उन्हें स्थानीय शासकों से; कुछ उन्हें तांत्रिक प्रतीक मानते है तो कुछ उन्हें कृषि व लोक–जीवन से संबंधित; कुछ उन्हें धार्मिक चिह्न मानते हैं तो कुछ उन्हें विभिन्न निगमों या श्रेणियों के चिह्न । अन्य कुछ उन्हें निर्माता टकसालों से सम्बन्धित करते है स्थिति जो भी रही हो, भारत में इन आहत सिक्कों का व्यापक प्रचार–प्रसार रहा । वे एक प्रकार से जनपद काल से लेकर मौर्य काल के प्रारंभ तक मौद्रिक प्रणाली के प्रमुख आधार रहे । वे एक प्रकार से जनपद काल से लेकर मौर्यकाल के प्रारंभ तक मौद्रिक प्रणाली के प्रमुख आधार रहे । ये सिक्के पश्चिमोत्तर भारत, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि राज्यों से सतह पर या उत्खनन से प्रभूत संख्या में प्राप्त हुए है । कई स्थानों पर सिक्कों के जो संचय प्राप्त

हुए है, उनमें भी आहत सिक्के प्राप्त हुए है । विभिन्न तत्कालीन साहित्यिक स्रोतों में शतमान, अर्ध–शतमान, विंशतिक, त्रिशतिक, पण, कार्षापण, अर्थ–पण, पाद, माषक, अर्ध–माषक, कार्काषेक आदि सिक्कों का उल्लेख प्राप्त हुआ है । ये नाम विभिन्न प्रकार के आहत सिक्कों के रहे होंगे यह मानना अन्यथा न होगा ।

8.3.2 मौर्यकालीन मुद्रा–प्रणाली

मौर्य काल में भारतीय मुद्रा–प्रणाली काफी सुगठित हो गई थी । यह तथ्य हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र व देश के विभिन्न भागों से प्राप्त आहत रजत मुद्राओं से ज्ञात होता है । कुछ ताम्र–मुद्राएँ भी मिली है । इस काल में एक ही प्रकार की मुद्राओं में समरूपता आ गई थी । मुद्रा–निर्गमन राज्य का विषय होता जा रहा है । राजकीय चुकारे सिक्कों के द्वारा होने लगे थे । मौर्यों के अधीन एक विशाल साम्राज्य का निर्माण हो चुका था । लोह–युग के आगमन के परिणामस्वरूप देश का पर्याप्त आर्थिक एवं औद्योगिक विकास हो चुका था । देशी व्यापार के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भी आशातीत वृद्धि हो गई थी । अनेक व्यापार–समूह, श्रेणियां व संगठित साथों का विकास हो चुका था । विशाल प्रशासन एवं सैन्य तंत्र का दबाव भी था । इस कारण राजकीय हस्तक्षेप एवं एक सुनिश्चित मुद्रा–मान आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य हो गया था । राजकीय टकसालों को मुद्रा–निर्माण का एकाधिकार मिलने लगा था । मुद्राओं पर चिह्न अंकित करवाने का दायित्व लक्षणाध्यक्ष का था । संभवत: मोर एवं मेरू पर अर्धचन्द्र यह चिह्न था । सिक्कों के निर्माण का दायित्व सौवर्णिक नामक अधिकारी का था । इन टकसालों में निजी एवं सार्वजनिक संस्थाएं भी सिक्के ढलवा सकते थे किन्तु यह सब राजकीय नियंत्रण एवं राज्य द्वारा धातु–शुद्धता के प्रमाणीकरण के आधार पर ही होता था ।

कौटिल्य दो प्रकार के सिक्कों पण एवं माषक का उल्लेख करता है । पण रजत मुद्राएँ होती थी, जबकि माषक तांबे के सिक्के होते थे । मौर्यकालीन सिक्के विशुद्ध चांदी के नहीं होते थे । सिक्कों को कठोरता देने की दृष्टि से चांदी में तांबे को मिश्रित किया जाता था । इस सम्मिश्रण द्वारा छोटे सिक्के भी बनाये जाने लगे । चांदी का अर्धपण तथा तांबे के अर्धमाषक, चौथाई माषक (काकिनी) आदि सिक्के भी बनाये गये । सिक्कों की धातुओं में मिश्रण होने तथा पूर्ति की अपेक्षा मुद्रा भी मांग अधिक बढ जने के परिणामस्वरूप नकली या खोटे सिक्के भी प्रचलित होने लगे थे । मौर्य शासन ऐसे सिक्कों के निर्माताओं और निर्गमको को भारी दण्ड देता था । राज्य के लिये राजकीय टकसालों में जो सिक्के ढाले जाते थे, वे कानूनी और कोशप्रवेश्य माने जाते थे । सार्वजनिक संस्थाओं के जो सिक्के राजकीय टकसालों में निर्मित होते थे, वे कानूनी–ग्राह्य नहीं होते थे किन्तु विनिमय के माध्यम के रूप में प्रचलित होने के कारण व्यावहारिकी कहलाते

8.3.3 मोर्योत्तर काल में स्थिति

मौर्यों के पतन के कारण भारत में एक सशक्त केन्द्रीय सत्ता का अभाव सा हो. गया। ऐसे में विभिन्न राजतंत्रीय तथा गणतंत्रीय शक्तियों का तेजी से अभ्युदय हुआ । विदेशी जातियां भी एक के बाद एक भारत में प्रविष्ट हुईं और वे भारत में अपना राज्य स्थापित करने में

सफल हुईं । इन देशी–विदेशी शक्तियों ने अपने–अपने सिक्के जारी किये । भारतीय सिक्के अधिकांशत: जनपदों एवं गणराज्यों के थे । ऐसे सिक्कों में औदुम्बर, कुणिन्द, यौधेय, आर्जुनायन, मालव आदि गणों तथा अयोध्या, पांचाल, कौशाम्बी, मथुरा, तक्षशिला, उज्जैन, एरण आदि जनपदों के सिक्कों को रखा जा सकता है । मौर्य काल के उपरांत सातवाहन एवं नागों ने भी अपने प्रभूत एवं विविधापूर्ण सिक्के जारी किये । भारत पर शासन करने वाले विदेशी भारतीय यवनों, कुषाणों, शक–पहलवों आदि ने भी अपने आकर्षक एवं स्तरीय सिक्के निर्गमित किये ।

जहां तक जनपदीय सिक्कों का प्रश्न है, मौर्य साम्राज्य के विस्तार के पूर्व गांधार, शूरसेन, उत्तर व दक्षिण, पांचाल, वत्स, कुणाल, काशी–कोशल, वंग, मगध, कलिंग, अश्मक, आन्ध्र, सुराष्ट्र, मूलक आदि क्षेत्रों में आहत रजत सिक्कों का प्रचलन था । ये सिक्के बनावट, भार, धातु की गुणवत्ता तथा चिह्नों के मामले में एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न थे । ये सिक्के इन जनपदों की स्थानीय टक्सालों में राज्य या व्यापार–श्रेणियों द्वारा निर्मित करवाये गये थे और सम्बन्धित जनपदीय क्षेत्रों में ही उनका प्रचलन सीमित होता था । पश्चिमोत्तर भारत के गांधार आदि क्षेत्रों में ही उनका प्रचलन सीमित होता था । पश्चिमोत्तर भारत के गांधार आदि क्षेत्रों के सिक्के प्रारंभ में ईरानी सिग्लोई सिक्कों व उपरांत यवन सिक्कों से प्रभावित रहे । अन्य क्षेत्रों के सिक्के अपने–अपने क्षेत्रों की सहज स्वतंत्र उपज थे । इन सिक्कों की उपलब्धि इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि मौर्यों के अभ्युदय के पूर्व की शताब्दियों में समूचे उत्तर भारत व दक्षिण भारत के उत्तरी क्षेत्र में मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था ने गहरी जड़ें जमा ली थीं ।

मोर्य–समराज्य की स्थापना के कारण विभिन्न जनपदों व गणराज्यों का अस्तित्व अतीत की वस्तु जैसा लगने लगा था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ । मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरांत इनमें से अनेक जनपद एवं गणराज्य एक बार फिर उभर आये । शुंग और कुषाणों के राजनीतिक पटल से विदा होने पर इन राज्यों का महत्त्व कालान्तर में और भी बढ़ गया । इन राज्यों, जिनमें प्रमुखत: यौधेय, मालव, क्षुद्रक, शिबि, राजन्य, वेमक, कश, आर्जुनायन, औदुम्बर आदि गण सम्मिलित थे, ने अपने विशिष्ट सिक्के जारी किये । सामान्यतया ये सिक्के दूसरी सदी ई.पू. से मिलने लगते है और पंजाब, हरियाणा, उत्तर–पश्चिम राजस्थान एवं कतिपय निकटवर्ती क्षेत्रों में मिले है । औदुम्बर और कुणिन्द सिक्कों पर ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों ही लिपियों में लेख अंकित है । अन्य सिक्कों पर ब्राह्मी शासकों के नाम के साथ–साथ तत्सम्बन्धी गणों की जय–लेख अंकित है, जैसे "मालव गणस्य जय:, "यौधेय गणस्य जय" आदि । इस समय सिक्कों पर प्राकृत–भाषा की अपेक्षा संस्कृत में लेख अंकित किये जाने लगे । अधिकांशगण सिक्कों पर एक ओर लेख व गण–प्रतीक तथा दूसरी ओर शासक की आकृति अंकित होती थी । जनपदों के ये सिक्के ईसा पूर्व दूसरी सदी से लेकर ईसा की तीसरी सदी तक जारी होते रहे । गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा अन्तिम रूप से गणराज्यों के उन्मूलन के उपरांत इनका प्रचलन बन्द हो गया । यद्यपि इस अवधि में चांदी के सिक्कों का बाहुल्य रहा किन्तु तांबे के सिक्के भी अस्तित्व में बने रहे । ये सिक्के गोल और चौकोर दोनों ही प्रकार के रहे ।

इस दौरान गंगा घाटी में कतिपय राजतंत्र उभर आये थे । ईसा पूर्व द्वितीय से ईसा की लगभग तृतीय सदी तक इस राजवंशों के राजाओं ने उल्लेखनीय सिक्के निर्गमित किये । शूरसेन क्षेत्र के हिन्दू राजाओं ने अपने सिक्के मथुरा से ईसा पूर्व द्वितीय एवं प्रथम शताब्दियों में जारी किये । प्रथमत: मित्र नामधारी शासकों एवं उपरांत दत्त नामधारी राजाओं ने ये सिक्के निर्गमित किये थे । पांचाल शासकों के सिक्के अहिच्छत्रा से लेकर अवध तक मिले है । तांबे के गोलाकार सिक्के मौर्य सिक्कों से प्रभावित थे । मथुरा के शासकों ने सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन रहता था किन्तु इन पांचाल सिक्कों पर लक्ष्मी के साथ सूर्य और अग्नि का अंकन भी रहता था । पांचाल के 21 शासकों के सिक्के अभी तक प्राप्त हुए है । वत्स देश के मित्र नामधारी अनेक शासकों ने कौशाम्बी से जो ताम्र—मुद्राएँ निर्गमित कीं, उनके अग्रभाग पर राजाओं के नाम के साथ–साथ घेरे में वृक्ष तथा पृष्ठ भाग पर नन्दी अंकित किये गये । गांधार क्षेत्र में तक्षशिला में भारतीय यवनों के पूर्व यहां शासन कर रहे हिन्दू राजाओं के सिक्के भी उत्खनन से मिले है । कुछ विद्वानों के अनुसार ये सिक्के मौर्य काल के पूर्व के है । ऐसा मत प्रकट किया है कि भारत में ठप्पे से सिक्के सर्वप्रथम तक्षशिला में ही निर्मित हुए । यहां के प्रारंभिक सिक्के चौकोर और भारी रहे । उपरांत पूर्वापेक्ष कुछ पतले एवं गोलाकार चिह्नित सिक्के बनाये जाने लगे । यहां से सबसे बाद नैगम मुद्राएँ जारी की गयीं जिन पर सम्बन्धित स्थलों का नाम व ब्राह्मी में "नैगम" उत्कीर्ण मिलता है । इन सिक्कों के साथ–साथ भारत में अनेक नगर–मुद्राएँ भी प्रचलित रही । ये मुद्राएँ आहत सिक्कों की ही परम्परा में रहीं क्योंकि उन पर कोई विदेशी प्रभाव दिखाई नहीं देता । ये सिक्के सामान्यतया ताम्र निर्मित रहे । ये चौकोर और गोल दोनों ही आकार में निर्मित किये गये । अभी तक जिन नगर–मुद्राओं की जानकारी मिली है, उनमें वाराणसी, कौशाम्बी, विदिशा, एंरण, भागिल, उज्जयिनी, माहिष्मती, त्रिपुरी, वचघोष, कपिशा, पुष्कलावती आदि है । इन मुद्राओं पर इनकी पहिचान एवं नगर या नैगम आदि के चिह्न अंकित किये गये हैं ।

नाग–शासकों द्वारा निर्गमित सिक्कों का तत्कालीन मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रहा । नाग–शासन के प्रमुख केन्द्र मथुरा, कान्तिपुरी, विदिशा व पद्मावती रहे । दूसरी शताब्दी ई. से गुप्त काल के उद्भव तक उत्तर भारतीय दोआबे में अनेक नाग राज्यों का विकास हुआ था । अभिलेखों और सिक्कों से इन शासकों में से अनेक का हमें ज्ञान मिलता है । नागों के सिक्के ठप्पांकित रहे । इन ताम्र सिक्कों पर अधिकांशत: वृत्त मे मयूर अथवा वृषभ अंकित रहा । सिंह, त्रिशूल, चक्र, अर्धचन्द्र आदि भी अंकित किये गये ।

मौर्यों के पतन के उपरांत जब उनके दक्षिण भारत में भी राजनीतिक विघटन का प्रभाव देखा गया । इन दक्षिण भारतीय शक्तियों में गौण रूप में पांड्य, महारठी, आनन्द, कुर आदि वंशों के राजाओं तथा प्रमुख रूप से आंध्र–सातवाहन शासकों ने अपने सिक्के जारी किये । सातवाहन राजाओं के सिक्के आंध्र के कृष्णा–गोदावरी क्षेत्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, तथा गुजरात व मालवा के कुछ प्रमुख पुरास्थलों से प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुए । ये सिक्के स्थानीय तकनीक से विकसित एवं कलात्मक थे । ये चांदी, तांबे, शीशे व पुटीन धातुओं से निर्मित किये गये और

उन पर हाथी, सिंह, अश्व, चैत्य में वृक्ष आदि चिह्न मय राजाओं के नाम के अंकित किये गये । कई सातवाहन सिक्कों पर जहाज का चिन्ह अंकित मिलने पर हमें आंध्र –सातवाहनों की नौसैनिक शक्ति एवं समुद्री मार्ग द्वारा किये जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का परिज्ञान मिलता है । सातवाहन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर साधारणत: उज्जयिनी का चिह्न अंकित मिलता है । इन सिक्कों में अधिकांशत: पुराण, कार्षापण, अर्थ या पाद कार्षापण आदि रहे है ।

मौर्यों के पतन के उपरांत समूचा पश्चिमोत्तर भारत जिन विदेशी शक्तियों से आक्रान्त हुआ, उनमें कालक्रम से यूनानी (यवन), शक–पहलव, कुषाण आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है । ईसा पूर्व की चौथी सदी में यवन सर्वप्रथम सिकन्दर महान् के नेतृत्व में उत्तर–पश्चिमी भारत में प्रविष्ठ हुए । चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवनों की भारत विजय की महत्वाकांक्षा को सफल नहीं होने दिया । मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरांत यवनों की फिर से बन आई । उनकी अनेक शाखाएं भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निर्णायक राजनीतिक शक्ति बन गई । सिक्कों से ज्ञात होता है कि लगभग चालीस भारतीय–यवन शासकों ने भारत में राज्य किया । इन यूनानी शासकों के कारण भारत के धर्म–दर्शन एवं व्यापार का पश्चिमी एशिया व दक्षिणी यूरोप में दूर–दूर तक प्रसार हुआ । इस सम्पर्क के कारण विदेशों में भारतीय माल की मांग पर्याप्त बढ़ गयी । परिणामस्वरूप मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था को नये आयाम मिले । भारतीयों ने यूनानियों से मुद्रा–निर्गमन की नई तकनीकें सीखीं । अब यूनानियों व उनकी भांति भारतीयों, ने भी गोलाकार सिक्के निर्मित करना तथा उन पर देवताओं, राजाओं एवं मुद्रा–लेखों का अंकन प्रारंभ कर दिया । इन सिक्कों को सांचे में ढाला जाता था, इस कारण इनमें पर्याप्त विदेशीपन आ गया था । डेमेट्रियस, अपोलोडोटस, डिओडोटस, मीनाण्डर (मिलिन्द), अगाथो–क्लीज, हेलियोक्लीज, अंतिमेक्स, स्ट्रैबो, हर्मियस आदि शासकों के सिक्के इसका प्रमाण है । इन भारतीय–यवन शासकों ने सोने, चांदी एवं तांबे के सिक्के जारी किये । सोने के सिक्कों को सोटर और चांदी के सिक्कों को द्रम कहा जाता था । चूंकि भारतीयों को पूर्व में रोम की स्वर्ण–मुद्रा दीनार का परिचय प्राप्त था, इस कारण भारत में सोटर भी दीनार नाम से पुकारा गया । इस काल में चांदी और सोने का अनुपात 10:1 था । स्वर्ण–मुद्रा सोटर की तौल 130 ग्रेन से 132 ग्रेन तथा रजत–मुद्रा द्रम की तौल सामान्यत: 66 ग्रेन रही । 33 ग्रेन का अर्ध–द्रम भी प्रचलन में रहा । इन सिक्कों पर मुख–भाग पर यूनानी लिपि व पृष्ठ भाग पर खरोष्ठी लिपि में लेख अंकित किये गये थे । खरोष्ठी लेखों की भाषा प्राकृत थी ।

जहां तक शक–पहलव मुद्राओं का प्रश्न है, मोअ (मोअस), अयस (अजेस), अयलिस (अजिलिस) आदि प्रारंभिक शक शासकों ने अपने सिक्के यूनानी मुद्राओं के अनुकरण पर निर्मित करवाये । जहां तक पहलवों की मुद्राओं का प्रश्न है, गोंडोफरनीस (गुदफर),

स्पलिरिस, स्पलिहोर, अस्पवर्मन आदि शासकों के सिक्के उत्तर–पश्चिम भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त हुए है । यद्यपि इनके सिक्के भी यूनानी अनुकरण पर रहे, किन्तु चांदी की कमी के कारण अनेक शासकों ने तांबे के वर्गाकार सिक्के भी जारी किये ।

भारत के शकों के सिक्के भी पर्याप्त ध्यान आकर्षित करते है । उत्तर भारत में क्षत्रप सिक्के तक्षशिला, मथुरा, वाराणसी आदि स्थानों से प्राप्त हुए है । ऐसी धारणा प्रकट की गयी है कि ये क्षत्रप कुषाण सम्राटों के सामन्त थे । इन क्षत्रप शासकों का राज्यकाल एवं वंश–परम्परा का प्रभूत ज्ञान इनके द्वारा जारी किये गये सिक्कों से होता है ।

भारत के क्षत्रप–शासकों में पश्चिमी भारत के महाक्षत्रप एवं क्षत्रप–शकों की विशिष्ट शुमिका रही । इन शकों के दो प्रमुख वंशों पर अभिलेखीय एवं पुरातत्वीय स्रोतों से प्रकाश पड़ता है । प्रथम वंश क्षहरात शकों का था । इस वंश के भूमक एवं नहपान महाक्षत्रपों के पर्याप्त कार्षापण महाराष्ट्र, गुजरात एवं मालवा क्षेत्र से मिले है जो एक प्रकार से उनके राज्य के विस्तार पर भी प्रकाश डालते है । पश्चिमी शकों का कार्दमक वंश लगभग तीन शताब्दियों तक सत्तारूढ़ रहा । उनका प्रमुख राज–केन्द्र उज्जैन रहा । इनके सिक्कों के मुख्य भाग पर महाक्षत्रप एवं पृष्ठ भाग पर उसके सहयोगी उपशासक एवं उत्तराधिकारी क्षत्रप की आकृति अंकित की जाती थी। दोनों ही ओर ब्राह्मी लिपि में तिथियुक्त मुद्रा–लेख अंकित किये जाते थे । इस प्रकार सिक्कों के माध्यम से कार्दमक शकों के इतिहास का क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस वंश के प्रमुख शासकों में चष्टन, रुद्रदामन प्रथम, दामजदश्री, रुद्रसिंह प्रथम, रुद्रसेन, दामसेन आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

कार्दमक सिक्कों पर अंकित लेखों की भाषा संस्कृत एवं लिपि ब्राह्मी रही । इन सिक्कों की धातु चांदी एवं तांबा रही । परवर्ती शासकों ने पोटिन के सिक्के भी निर्गमित किये । भारी मात्रा में सिक्कों की प्राप्ति यह प्रमाणित करती है कि क्षत्रप काल में पश्चिमी भारत के व्यापार एवं उद्योग काफी पल्लवित थे एवं विनिमय के माध्यम के रूप में चांदी एवं ताम्र मुद्राएँ पर्याप्त लम्बे समय तक प्रचलन में रही ।

कुषाण वंश के शासक मंगोलियाई–यूची कबीले से सम्बन्धित थे । भारत में प्रविष्ट होने के उपरांत कुषाण शासक एशिया की एक महत्वपूर्ण राजनीतिक व सैनिक शक्ति बन गये । उत्तर व पश्चिम भारत के शक–पहलव शासकों एवं क्षत्रपों ने अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये इनकी संप्रभुता स्वीकार कर ली थी । प्रथम कुषाण शासक कुजुल कदफिस (कदफिस प्रथम) था जिसने यूनानी शैली में तांबे के 30 ग्रेन वजन के सिक्के जारी किये । उसका उत्तराधिकारी वीमा कदफिस था । इस शासन ने भारत में सर्वप्रथम स्वर्ण मुद्रा निर्गमित की । वैसे सामान्यत: प्रारंभिक कुषाण सिक्के चांदी एवं ताम्र में ही निर्मित हुए । वीमा के उपरांत सुप्रसिद्ध कुषाण शासक कनिष्क प्रथम ने सोने, चांदी एवं तांबे की विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ निर्गमित करवाई । स्वर्ण–मुद्राएँ जारी होने से भारतीय. मौद्रिक–व्यवस्था तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली से जुड़ गई क्योंकि सोना उस समय अंतर्राष्ट्रीय विनिमय का सर्वमान्य माध्यम बना हुआ था । वैसे सामान्य भारतीय जीवन में ताम्र–मुद्राएँ विनिमय का लोकप्रिय माध्यम बनी हुई थी । इन सिक्कों पर भी देशी–विदेशी विभिन्न देवी–देवताओं की आकृतियां तथा शासक का नाम उसके विरुद–सहित अंकित रहता था। कनिष्क के उपरांत हुविष्क, वासुदेव आदि परवर्ती कुषाण–शासकों ने भी ताम्र व स्वर्ण मुद्राएँ जारी की । इन सिक्कों पर यूनानी व रोमन प्रभाव तो था, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वे क्रमश: भारतीयकरण की दिशा में बढ़ रहे थे ।

8.3.4 गुप्तकालीन मौद्रिक–व्यवस्था

मौर्य एवं कुषाण काल के उपरांत गुप्त काल भारत का एक महान् युग सिद्ध हुआ । अनेक इतिहासकारों ने तो गुप्त काल को "स्वर्ण युग" की संज्ञा दी है । गुप्तों के इतिहास एवं संस्कृति का पर्याप्त परिचय उनके द्वारा निर्गमित सिक्कों से हो जाता है ।

गुप्त वंश के प्रथम उल्लेखनीय शासक चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने पिता घटोत्कच गुप्त की "महाराज" उपाधि के ऊपर उठकर "महाराजाधिराज" की उपाधि अर्जित की । चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसका विवाह लिच्छवि राजकन्या कुमारदेवी से हुआ था । इस विवाह से चन्द्रगुप्त को अतिरिक्त सामाजिक प्रतिष्ठा व राजनैतिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी ।

चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राजस्व काल में ही समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था । सम्भव है यह बात उसके अन्य भाइयों को अच्छी नहीं लगी । ऐसा लगता है कि गद्दी के बैठने के पूर्व या उसके बाद कभी उसे गृहयुद्ध का खतरा मोल लेना पड़ा । इसका कुछ प्रमाण उसकी प्रयाग–प्रशस्ति में तथा मुख्य प्रमाण काचगुप्त नामक राजा के सिक्के प्राप्त होना है ।

काचगुप्त के सिक्कों को लेकर पर्याप्त विवाद उठ खड़ा हुआ है । एक मत यह है कि स्वयं समुद्रगुप्त ही काचगुप्त था । दूसरा मत यह है कि समुद्रगुप्त ने अपने पूर्वज घटोत्कचगुप्त की स्मृति में ये सिक्के चलाये । तीसरा मत यह है कि काचगुप्त समुद्रगुप्त का भाई था जो या तो चन्द्रगुप्त प्रथम के मरने पर मगध का राजा बन बैठा या समुद्रगुप्त के विजय विभिन्न अन्यत्र जाने पर उसकी अनुपस्थिति में मगध का राजा बन गया था । कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि समुद्रगुप्त ने मगध का उत्तराधिकार निष्कण्टक रूप में प्राप्त नहीं किया ।

समुद्रगुप्त एक महान् शासक व विजेता था । वह एक दूरदर्शी साम्राज्यवादी था । उसके बारे में हमें प्रयाग प्रशस्ति तथा उसके सिक्कों से जो जानकारी उपलब्ध होती है, उसके आधार पर हम उसे विश्व के महानतम विजेताओं की पंक्ति में रख सकते है । कई इतिहासकारों ने उसकी विजयों से मुग्ध होकर उसे भारतीय नेपोलियन कह डाला है ।

समुद्रगुप्त को अत्यन्त सुन्दर, सजीव तथा सुडौल सिक्के बनवाने का बड़ा शौक था । उसके समय में स्वर्ण मुद्रा का पूरी तरह भारतीयकरण हो चुका था । समुद्रगुप्त की स्वर्ण मुद्राएँ 6 प्रकार की है –

1. पताका प्रकार,
2. धनुर्धर प्रकार,
3. परशु प्रकार,
4. सिंह प्रकार,
5. वीणा–वादक प्रकार, तथा
6. अश्वमेघ प्रकार ।

सिक्कों पर अंकित प्रशस्ति में उसे "सर्व राजोच्छेता" (सब राजाओं को उन्मूलित करने वाला) कहा गया है । 'परिक्रमांक' भी उसकी एक उपाधि थी ।

समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के अनेक प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए है जिनमें धनुर्धर प्रकार, सिंहासन प्रकार, सिंह–निहंता प्रकार, अश्वारोही प्रकार, छत्र प्रकार प्रमुख हैं।

कुमारगुप्त वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के उपरांत गुप्त–सम्राट बना । उसने सर्वाधिक प्रकार के सिक्के जारी किये । इनमें चौदह प्रकार की स्वर्ण एवं कई प्रकार की रजतमुद्राएँ भी सम्मिलित रही । हूणों के आक्रमण के उपरांत भी भारत में सुख एवं समृद्धि रही यह तथ्य कुमारगुप्त की इतनी मुद्राओं से प्रकट होता है ।

कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरांत गुप्त साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से लड़खड़ाने लगा था । यह तथ्य सिक्कों से भी ज्ञात होता है । केवल दो ही–धनुर्धारी एवं राजारानी प्रकार की स्वर्ण–मुद्राएँ निर्मित करवा पाया, वह भी निम्न धातुओं से मिश्रित । परवर्ती गुप्त शासकों के समय साम्राज्य की आर्थिक स्थिति निरंतर गिरती चली गई । यह निर्णय पुरुगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, नरसिंहगुप्त, विष्णुगुप्त, बुधगुप्त आदि के सिक्कों से लिया जा सकता है । ये सिक्के मिलावट भरे, भद्दे व प्रकारों में सीमित है ।

गुप्तकालीन सिक्के कुषाण–परम्परा में ही आते है । इस कारण गुप्तकालीन मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था भी अंतर्राष्ट्रीय आधार पर खड़ी रही । तकनीकी दृष्टि से गुप्त सिक्के कुषाण सिक्कों से प्रभावित हुए किन्तु अन्तर इतना हुआ कि गुप्त काल में सिक्कों का पूरी तरह भारतीयकरण हो गया । इसके साथ ही उसमें अनेक प्रकार की नवीनता आ गई । फिर भी एक कमी रह गई । गुप्त शासक अपनी कोई स्वतंत्र मुद्रा–नीति नहीं बना पाये । संभवतः वे सारे समय सैनिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में इतने उलझे रहे किवे इस दिशा में सोच ही नहीं पाये ।

गुप्तकालीन सिक्कों के विभिन्न प्रकारों एवं व्यापक प्रसार का कारण उस काल की अत्यंत समृद्ध अर्थ–व्यवस्था प्रारंभिक गुप्त मुद्राएँ विशुद्ध धातुओं से निर्मित की गई थी । स्वर्ण–मुद्राओं का तौल सामान्यतया 121 से 132 ग्रेन तक था । प्रमुख व्यापार केन्द्रों में स्वर्ण एवं रजत मुद्राओं का अधिक प्रचलन था जबक सामान्य जनता एवं ग्रामों में तांबे के सिक्के प्रचलित थे । परवर्ती काल में ग्रामों को अधिक आत्मनिर्भर बनाया गया, इस कारण पिछड़े हुए क्षेत्रों में मुद्राओं का प्रचलन काफी कम हो गया । परवर्ती शासकों के स्वर्ण–सिक्कों में 50 प्रतिशत तक मिलावट आ गई थी जो पतनशील आर्थिक स्थिति का परिणाम थी ।

कुषाण काल में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की बहुलता के कारण चांदी की आवक अधिक थी जो गुप्त काल में धीरे–धीरे कम होती चली गई । इस कारण चांदी आयात में हुई कमी के कारण पूर्वापेक्ष काफी मंहगी हो गयी थी । सोने व चांदी का जो अनुपात कुषाण काल में 1 : 16 था, वह परवर्ती गुप्त काल में घटकर 1 :4½ ही रह गया था । यदि किसी को मौद्रिक उच्चावचन की कहानी जाननी हो, तो गुप्तकालीन मुद्रा–प्रणाली का इतिहास देखना चाहिए।

8.3.5 गुप्तोत्तर–कालीन मुद्राएँ

गुप्तोत्तरकालीन मुद्राओं के अंतर्गत प्रमुख रूप से हूणों, मौखरियों, पुष्पभूतियों आदि की मुद्राएँ आती है । सासानी एवं गधैया सिक्के भी इन्हीं मुद्राओं में रखे जा सकते हैं ।

मध्य एशियाई हूण कबीलों ने पश्चिमोत्तर एवं मध्य भारत में दूर–दूर तक बर्बर एवं अमाननीय आक्रमण किये । इन्होंने जो प्रारंभिक सिक्के जारी किये, वे ईरान की रससानी मुद्राओं के अनुकरण पर थे । इनमें इन कबीलाई सरदारों के नाम अंकित नहीं किये गये थे । इन पर हूणों का प्रिय हेफथलाई चिह्न अंकित किया जाता था । दो प्रमुख हूण सरदार तोरमाण एवं मिहिरकुल के सिक्के शासक की आकृति एवं ब्राह्मी लिपि में लेख से युक्त है । इन सिक्कों से यह भी ज्ञात होता है कि हूणों ने धीरे–धीरे ब्राह्मण धर्म अपना लिया था । मिहिरकुल के सिक्कों पर कुषाण प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । हूणों के चांदी के सिक्के बड़े मध्यम एवं गोल आकार में निर्मित हुए । ये सिक्के तौल में 31 ग्रेन से लेकर 55 ग्रेन तक के रहे । इनके तांबे के सिक्के भारी है और वजन में 110 ग्रेन तक के है । हूणों के सिक्कों से ज्ञात होता है कि इन परदेसियों का पश्चिमोत्तर सीमांत के परवर्ती कुषाणों तथा फारस के शासकों से राजनीतिक एवं व्यापारिक संबंध रहा था ।

सासानी सिक्कों का परिचय देना यहां उचित होगा । परवर्ती हूण स्थानीय परम्परा के अनुसार सिक्के अवश्य निर्मित करने लगे थे किन्तु धीरे–धारे सासानी सिक्के भारत में दूर–दूर तक लोकप्रिय हुए । इसका प्रमुख कारण संभवत: यह रहा कि भारतीय बाजारों एवं आर्थिक व्यवहारों में जितनी मुद्रा की आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति परवर्ती गुप्त एवं गुप्तोत्तरकालीन भारतीय शासक कर नहीं पा रहे थे । राजनीतिक विघटन की स्थिति में सामान्य–जन को भी किसी सर्वमान्य मुद्रा की आवश्यकता थी । इन अपेक्षाओं की पूर्ति सासानी सिक्कों ने की । प्रारंभिक सासानी सिक्के किदार कुषाण एवं हूण शासकों द्वारा निर्गमित सिक्कों की अनुकृति पर निर्मित हुए । पर्याप्त लम्बे समय तक उत्तर–पश्चिमी भारत में दूर–दूर तक चांदी व तांबे के विभिन्न प्रकार के ये हेफथलो–सासानी सिक्के प्रचलन में रहे । साधारणतया इन सिक्कों के अग्रभाग पर शासक की आकृति, उसके सिर पर पगड़ी व आभूषण, पहलवी में मुद्रा लेख और पृष्ठ भाग पर अग्निकुण्ड के दोनों ओर मानवाकृतियां अंकित की जाती रही । कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी में भी मुद्रा–लेख अंकित हुए । इन्हें दम कहा गया । इनका सामान्य तौल 67 ग्रेन रहा।

गैधया सिक्कों पर भी टिप्पणी आवश्यक है । ये सिक्के सासानी सिक्कों की अत्यंत भद्दी अनुकृति रहे । ये तौल में लगभग 60 ग्रेन एवं मोटी बनावट वाले रहे । मिलावट भरे, लेख–विहीन एवं विचित्र व विभिन्न रेखीय आकृतियों वाले ये सिक्के पश्चिमी भारत में छठी से बारहवीं सदी तक भारी मात्रा में प्रचलित रहे । इन सिक्कों को भारतीय–सासानी सिक्के कहा जाता है । कुछ सिक्कों पर संक्षिप्त लेख अवश्य अंकित हुए हैं किन्तु उनसे, सम्बन्धित शासकों का परिचय प्राप्त नहीं होता । फिर भी यह माना जा सकता है कि इन सिक्कों के निर्माता अधिकांशत: राजपूत शासक रहे होंगे । बिहार और उत्तर प्रदेश से प्राप्त टेबुआ सिक्कों को भी गैधया सिक्कों के अंतर्गत ही रखा जा सकता है ।

सासानी एवं गैधया सिक्कों के व्यापक प्रचलन से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि गुप्तोत्तर काल में भी भारतीय शासकों द्वारा अपने सिक्के जारी नहीं किये गये । कन्नौज के मौखरि शासक ईशानवर्मन, सर्ववर्मन एवं अवन्तिवर्मन ने अग्रभाग पर शासक व पृष्ठ भाग पर मयूराकृति वाली ब्राह्मी लेख व तिथि–युक्त रजत मुद्राएँ निर्मित की । थानेश्वर के पुष्पभूति वंश के महान् सम्राट हर्षवर्धन की शीलादित्य नाम से जारी मुद्रा भी लगभग इसी श्रेणी में रखी जा सकती है ।

8.3.6 पूर्व मध्यकालीन मुद्रा–प्रणाली

पूर्व मध्य या राजपूतकालीन भारतीय सिक्कों का सविस्तार विवरण देना इस संक्षिप्त आलेख में कतई संभव नहीं है । फिर भी इतना कहना पर्याप्त है कि विभिन्न राजवंशों ने, चाहे अल्प मात्रा में ही सही, अपने सिक्के जारी किये जो उनसे सम्बन्धित सीमित क्षेत्रों में प्रचलन में रहे । ऐसे सिक्के उत्तर–भारत में गुर्जर–प्रतिहार, शाही, कर्कोट, उत्पल, लोहर, गहड़वास, पूर्वी चेदि, चन्देल, कलचुरि, परमार, तोमर पाल, सोलंकी, चौहान आदि तथा दक्षिण भारत के यादव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, कदम्ब, होयसल, दक्षिण कलचुरि आदि राजवंशों के विभिन्न शासकों द्वारा सोने, चांदी एवं तांबे में निर्गमित हुए । विभिन्न क्षेत्रों में ये सिक्के विभिन्न नामों यथा काकिणी, पण, सुवर्ण, द्रम, गद्यान, कलंजु, मंजदी, कसु, अवकम, तोहतिक, वोडरि, सोड़शिक आदि नामों से पुकारे जाते रहे । कोडियां भी कहीं कहीं विनिमय–माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती रहीं । द्रम इस काल का एक प्रमुख एवं लोकप्रिय मुद्रा–प्रकार था । ऐसे द्रमों में प्रतिहार आदिवराह मिहिरभोज, चौहानों के विग्रहपाल एवं अजयदेव, सोलंकियों के भीम द्वितीय व विशालदेव आदि शासकों के द्वारा जारी किये गये द्रम विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं । इन द्रमों के उप–भागों यथा द्रमार्थ, द्रम–त्रिभाग, पाद आदि के छोटे सिक्के भी प्रचलन में रहे ।

समूची स्थिति के अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि पूर्वमध्यकाल में मुद्राएँ एवं मुद्रा–प्रणाली का एक बार पुन: अभ्युथान हो रहा था । विभिन्न राज्यों में जो व्यापार एवं वाणिज्य का विकास हो रहा था, यह उसका परिणाम था । एक और तथ्य जो सामने आता है, वह यह है कि विभिन्न राज्यों द्वारा जारी किये गये स्वर्ण एवं रजत सिक्कों की तौल लगभग समान थी जो एक प्रकार से विभिन्नता में एकता का दृश्य उपस्थित कर रही थी ।

8.3.7 मौद्रिक प्रणाली की पतनशील परिस्थितियां

गुप्त काल के पतन के उपरांत अनेक ऐसी परिस्थितियां रही जिन्होंने प्राचीन भारतीय मौद्रिक–प्रणाली को पतनोन्मुखी बनाया । केन्द्रीय सत्ता के अभाव, राजनीतिक दृष्टि से भारत का विघटन, विभिन्न राज्यों एवं राजवंशों में कटु सैनिक संघर्ष, सामन्तीय प्रणाली का चरमोत्कर्ष, हूणों के भयावह आक्रमणों, कई राज्यों द्वारा अपने राज–कर्मचारियों को वेतन की अपेक्षा भूमि अनुदान देना, धार्मिक संस्थाओं, विशेषकर मन्दिरों, की आर्थिक भूमिका तथा अनेक प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मांगों के विभिन्न कारणों से विनष्ट हो जाना आदि कारणों से भारत के देशी एवं विदेशी व्यापार को भारी ठेस पहुंची। व्यापार की मात्रा में आई इस कमी के कारण

एकबारगी पुन: ग्रामीण आत्म–निर्भरता तथा वस्तु–विनिमय का दृश्य दिखाई देने लगा । इन परिस्थितियों में मुद्रा की मांग में कमी होती चली गई और मुद्राओं की विभिन्नता एवं विविधता के उपरांत भी पूर्व मध्यकालीन मुद्रा व्यवस्था पर्याप्त सीमा तक पतनोन्मुखी हो गई ।

8.4 प्राचीन भारत में साख एवं अधिकोषण

प्राचीन भारत साख एवं अधिकोषण का प्रमाण हमें विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातत्वीय स्रोतों से ज्ञात होता है । उसके कतिपय पहलुओं पर संक्षेप में विचार कर लेना अन्यथा न होगा।

8.4.1 साख–पद्धति

प्राचीन काल में व्यापार, उद्योग एवं वाणिज्य क्षेत्रों में धीरे–धीरे साख–प्रणाली भी विकसित होती चली गई । वार्ता–शास्त्र के अंतर्गत "कुसीद" नामक जो विषय कालान्तर में सम्मिलित किया गया, उसे साख–व्यवस्था का प्रतिनिधि माना जा सकता है । काफी समय तक उधारी देना और ब्याज कमाना एक निंदित व्यवसाय माना जाता रहा किन्तु धीरे–धीरे वह आर्थिक विकास के साथ–साथ एक राज–मान्य विधा बन गया । एक ओर जहां प्रारंभिक धर्मशास्त्र ब्याज को निंदित मानते रहे, वहीं दूसरी ओर परवर्ती नीति–ग्रन्थों में ब्याज को न केवल सामाजिक स्वीकृति दी गयी, अपितु एतद् विषयक नियमों एवं व्यवस्थाओं का उल्लेख भी हुआ ।

साख–निर्माण के अनेक माध्यम भी सामने आये । श्रेष्ठी–गण उधार देने लगे । राज्य भी कृषकों को अन्न, पशु या सिक्कों के रूप में उधार देने लगा । ऋणकर्ता को राज्य द्वारा प्राप्त ऋण को प्राथमिकता के आधार पर चुकाना होता था ।

यह आश्चर्य का विषय ही है कि गुप्तकाल तक व्यापार व उद्योग श्रेणियों द्वारा विभिन्न लोगों से निक्षेप प्राप्त करने एवं उन्हें अक्षय–नीवि आदि के माध्यम से जमाकर्ता या उसके उद्देश्य को सुरक्षित रखने के उल्लेख तो प्राप्त होते है किन्तु उनके द्वारा किसी अन्य को ऋण देने के उल्लेख प्राप्त नहीं होते । अर्थशास्त्र व नीति–ग्रन्थों में उल्लेख आता है कि निक्षेप–दाता एवं नीक्षेपग्रहीता अथवा ऋणदाता एवं ऋणी के मध्य लेनदेन के लिखित समझौते भी होते थे जिनका उपयोग संविदा–भंग किये जाने की स्थिति में वैधानिक–प्रक्रिया के निमित्त होता. था । इन्हीं ग्रन्थों में ऋणी, ऋणदाता, साक्षी, जमानतदार आदि से सम्बन्धित विभिन्न नियमों दण्ड विधान आदि का भी उल्लेख है । कौटिल्य व स्मृतियों ने तो ऋण वसूलने की प्रक्रिया का सविस्तार उल्लेख किया है । रेहन रखी सम्पत्ति (आधि एवं बन्ध) विषयक नियम भी उल्लिखित हुए है । ऋण के नवीनीकरण, चुकारे, गिरवी रखी सम्पत्ति के विक्रय आदि के लेखबद्ध राजकीय नियम अस्तित्व में थे । साख–पत्रों की विद्यमानता के संदर्भ भी हमें इन साहित्यिक स्रोतों में प्राप्त होते हैं ।

ब्याज की दर का निर्धारण अधिकांशत: ऋण लेने वाले की आर्थिक प्रतिष्ठा ईमानदारी एवं ऋण–वापसी की परिस्थितियों से होता था । सामान्य परिस्थितियों में शुद्ध ब्याज 15 से 24 तथा सकल ब्याज 24 से 60 प्रतिशत होता था । न्यूनतम ब्याज दर 9 प्रतिशत व अधिकतम 240 प्रतिशत होती थी । अविश्वस्त ऋणी एवं जोखिम भरी परिस्थितियों के कारण

ऊंची ब्याज की दर पर ऋण दिया जाता था । ऐसा ऋण एक प्रकार से विनियोजन का खतरा ही रहता था । एक तथ्य और । ऊंचे वर्ण के लोगों से कम और निम्न वर्ण के लोगों से अधिक ब्याज लिया जाता था । चक्रवृद्धि ब्याज –प्रणाली भी अस्तित्व में थी ।

8.4.2 अधिकोषण

प्राचीन भारत में आज जैसी बैंकिंग व्यवस्था तो नहीं थी, किन्तु कुछ भिन्न रूप में अधिकोषण प्रणाली विद्यमान थी । विभिन्न ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों महाजनी पद्धति विद्यमान थी । वैश्य वर्ण के लोग इस दिशा में महारत रखते थे । कौटिल्य के अनुसार निक्षेप का मुख्य आधार उपनिधि होती थी । दूसरे शब्दों में, ऋण लेने वाले को कुछ अमानत, जमानत या गिरवी की व्यवस्था करना होती थी । इस विषयक विभिन्न स्थितियों के लिये निक्षेप, न्यास, प्रतिन्यास, उपनिधि, अनवहित, याचितक आदि शब्दों के संदर्भ प्राप्त होते है ।

विभिन्न श्रेणियों या निगमों में भी विनियोजक ब्याज व विनियोजित धन की सुरक्षा की प्रत्याशा में पूंजी जमा कर देते थे । कई बार दान–दाता गण किसी धार्मिक या सार्वजनिक कार्य को निरंतर सम्पन्न करने के लिये एक–मुश्त राशि श्रेणियों या संघों के पास स्थायी रूप से जमा कर देते थे, ताकि उसके ब्याज से उनका यह अभीष्ट पूरा हो सके । इस व्यवस्था को अक्षप–नीवि कहा जाता था । दक्षिण भारत में मंदिरों, के पास प्रभूत धन दानादि के रूप में जमा हो जाता था। इस कारण मंदिर के प्रबंधक भी जमा धन का उपयोग ऋण देने में करके एक प्रकार से अधिकोषण कार्य सम्पन्न करते थे । ऐसे ऋणों पर 9 से 25 प्रतिशत ब्याज लिया जाता था । ऐसे ऋण साधारणतया सुरक्षित रहते थे क्योंकि ऐसी सम्पत्ति को हजम करना ऋणी–जन धार्मिक आधार पर भारी पातक मानते थे । यह अधिकोषणीय व्यवसाय, चाहे वह व्यक्तिगत हो, श्रेणी या संघ बद्ध हो, या मंदिर–व्यवस्था से सम्बन्धित हो, सामान्यतया लेख–बद्ध ही रहता था ।

8.4.3 अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव

साख पद्धति एवं बैंकिंग व्यवस्था का प्राचीन भारतीय अर्थ–व्यवस्था पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था । इससे मुद्राओं के अनावश्यक एवं जोखिम भरे गमनागमन पर काफी रोक लग गयी थी । गुप्तोत्तर काल में सिक्कों के कम जारी होने का यह भी एक कारण रहा । अधिकांश विनियोजन व्यापार श्रेणियों एवं शिल्पी संघों में होता था । इस कारण व्यापारिक एवं औद्योगिक विकास के लिये कम ब्याज पर पर्याप्त पूंजी मिल जाती थी । इस माध्यम से विनियोजकों में जमा किये गये धन एवं उसकी नियमित ब्याज –प्राप्ति की आश्वस्ति भी रहती थी । इससे अर्थ–व्यवस्था विश्वसनीय एवं स्थायित्व युक्त बनी रहती थी । अक्षय–नीवियों एवं मंदिर की आर्थिक गतिविधियों के माध्यम से धार्मिक, जनोपयोगी, शैक्षणिक एवं निर्माण कार्य संपन्न होते रहते थे । दूरस्थ स्थलों अथवा दो विभिन्न कालों की भुगतान–खाई पाटने में भी यह व्यवस्था अत्यंत उपादेय सिद्ध हुई थी ।

8.5 राजस्व

8.5.1 आशय

आधुनिक अर्थशास्त्री, अर्थशास्त्र के विषय को उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण एवं राजस्व अथवा सार्वजनिक अर्थशास्त्र शीर्षकों में विभाजित करते है । राजस्व एक प्रकार से राज्य की आर्थिक गतिविधियों का वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक अनुशीलन माना गया है । वह स्थानीय, क्षेत्रीय अथवा राष्ट्र स्तर पर राज्य अथवा उसकी प्रशासनिक व्यवस्था का आर्थिक एवं वित्तीय लेखा–जोखा है । इस विषय के अंतर्गत राज्य की कर–नीति, राजकीय आय–व्यय, आर्थिक क्षेत्र की प्रशासकीय संरचना आदि का विशिष्ट अध्ययन किया जाता हे ।

प्राचीन भारतीय राज्य भी इस दृष्टि से अत्यंत सजग एवं सक्रिय थे । राज्य की सात प्रकृतियों या अंगों में एक 'कोष' भी था । कोष को इस प्रकार राज्य का एक महत्वपूर्ण आधार माना गया । कोष के जो प्रमुख अधिकारी होते थे, उनमें समाहर्ता एवं सन्निधाता की विशेष भूमिका होती थी । कर–वसूली के विभिन्न सिद्धान्त होते थे, जिनके आधार पर समाहर्ता द्वारा कराधान प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी । सन्निधाता प्रमुख कोषाधिकारी होता था वह राजकीय आय–व्यय का प्रमुख प्रभारी माना जाता था ।

8.5.2 स्वरूप व क्षेत्र

प्राचीन भारत के राजकीय आय–व्यय पर कौटिल्य ने सविस्तार प्रकाश डाला है । उन्होंने जिन सात आय–शरीरों (आय के प्रमुख स्रोतों) की चर्चा की है, वे है – दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज एवं वणिक–पथ । इनके अंतर्गत उन्होंने सैंतीस प्रकार के स्रोतों का उल्लेख किया है । इन स्रोतों का पुन: वर्गीकरण अर्थशास्त्र में आय–मुख शीर्षक से इस प्रकार किया गया है ।

1. भाग – भू–राजस्व (उपज का एक निश्चित हिस्सा),
2. मूल्य – राज्य द्वारा विक्रीत वस्तुओं की कीमत,
3. व्याजि – विक्रय–कर,
4. परिघ – रक्षा कर,
5. क्लप्त – तट या सरिता कर,
6. रूपिक – निर्माण कर,
7. अत्यय – एक प्रकार का आर्थिक दण्ड,
8. सीता – राजकीय भूमि की उपज,
9. राष्ट्र – विभिन्न प्रकार के करों से प्राप्त आय । प्राचीन भारत में विद्यमान प्रमुख करों में भाग (भू राजस्व), बलि (स्वैच्छिक या धार्मिक कर), शुल्क (व्यापारियों के लाभ पर कर), हिरण्य (खानों से प्राप्त आय), कर (अन्य प्रकार के कर), विष्टि (श्रम के रूप में कर) आदि उल्लेखनीय है । गुप्त से लेकर राजपूत काल तक इनमें और भी अनेक कर

शामिल हो गये ।

10. सिंहनिक – राजकीय क्षेत्र के निर्माणों से प्राप्त आय,
11. अन्यजात – संयोगी आय
12. उपस्थान – बकाया वसूली आदि ।

जहां तक राजकीय व्यय का प्रश्न है, कौटिल्य ने इन्हें व्यय–शरीर शीर्षक में वर्णित किया है । इनके अंतर्गत 18 व्यय आते थे, जो मुख्यत: प्रशासन सेना, राज–दरबार, भंडारण, अंत: पुर, राजकीय कृषि एवं उद्योग, सार्वजनिक निर्माण, अस्त्र–शस्त्र निर्माण, लोक–कल्याण, धार्मिक कार्य आदि से सम्बन्धित थे । भाग्य से शुक्रनीतिसार ने राजकीय व्यय का स्वरूप व क्षेत्र इस प्रकार सुरक्षित रखा है –

1. बलम् (सेना पर व्यय) 50%

2. दानम् (धार्मिक कार्य) $8\frac{1}{3}\%$

3. प्रकृतय: (जन–कार्य) $8\frac{1}{3}\%$

4. अधिकरिण: (प्रशासनिक व्यय) $8\frac{1}{3}\%$

5. आत्म भोग (राजा का व्यक्तिगत) $8\frac{1}{3}\%$

6. कोष (सुरक्षित निधि) $8\frac{1}{3}\%$

इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन भारत में राजस्व के प्रति राज्य की एक निश्चित दृष्टि एवं नियोजना रही ।

8.5.3 अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव

राजस्व–पद्धति का सदैव ही अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है । राष्ट्र की सामान्य आर्थिक–संरचना और राज्य की आर्थिक गतिविधियों का अन्योन्याश्रित संबंध है । यह स्थिति प्राचीन भारत में भी रही । इस कारण राज्य के सात–प्रमुख अंगों में कोष की महत्वपूर्ण भूमिका रही । इसके माध्यम से राज्य के प्रशासनिक, वैधानिक, सैनिक, सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक कार्यों का वित्तीय संचालन होता रहा । शान्तिकालीन, युद्धकालीन एवं युद्धोपरांत अर्थ–व्यवस्था का नियोजन संभव हो सका तथा नगरों, ग्रामों, कृषि, उद्योगों तथा गमनागमन के साधनों का निर्धारित परियोजनाओं की परिपूर्ति की जा सकी । इस कारण राष्ट्रों का योग व क्षेम बना रहा एवं भौतिक एवं अभौतिक विकास के नवीन आयाम खुलते चले गये ।

8.6 सारांश

भारत में सैंधव व वैदिक काल से ही एक सुनिश्चित अर्थ–व्यवस्था की विद्यमानता के संकेत मिलते है । अनेक वैदिक संदर्भ यह प्रमाणित करते है कि वस्तु–विनिमय प्रणाली धीरे–धीरे मौद्रिक प्रणाली का रूप धारण करने लगी थी । लोह युग के आगमन के परिणामस्वरूप जो

भौतिक विकास प्रारंभ हुआ और व्यापार एवं उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया, उसके दबाव में भारत में आहत मुद्राएँ निर्मित होने लगी । उपरांत मुद्रा–प्रणाली का पर्याप्त विकास होता चला गया । विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत की मुद्राओं पर यूनानी, ईरानी, रोमन एवं बल्ख मुद्रा–तकनीकों का प्रभाव भी पड़ा । जैसे–जैसे भारत का देशी–विदेशी व्यापार समुन्नत होता चला गया, भारतीय अर्थ–व्यवस्था काफी लम्बे समय तक अधिकाधिक दृढ़ होती चली गयी । विनिमय के मौद्रिक माध्यम ने मौर्य शक, कुषाण, सातवाहन एवं गुप्त काल में समय की चुनौती को काफी बड़ी सीमा तक पूरा किया । सोने, चांदी, तांबे, पोटिन आदि द्वारा निर्मित भारतीय सिक्कों की न केवल अर्थ–व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका रही, अपितु ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका रही, अपितु ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी उनका विशिष्ट महत्व है । उनसे विभिन्न समयों में विभिन्न धातुओं के मूल्य का अनुपात व मुद्राओं में हुए धातु–मिश्रण से सामान्य आर्थिक जीवन व राजनीतिक उच्चावचन का ज्ञान भी मिलता है । गुप्तोत्तर एवं राजपूत काल में हूण–आक्रमण, सामन्तीय प्रथा, राजनीतिक विघटन, विदेशी सम्पर्क का अभाव आदि कारणों से मुद्राओं के निर्गमन की मात्रा में कमी आ गई, फिर भी विभिन्न राजवंशों ने विभिन्न समयों, क्षेत्रों, स्वरूपों एवं प्रकारों में जो मुद्राएँ जारी कीं, उनसे भारत को एक प्रकार से मुद्राओं का अजायबघर ही बना दिया है ।

साख–प्रणाली का अभूतपूर्व विकास भारत में हुआ । यह प्रणाली मौद्रिक प्रणाली का ही एक रूप थी । इसने बैंकिंग संस्थानों को जन्म दिया । साख–पत्रों का प्रचलन हुआ । ऋण व ब्याज विषयक नियम–उपनियम सामने आये ।

राज्य भी इन सारी स्थितियों में मूल दर्शक नहीं बना रहा । उसने न केवल आर्थिक गतिविधियों को नियंत्रित व नियमित रखा, अपितु उसने स्वयं को बहुविध एवं उपादेय आर्थिक कार्यों में व्यस्त रखा ।

8.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में मौद्रिक–प्रणाली के उद्भव की परिस्थितियां बताइये । (200 शब्दों में)
2. भारतीय मुद्राओं पर पड़े विदेशी प्रभाव की चर्चा कीजिए । (100 शब्दों में)
3. आहत एवं ढली मुद्राओं ने प्राचीन भारतीय अर्थ–व्यवस्था में क्या भूमिका अदा की? (150 शब्दों में)
4. गुप्तकालीन मौद्रिक प्रणाली की समीक्षा कीजिए । (200 शब्दों में)
5. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये – (प्रत्येक 100 शब्दों में)
   (अ) पूर्व मध्यकालीन भारतीय मुद्रा–प्रणाली की विशेषताएं
   (ब) गैधया सिक्के
   (स) जनपदों के सिक्के
   (द) प्राचीन भारतीय मुद्राओं में प्रयुक्त धातुएं
6. प्राचीन भारत की साख एवं अधिकोषण व्यवस्था पर प्रकाश डालिये। (250 शब्दों में)

7. प्राचीन भारतीय राजस्व–पद्धति का स्वरूप निरूपित कीजिए। (250 शब्दों में)

8.8 संदर्भ ग्रंथ

1. उपाध्याय, वासुदेव : प्राचीन भारतीय मुद्राएँ
2. जैन, रेखा : ऐंसियण्ट इण्डियन काइनेज
3. निगम, श्यामसुन्दर : इकानामिक आर्गेनाइजेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया
4. चौधरी, राधाकृष्ण : इकानामिक हिस्ट्री आफ ऐंशियण्ट इण्डिया
5. मैती, एस. के. : अर्ली इण्डियन काइन्स एवं करन्सी सिस्टम
6. शर्मा, आर. एस. : पर्सपेक्टिव इन सोशियल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री आफ अर्ली इण्डिया
7. गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत

इकाई – 9

वृतिसंघ (व्यापारिक समुदाय) एवं व्यापारिक वस्तुएं

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 आंतरिक व्यापार

9.3 वृतिसंघ उद्भव

9.3.1 सैंधव व वैदिक काल

9.3.2 मौर्यकाल

9.3.3 मौर्योत्तर काल

9.3.4 गुप्तकाल

9.3.5 पूर्व मध्यकाल

9.4 प्राचीन भारत की व्यापारिक वस्तुएं

9.4.1 सैंधव सभ्यता

9.4.2 वैदिक काल

9.4.3 उत्तर वैदिक काल

9.4.4 प्राकृ मौर्यकाल

9.4.5 मौर्यकाल

9.4.6 मौर्योत्तर काल

9.4.7 गुप्त काल

9.4.8 पूर्व मध्यकाल

9.5 सारांश

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.7 संदर्भ ग्रंथ

9.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन की पहचान जहां एक ओर कृषि एवं पशुपालन से रहे वहीं दूसरी ओर वह व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, कुसीद तथा जल और स्थल व्यापार मार्गों से रही है । इन मार्गों से ही व्यापारी कृषि और उद्योग का कच्चा–पक्का माल देश, देशांतर में लाते–ले जाते रहे और इस प्रकार मानवीय संबंधों का एक भौतिक इतिहास बनता रहा है । वस्तुओं और सेवाओं का आदान–प्रदान प्राचीन व्यापार का सार तत्व रहा है । एक स्थान, देश या क्षेत्र किसी अन्य स्थलों से व्यापारिक वस्तुओं तथा सेवाओं के माध्यम से जुड़ा रहा है । इस तरह मानवीय संबंधों के साथ–साथ ज्ञान–विज्ञान का आदान–प्रदान भी संभव हुआ । प्राचीनकाल की व्यापारिक वस्तुएं और उनका व्यापार सहज ही एक अनकही आर्थिक कहानी कह जाते है ।

प्राचीनकाल में जो व्यापारी इन वस्तुओं के प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रय–विक्रय में लगे हुए थे वे या तो विभिन्न प्रकार के एकल व्यापारी थे या संघबद्ध व्यापारी । ऐसे संघबद्ध व्यापारियों ने जो व्यापार समुदाय बनाए उनका अध्ययन अत्यंत रोचक एवं ज्ञानवर्धक है । इन्हीं बातों को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत इकाई को दो भागों में विभक्त किया गया है । प्रथम में वृत्तिसंघ (व्यापार समुदायों) का विवरण है तथा द्वितीय में व्यापारिक वस्तुओं के संदर्भ समाहित किए गए है ।

9.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन में हमारा उद्देश्य आपको प्राचीन भारत के व्यापारिक समुदाय तथा व्यापारिक वस्तुओं के संबंध में जानकारी देना है । इस इकाई का अध्ययन कर लेने पर हम निम्नलिखित बातों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे :

1. भारत में वृत्तिसंघ (व्यापारिक समुदाय) का उद्भव और विकास
2. व्यापारिक समुदायों या वृत्तिसंघों के प्रमुख कार्य तथा उनका संचालन,
3. प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं का सैंधवयुग से पूर्वमध्ययुग तक विवरण,
4. देशी तथा विदेशी वस्तुओं का क्रय–विक्रय तथा
5. व्यापार विकास में उनका योगदान आदि ।

9.2 आन्तरिक व्यापार

प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन के उन्नयन में वाणिज्य का योगदान ज्ञात होता है । सैंधवयुगीन आर्थिक जीवन से वाणिज्य के बारे में हमें जो प्रमाण ज्ञात होते है वह व्यापक क्षेत्र में वाणिज्य के अस्तित्व को स्पष्ट करते हैं । आंतरिक व्यापार का पूर्वी पंजाब, बलुचिस्तान, सौराष्ट्र – गुजरात, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के भू–भाग में अस्तित्व पुरा प्रमाणों द्वारा स्पष्ट होता है । इस समय कृषि उत्पाद जैसे गेहूं, बाजरा, मटर, तिल, कपास प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं थी । इस समय सोना, तांबा, चांदी आदि वस्तुओं का भी आंतरिक व्यापार में प्रमुख योगदान ज्ञात होता है । हड़प्पा और मोहनजोदड़ो प्रमाणों से व्यापार मार्गों के संदर्भ भी प्राप्त होते है । व्यापारिक वस्तुओं के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए पशुओं, गाड़ियों तथा नावों का प्रयोग किया जाता है । भारत के आंतरिक व्यापार का अस्तित्व लगभग 3000 ई. पू. में ज्ञात होता है ।

वैदिक काल में आर्य जन प्रारम्भिक रूप में कृषि तथा व्यवसाय का विकास करते हुए ज्ञात होते हैं किन्तु धीरे–धीरे वे व्यापार भी करने लगे । ऋग्वेद में व्यापार करने वाले के लिए "पणि" शब्द का उल्लेख किया गया है । व्यापार मूल्य के रूप में वस्तु विनिमय का प्रचलन ज्ञात होता है । उत्तर वैदिक काल में व्यापार प्रमुख आर्थिक कार्य ज्ञात होता है । व्यापारिक मार्गों पर रथ, बैलगाड़ी तथा पशुओं द्वारा वस्तुएं एक व्यापार केन्द्र से अन्य पर ले जाई जाती थी । आंतरिक व्यापार में वस्तुऐं समूचित मूल्य प्राप्त होने पर क्रय–विक्रय की जाती थी । अथर्ववेद में भी वस्तुओं के क्रय–विक्रय के संदर्भ प्राप्त होते है । उत्तर वैदिक काल में वैश्य वर्ण के लोग व्यापार में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते ज्ञात होते है । आंतरिक व्यापार का

विकसित स्वरूप वैदिक काल में हमें पश्चिम–उत्तर भारत में स्पष्ट होता है । उत्तर वैदिक काल में गंगा के दोआब का क्षेत्र भी व्यापार का प्रमुख अंग बन गया था । व्यापारिक आवश्यकताओं के लिए इस समय अनेक व्यवसाय अस्तित्व में ज्ञात होते है, अथर्ववेद, तैतरीय संहिता, वाजसनेयी संहिता तथा काठक संहिता के संदर्भ अनेक व्यवसायों की जानकारी देते है । आहाड़, महेश्वर, नवदा टोली, नेवासा, हस्तिनापुर, एरण, अतरंजीखेड़ा, आलमगीरपुर, उज्जैन आदि स्थानों के प्रमाणों के आधार पर लगभग 1800– 1000 ई. पू. भारतीय आंतरिक व्यापार अमिट स्वरूप में ज्ञात होता है । आर. सी. मजूमदार तथा आर के मुखर्जी ने उल्लेख किया है कि वैदिक काल में आर्थिक क्षेत्र में संगठन की प्रवृत्ति विद्यमान थी और संगठित आर्थिक संस्थाओं का उदय हो गया था । वैदिक साहित्य में श्रेष्ठि और गण शब्द के उल्लेख इस तथ्य को स्पष्ट करते है ।

ई. पू. छठी शताब्दी के आर्थिक जीवन में आन्तरिक व्यापार उन्नत अवस्था में ज्ञात होता है । मुद्रा प्रचलन के कारण वाणिज्य का यथासंभव विकास देखा जा सकता है । धातु प्रयोग के परिणाम स्वरूप उत्पादन में वृद्धि के संकेत प्राप्त होते है जिसका सहज परिणाम व्यापार उन्नयन के रूप में हुआ माना जा सकता है । स्थानों के अनुसार इस युग में व्यापारियों का नामकरण होने लगा था यथा मद्र वाणिज, गांधार वाणिज, काश्मीर वाणिज आदि । बौद्ध तथा जैन साहित्य प्रमाणों से इस काल में आन्तरिक व्यापार पर महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध होती है[इस समय नगरों के विकास का परिणाम भी व्यापार विकास में सहभागी माना जा सकता है । ग्रामीण जन अपने अतिरिक्त उत्पादन का कुछ भाग स्थानीय आवश्यकताओं के रूप में विक्रय कर देते थे तथा शेष अन्य स्थानों पर आवश्यकतानुसार विक्रय करते ज्ञात होते है । जो व्यापारी थोक रूप में व्यापार करता था वह "क्रय–विक्रयिक" के रूप में जाना जाता था । अष्टाध्यायी में सांस्थानिक, प्रस्तारिक तथा काठिनिक नामक व्यापारियों के प्रकार ज्ञात होते है । जातकों से ज्ञात होता है कि इस समय आंतरिक व्यापार की प्रमुख वस्तुओं में सोना, चांदी के आभूषण, रत्न, वस्त्र, हाथी दांत, औषधियां तथा अन्न आदि थे। व्यापार के अनुरूप विभिन्न विधियां बनी हुई थी ।

आंतरिक व्यापार के लिए विभिन्न व्यापारिक मार्गों का निर्माण किया गया था । एक मार्ग श्रावस्ती से पैठन तक जाता था, दूसरा श्रावस्ती से राजगृह को, राजगृह से बनारस, साकेत, तक्षशिला भी व्यापारिक मार्ग द्वारा जुड़े हुए थे ' व्यापारी दल बना कर यात्रा करते थे । इनका नेतृत्व सार्थवाह करता था । राजस्थान के पश्चिम में मरुस्थल पार करने के लिए रात्रि के समय यात्रा की जाती थी तथा मार्ग चयन आकाश में दृश्य तारों की गति से किया जाता था । व्यापारियों को जंगली पशु, चोर–डकैतों आदि से रक्षा करने के लिए थल नियामक नामक अधिकारी भी होता था। नैगम ग्राम और नगर स्थान व्यापार के केन्द्र होते थे । व्यापारियों से चुंगी तथा अन्य कर लिया जाता था । समृद्ध व्यापारियों का विशिष्ट स्थान होता था । उसे "सेट्ठि" नाम से जाना जाता था । वह व्यापारियों की समस्याओं का निदान करता था । सेट्ठि का पद उत्तराधिकार के रूप में वंशानुगत होता था । जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि कभी–कभी व्यापारी अधिक लाभ के लिए घूस देते थे । उत्तर तथा दक्षिण भारत में इस समय

अनेक व्यापारिक केन्द्रों का अस्तित्व ज्ञात होता है जो आंतरिक व्यापार में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते थे ।

मौर्यकाल में आन्तरिक व्यापार का विकास आर्थिक जीवन के क्षेत्र में अभूतपूर्व ज्ञात होता है । विक्रय होने वाली वस्तु पण्य कहलाती थी । राज्य व्यापार नियंत्रण के लिए "पण्याध्यक्ष" नामक अधिकारी नियुक्त करता था जो उचित मूल्य पर वस्तुओं के विक्रय को प्रजा हित में रखकर करने देता था । इस समय व्यक्तिगत वाणिज्य की तुलना में राज्य व्यापार विकसित स्थिति में रहा । अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है । व्यापार के लिए राज्य के आदेश–पत्र की आवश्यकता थी । व्यापारी चुंगी–स्थान पर वस्तुओं का नाम, मूल्य, तौल तथा गुण आदि की जानकारी देता था तथा विक्रय के लिए निश्चित बाजार में जाता था । कोई भी व्यापारी कम या अधिक मूल्य नहीं ले सकता था । राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य प्राप्त किया जा सकता था । अधिक मूल्य ग्रहण करने वाले व्यापारी का 'मान राज्य द्वारा छीन लिया जाता था । अर्थशास्त्र के व्यापार विषयक संदर्भों का यूनानी इतिहासकारों द्वारा भी समर्थन किया गया है । पाटलीपुत्र में इस समय वाणिज्य की पूर्णरूपेण देखरेख के लिए व्यवस्था थी । राज्य द्वारा निश्चित किए गए मूल्य से अधिक मूल्य लेना अपराध माना जाता था । अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है कि अगर व्यापारी मिलकर माल को रोक ले और अनुचित मूल्य पर वस्तुओं का क्रय–विक्रय करे तो प्रत्येक व्यापारी पर एक–एक हजार पण का अर्थ दण्ड लगा देना चाहिए ।

आन्तरिक व्यापार की उन्नति के लिए आवागमन की सुविधा का ध्यान रखा जाता था । मौर्य युग में व्यापारिक मार्गों का अत्यधिक विकास हो गया था । पाटलीपुत्र से पुरुषपुर तक विस्तृत मार्ग था। इसके निकट प्रमुख नगर जो व्यापार के केन्द्र थे राजगृह, काशी, कौशांबी, मथुरा, तक्षशिला आदि स्थित थे । मौर्य शासक अशोक के काल में व्यापार मार्गों का भी यथेष्ट विकास हुआ । राज्य अधिकारी लोकहित के लिए साम्राज्य का भ्रमण किया करते थे । व्यापारी सार्थवाह के नेतृत्व में लम्बी–लम्बी यात्राएं करते थे । मार्गों में स्थान–स्थान पर व्यापारियों के लिए विश्राम स्थल तथा कुएं बने हुए थे । उत्तर पथ का मार्ग प्रमुख तथा प्रचलित व्यापार मार्ग था जो ताम्रलिप्ति तक जुड़ा हुआ था । व्यापार मार्गों पर बैलगाड़ी तथा पशुओं की सहायता से माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता था । राज्य के अधिकारी व्यापारियों से वर्तनी नामक सड़क पर लेते थे तथा इसके बदले में वे चोर–डकैतों से उनकी सुरक्षा करते थे । मौर्ययुग में ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह आन्तरिक व्यापार का भी प्रमुख केन्द्र ज्ञात होता है । विदिशा, उज्जयिनी, भृगुकच्छ इस समय प्रमुख व्यापार केन्द्र के रूप में कार्यरत थे । शुंग सातवाहन युग में भी भारतीय व्यापार में महत्वपूर्ण प्रगति हुई । वणिक पंथों के विस्तार से दक्षिण तथा उत्तर के प्रमुख व्यापार केन्द्र जुड़ गए । कुषाणकालीन व्यापार में प्रगति के संकेत ज्ञात होते है। इनके राज्य से उत्तरापक्ष एवं रेशम मार्ग गुजरते थे । इस समय के प्रमुख व्यापार स्थलों में तक्षशिला, पुरुषपुर, पुष्कलावती, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, पाटलीपुत्र, वैशाली आदि ज्ञात होते है । पेरिप्लस एक अनुभवी नाविक द्वारा रचित संदर्भ से ही भारत के आन्तरिक व्यापार के बारे में जानकारी प्राप्त होती है ।

गुप्तयुगीन आन्तरिक व्यापार संगठित रूप में ज्ञात होता है । सार्थ व्यापार के लिए होने वाली यात्रायें थी । साथ में पांच प्रकार के लोग होते थे जो सार्थवाह के नेतृत्व में व्यापार करते थे । इस समय प्रमुख रूप से अन्न, वस्त्र, मसाले, खनिज धातु आदि का व्यापार होता था । दक्षिण भारत से मसाले, चन्दन की लकड़ी, स्वर्ण, रत्न आदि उत्तर भारत में विक्रय के लिए आती थी । इस युग में बाजार को 'विपणि'' नाम से जाना जाता था । पण्यवीथी के दोनों और दुकानें रहती थी । भीटा उत्खनन के प्रमाण भी गुप्त युग में सड़कों के दोनों ओर दुकानें होने की जानकारी देता है ।

रघुवंश तथा अमरकोश से भी इस समय के आन्तरिक व्यापार की जानकारी प्राप्त होती है । गुप्तकाल के प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में भड़ौंच, उज्जयिनी, पैठन, विदिशा, प्रयाग, बनारस, गया, वैशाली, ताम्रलिपि, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्रा आदि थे । स्मृतियों के संदर्भ व्यापारियों के संबंध की जानकारी देते है । गुप्तकाल में आन्तरिक व्यापार विकास में स्थल व्यापारिक पथों का महत्वपूर्ण स्थान ज्ञात होता है । प्रयाग–प्रशस्ति तथा उदयगिरि गुहा–अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस काल में सुव्यवस्थित स्थल मार्गों का अस्तित्व था जो आन्तरिक व्यापार विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे । चीनी यात्री फाहियान के सन्दर्भ यह उल्लेख करते है कि पश्चिम भारत से पूर्वी भारत तक सुरक्षित मार्गों का अस्तित्व था । आन्तरिक व्यापार में जल मार्गों के रूप में नदियों का प्रयोग किया जाता था । मोतीचन्द्र ने 'ट्रेड एण्ड ट्रेड रूट्स इन एंश्येंट इण्डिया ' में गुप्तयुगीन व्यापार केन्द्र तथा मार्गों के बारे में महत्वपूर्ण संदर्भ उल्लेख किए है । पूर्व मध्य युग में आंतरिक व्यापार उन्नत अवस्था में ज्ञात होता है । थानेश्वर प्रसिद्ध व्यापार केन्द्र था । इसके संदर्भ युवान च्यांग द्वारा भी प्राप्त होते है । वहां के व्यापारी विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे । मथुरा, वाराणसी भी प्रमुख आंतरिक व्यापार के स्थल थे । दूर–दूर के व्यापारी नगरों में क्रय–विक्रय के लिए आते थे । बाजार (हट्ट) में मार्ग के दोनों ओर दुकानें होती थी । दामोदरपुर–ताम्रपत्र के अनुसार पूर्व मध्य युग में बाजार के लिए भूमि क्रय करने की जानकारी होती है । मेधातिथि ने उल्लेख किया– है कि वैश्य आन्तरिक व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे । व्यापारियों को विभिन्न प्रदेशों की भाषाओं का ज्ञान रखना होता था । समराइच्चकहा तथा कथासरित्सागर में उल्लेख मिलता है कि व्यापारी विभिन्न स्थानों की यात्राएं करते थे । कुवलयमाला यह जानकारी देती है कि उत्तर और दक्षिण के व्यापारियों के मध्य क्रय–विक्रय होता था । आन्तरिक व्यापार में विभिन्न सुगंधित वस्तुओं का क्रय–विक्रय भी होता था । राजमार्ग पर व्यापारिक गतिविधियों का संचालन होता था । सोमदेव ने उल्लेख किया है कि बड़ी व्यापारिक स्थल पेण्ठा स्थान कहलाते थे जहां विभिन्न स्थानों के व्यापारी आकर व्यापार करते थे । पेण्डास्थान पर व्यापार करने वाले व्यापारियों से राजकीय कर भी लिया जाता था । नीतिवाक्यामृत से यह संदर्भ प्राप्त होता है कि यदि किसी व्यापारी का माल पेण्ठास्थान से चोरी हो जाय तो इसकी पूर्ति राजकोष से करनी चाहिए । पूर्वमध्य युग में धातु, चमड़े, रत्न, सोना चांदी, वस्त्र व्यापार उन्नत अवस्था में था । सुरक्षा के कारण समूह में व्यापारी यात्रा करते थे । तिलकमंजरी, भविसयत्तकल और त्रिपष्ठिशलाकापुरुषचरित में इस बारे में उल्लेख मिलते है । पूर्वमध्य काल के उत्तरार्द्ध में आन्तरिक व्यापार विकसित अवस्था में

ज्ञात होता है । प्रबन्धकोष से ज्ञात होता है कि राज्य द्वारा व्यापारियों के समूहों को सुरक्षा प्रदान होती थी । क्रय–विक्रय के लिए वस्तुऐं "आपण" में आती थी । हेमचन्द्र ने क्रय–विक्रय के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग किया है । व्यापार के अनुसार व्यापारियों के वर्ग बने हुए थे जैसे प्रस्तारिक, सांस्थानिक तथा कठिनान्तिक । पूर्वमध्ययुगीन अभिलेखों से भी इस समय के व्यापार के बारे में जानकारी प्राप्त होती है । राजस्थान में अहाड़ (उदयपुर) से प्राप्त अभिलेख जो 953 ई. का है से जानकारी मिलती है कि वहां पर कर्णाट, मध्यदेश, लाट और अक्क प्रदेशों के वाणिक व्यापार के लिए आते थे । पेहोआ (कबांल) अभिलेख तथा मंगरोल अभिलेख (कठियावाड़) भी समकालीन व्यापार को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण जानकारी देते है । अरब यात्रियों ने भी पूर्वमध्ययुगीन आंतरिक व्यापार के बारे में उल्लेख किए है । अलबरूनी पशुओं के व्यापारी का उल्लेख करते है । इस समय कन्नौज प्रमुख नगर था तथा देश में आन्तरिक व्यापार के लिए अनेक मार्गों का अस्तित्व था जिनके माध्यम से विविध वस्तुओं को सुदूरवर्ती नगरों तक पहुंचाया जाता था ।

कांचीवरम, कामरूप, वनवासी, धार, उज्जैन, मन्दगिरि, अनहिलपाटन, भटिण्डा, पानीपत, ताम्रलिप्ति आदि प्रमुख व्यापार केन्द्र थे । हेमचन्द्र ने अनेक वाणिज्य पथों का उल्लेख किया है । शं:कुपथ, आन्तार पथ, स्थल पथ, अज पथ तथा वरि पथ श्रेणियों के विभाजन थे । आन्तरिक व्यापार में जलमार्ग के रूप में नदियों के उपयोग की जानकारी प्राप्त होती है ।

9.3 वृत्ति संघ का उद्भव

प्राचीन भारत में संगठित व्यापारिक समूहों का आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । संगठित व्यापारिक समूह, संघ कुल, सार्थ, श्रेणी, नैगम, तथा पूग आदि नामों से जाने जाते थे । ये संगठन मूलत: समान व्यवसाय करने वालों के समूह थे । व्यवसाय और शिल्प के आनुवांशिक होने के कारण इन संघों का अपने व्यवसायों पर एकाधिकार हो गया । ये संस्थाएं क्रमश: शक्तिशाली होती चली गयी । इनका कार्यक्षेत्र आर्थिक के साथ–साथ सांस्कृतिक तथा सामाजिक भी होता चला गया । सैंधव सभ्यता, उत्खननों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि सैंधवजन व्यापारिक दृष्टि से उन्नत अवस्था में थे, उनके आर्थिक संगठन व वृत्ति संघ का स्वरूप कैसा था, ज्ञात नहीं होता है । भारत में निगमित जीवन का आरंभ पूर्व वैदिक युग में था । ऋग्वेद में उल्लेखित गुण और व्रात शब्द संघात्मक गतिविधियों के सूचक है ।

9.3.1 सैंधव व वैदिक काल

आर. सी. मजूमदार और आर. के. मुखर्जी का अभिमत है कि वैदिक काल में आर्थिक क्षेत्र में संगठन की प्रवृत्ति विद्यमान थी। वैदिक साहित्य में पणि जैसे व्यापारियों का उल्लेख प्राप्त होता है। साथ ही श्रेष्ठी और गण शब्द के प्रयोग भी प्राप्त होते है। रॉथ के अनुसार गण शब्द का प्रयोग वृत्ति संघ के अर्थ में किया गया है। आर.के. मुखर्जी के अनुसार वैदिक साहित्य में श्रेष्ठिन् तथा श्रेष्ठ्य शब्द का प्रयोग श्रेणी के प्रमुख के लिए हुआ है। वैदिक काल में पणियों

का आर्थिक क्षेत्र में अस्तित्व रहा होगा। इसके विपरीत डी.डी. कौशाम्बी, आर.एस. शर्मा, रोमिला थापर आदि का मत है कि वैदिक काल में व्यापार–संघ अस्तित्व में नहीं आये थे।

छठी शताब्दी ई.पू. का आर्थिक जीवन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि धातु के रूप में लौहे का प्रयोग अधिक होने लगा था इसके कारण उद्योग और व्यापार में वृद्धि हो गयी। परिणामस्वरूप परिवर्तित एवं परिवर्धित व्यवस्था के लिए व्यापार–संगठनों की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि इस काल में व्यापार को संचालित करने तथा सुरक्षा हेतु श्रेणियों का संगठन हुआ। आर.सी. मजूमदार ने इस संबंध में उल्लेख किया है कि समान व्यापार या उद्योग करने वाले व्यापारियों का संगठन श्रेणी कहलाता था। राज्य के सहयोग को इन संगठनों ने अधिक महत्व नहीं दिया। ऐसा इस कारण हुआ कि उन्हें राज्य के हस्तक्षेप का भय था। जातकों में ऐसे संगठन की अठारह श्रेणियों का उल्लेख है विभिन्न विद्वानों ने इस संख्या को प्रमाणिक नहीं माना है। शायद अठारह शब्द परंपरानुसार बहुत्व का सूचक रहा होगा। क्योंकि श्रेणियों के नामों की संख्या विभिन्न प्रमाणों द्वारा इससे भी अधिक मिलती है। इन श्रेणियों के व्यवसाय पैतृक हो गये थे तथा नगर में स्थान विशेष पर बसने के कारण इनका स्थानीयकरण भी हो गया था।

जिन श्रेणियों का उल्लेख प्राप्त होता है वे थी – (1) सोना–चांदी धातु का काम करने वाले (2) पत्थर का काम करने वाले (3) पनचक्की चलाने वाले (4) लकड़ी का काम करने वाले (5) दन्तकार (6) चर्मकार (7) बांस का काम करने वाले (8) बुनकर (9) कुम्हार (1०) कसकर (11) तिलपिषक (12) धान्य के व्यापारी (13) कृषक (14) मालाकार (15) रंगरेज (16) चित्रकार (17) डलिया बनाने वाले (18) नाविक (19) चरवाहे (20) कसाई (21) नाई (22) सार्थ व्यापारी (23) डाकू तथा लुटेरे (24) वन आरक्षी (25) रत्नकार (26) मछुए तथा (27) महाजन।

इनमें महाजनों की श्रेणी महत्वपूर्ण थी। ये सेठ कहलाते थे। नाविकों की श्रेणी का प्रमुख नियामक जेट्ठ कहलाता था। जातकों से यह भी ज्ञात होता है कि कई श्रेणियां अस्थायी होती थी। ब्राह्मण ग्रंथों (ई.पू. छठी शताब्दी के लगभग) में भी हमें व्यापारिक श्रेणियों के उल्लेख मिलते है। गौतम धर्म सूत्र कृषकों, व्यापारियों, चरवाहों, शिल्पियों और महाजनों को अपने–अपने समूह के लिए नियम बनाने का अधिकार देता है। साथ ही हमें यह जानकारी भी प्राप्त होती है कि राजा किसी भी श्रेणी के विषय में निर्णय करते समय या मतभेदों के समय अपना निर्णय श्रेणी के आधिकारिक लोगों से वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त कर देता था। डॉ. आर.एस. शर्मा ने जातक कथाओं के आधार पर राजकीय शोभा यात्रा में अठारह शिल्प श्रेणियों के शामिल होने के संदर्भ दिये है तथा इस कारण वे राजा का उनके ऊपर किसी न किसी प्रकार का नियंत्रण मानते है। शायद भाण्डागारिक नामक अधिकारी ऐसी श्रेणियों की देखरेख करता था। व्यापारियों और महाजनों के प्राधिकृत संघ चांदी के पण जारी करते भी ज्ञात होते हैं ।

9.3.2 मौर्यकाल

मौर्य काल में आर्थिक; गतिविधियों का अभूतपूर्व विस्तार हुआ । डॉ. आर एस. शर्मा ने उल्लेख किया है कि मौर्य काल में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का तेजी से विकास न हुआ इस समय

उद्योग और व्यापार का अधिकाधिक केन्द्रीयकरण हो गया परन्तु इनके संगठनों और सुविधाओं की मान्यता बरकरार रही । कौटिल्य ने शिल्पकारों के समूह को श्रेणी कहा है । साथ ही वे कृषि, व्यापार और सैन्य कर्म करने वाले लोगों के सहकारी संस्था की श्रेणी का भी उल्लेख करते है । अर्थशास्त्र में संदर्भ मिलते है कि श्रेणियों की रूढ़ियों और नियमों की जानकारी प्राप्त कर उनका राजकीय विवरण रखा जाना चाहिये । इस समय लेखाध्यक्ष नियमित रूप से निगमों की प्रथाओं, व्यवसाय तथा व्यापार आदि के विवरण का लेख रखता था । निगम नामक व्यापारियों की संस्था के संबंध में इस समय के मुद्रा शास्त्रीय प्रमाण भी उपलब्ध हुए है । अर्थशास्त्र में श्रेणीबल का उल्लेख भी किया गया है । कौटिल्य राजा को इस बात की सलाह भी देता है कि राजा को अन्य किसी लाभ की तुलना में इनसे मित्रता रखना हितकर है जो संघ एवं श्रेणियां शक्तिशाली हो., राजा को उनका आदर करना चाहिए, मगर कमजोर संस्थाओं को उसे अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा नष्ट कर देना चाहिये । यदि उसकी आर्थिक स्थिति खराब हो तो वह उनकी संपत्ति को कोई बहाना लेकर हड़प सकता था । कोटिल्य श्रेणियों पर राज्य के नियंत्रण को स्वीकार करते है तथा कहते है कि इसका उपयोग राजा अपने राजनैतिक हितों की रक्षा करने के लिए भी कर सकता था । अपने ग्रंथ 'सार्थवाह' में डॉ. मोतीचन्द्र ने उल्लेख किया है कि मौर्य युग में व्यापार की उन्नति के लिए कारीगरों और व्यापारियों का नियमन आवश्यक था । इस समय कारीगरों की श्रेणियां कुछ रकम अपना भला चाहने वालों और नक्काशों के पास जमा करा देती थी ताकि वह रकम जरूरत होने पर उन्हें लौटायी जा सके । पुरातात्विक साक्ष्य तथा यूनानी इतिहासकार एरियन के संदर्भ नगरों की संख्या अधिक होने के संकेत देते है । यह नगर प्रमुख बाजारों के रूप में आर्थिक विकास में योगदान देते थे जहां व्यापारिक संघ के अस्तित्व को सहज स्वीकार किया जा सकता है । इस प्रकार मौर्य युग में श्रेणी की परम्पराओं को मानने को दायित्व उच्च नैतिक मान्यता से युक्त था । ई. पू. दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में मौर्य साम्राज्य के पतन से भारतीय व्यापार के साथ, संभव है, इन वृत्ति–संघों के विकास की गति भी प्रभावित हुई होगी ।

वृत्ति संघ विकास की अगली ई. पू. चौथी शताब्दी में देखी जा सकती है । स्मृतियों में इस बारे में महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते है । मनुस्मृति में संघ या श्रेणी के सदस्य से यह अपेक्षा की गई है कि वह व्यापारिक संघ के नियमों का पालन करे । याज्ञवल्कय ने उल्लेख किया है संघ सामूहिक सम्पत्ति रख सकता है । इसी प्रकार के संदर्भ विष्णु स्मृति में भी मिलते है । इससे ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ई. पू. में श्रेणी आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हो चुकी थी ।

9.3.3 मौर्योत्तर काल

कुषाण–शक – सातवाहन युग में भी वृत्ति संघ व्यवस्था का संचालन सुचारू रूप से संचालित होता रहा । प्रजा जन इन वृत्तिसंघों पर पूर्ण विश्वास करते थे । श्रेणी संगठन के बारे में इस काल के अभिलेखीय प्रमाण भी मिलते है । सदस्यगण श्रेणी–प्रमुख के आदेशों के अनुरूप कार्य करते थे । कुम्हारों, तेलियों तथा बुनकरों के वृत्तिसंघों में पण नामक चांदी की मुद्रा जमा कराई जाती थी । मथुरा से प्राप्त हुविष्क का 106 ई. का एक अभिलेख आटा पीसने वालों तथा

अन्य श्रेणियों में अक्षय दान नियमित ब्याज दर पर जमा कराने की जानकारी देता है । नासिक गुहालेख से ज्ञात होता है कि 120 ई. में नहपान के जमाता उषवदात ने गोवर्धन स्थित जुलाहों की एक श्रेणी में 2000 कार्षापण 12 प्रतिशत ब्याज दर पर तथा दूसरी में 1000 कार्षापण 9 प्रतिशत ब्याज दर पर जमा कराये थे । राजा ईश्वरसेन के 9वें वर्ष का अर्थात तीसरी शताब्दी का नासिक गुहा–अभिलेख यह जानकारी देता है कि इस समय कुम्हारों, यांत्रिकों, तेलियों के वृत्तिसंघों का अस्तित्व था जिनमें धन जमा किया जाता था तथा प्राप्त ब्याज से संघाराम में निवास करने वाले बौद्ध भिक्षुओं के लिए औषध आदि की व्यवस्था की जाती थी ।

इन संदर्भों से यह ज्ञात होता है कि ईस्वी सन के शीघ्र बाद ही विभिन्न श्रेणी संगठन आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण अंग के रूप में विकसित हो गये थे तथा उनके अधिकारों को राज्य शासन द्वारा स्वीकार भी किया जाता था। इस प्रकार से ये स्वायत्त संस्थाएं बनी हुई थी । महावस्तु में परम्परागत अठारह शिल्प–श्रेणियों के साथ अन्यों के उल्लेख भी मिलते है जो अपने प्रमुख की देखरेख में काम करती थी । आर. एस. शर्मा के अनुसार अनेक शिल्पी ऐसे थे जो उत्पादक और छोटे व्यापारी दोनों के ही रूप में कार्य करते थे । डॉ. मोतीचन्द्र ने महावस्तु के आधार पर कपिलवस्तु की श्रेणियों का उल्लेख करते हुए सौवर्णिक, प्रवरिक, शांखिक, दन्तकार, मणिकार, प्रास्तरिक कौशाविक, धृतकुणिक, गौलिक, वारिक, कार्पासिक, दध्यिक, पूपिक, खण्डकारक, मोदकारक, कण्डुक, समितकारक, सस्तुकारक, फलवणिज, मूलवणिज, चुर्णकुटु–गन्ध तैलिक, गुड़पाचक, सीधुकारक आदि का उल्लेख किया है।

दक्षिण भारत तथा रोम के मध्य व्यापार विकास के प्रमाण कुषाणयुग में स्पष्ट ज्ञात होते है । रोमवासी जिन वस्तुओं का आयात करते थे वे सभी संगठित व्यापार के अंग थे । डॉ. आर एस. शर्मा ने उल्लेख किया है कि ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में बड़ी संख्या में ऐसे नगर थे जो वाणिज्य और दस्तकारी के केन्द्र थे और जहां पर वृत्ति संघों के अस्तित्व को भी सहज ही स्वीकार किया जाता रहा था ।

9.3.4 गुप्तकाल

इस काल में भी वृत्ति संघ शक्तिशाली स्वरूप में गठित थे । उद्योग तथा व्यापार विकसित अवस्था में था । इस समय पश्चिम देशों विशेषकर रोम के साथ वाणिज्य अधिक होता था । वृहत्त कल्पसूत्र भाष्य के अनुसार गुप्तकाल में निगम का महत्वपूर्ण स्थान था । निगम दो तरह के होते थे – एक महाजनी का कार्य करता था तथा दूसरा महाजनी के अतिरिक्त अन्य काम भी करते थे । इस समय श्रेणियों को विशेष अधिकारी प्राप्त थे । इनके नियम राज्य द्वारा पूर्ववत मान्य होते थे । सदस्यों के आपसी मामलों का निर्णय भी उनके संगठन द्वारा किया जाता था । नारद–स्मृति में उल्लेख किया गया है कि संघ के सदस्यों के मध्य फूट डालने वालों को कड़ी सजा देना चाहिए तथा राजा को चाहिए कि वह श्रेणी तथा अन्य वृत्तिसंघों के नियमों को मान्यता प्रदान करे. जो भी कानून, कर्तव्य, उपस्थिति आदि के नियम तथा जीवन–निर्वाह की विशेष परंपरा हो उन्हें राजा स्वीकार करे । वृत्तिसंघों को अपने सदस्यों पर इस समय न्यायिक शक्ति भी प्राप्त थी इन संघों के अपने न्यायालय भी होते थे । वृत्तिसंघ

की कार्यपालिका सभा में अध्यक्ष का पद होता था जिसकी सहायता के लिए 2, 3 या 5 सदस्य होते थे । बृहस्पति स्मृति में उल्लेख है कि श्रेणी न्यायालय के समान कार्य करती थी । कालिदास ने वृत्तिसंघ द्वारा बैंक समान कार्य करने के संदर्भ दिये है ।

श्रेणी की भांति पूग और नैगम भी गुप्तकाल में उन्नत स्थिति में थे । पुरातात्विक प्रमाणों से भी हमें इस युग की वृत्तिसंघ व्यवस्था के बारे में जानकारी मिलती है । बसाढ़ उत्खनन से महाजनों, व्यापारियों और सार्थवाह के संयुक्त वृत्तिसंघ की दो सौ चौहत्तर सीलें प्राप्त हुई है । सीलों पर महाजनों, व्यापारियों तथा वणिकों के निगम या संघों के निर्देश अंकित है । इन लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वणिकों और शिल्पियों के संघ वाणिज्यिक कारोबार के लिए बनाये गये थे । उत्तरी भारतवर्ष के अनेक व्यापारिक नगरों में इनकी शाखाएं तथा सदस्य थे । ईशानदास, मृतदास और गगोमिस्वामिन से संबंधित सीलों की संख्या अधिक है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे वृत्तिसंघ, व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे । कुमारगुप्त और बुधगुप्त के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कोटिवर्ष विषय का राज्यपाल वैत्रवर्मन एक समिति, जिसके सदस्य नगर श्रेष्ठि,सार्थवाह प्रथम कुलिक आदि होते थे, की सहायता से राज्य करता था । गुप्तकाल में श्रेणियों में धन जमा कराया जाता था । स्कंधगुप्त का 465 ई. के इंदौर ताम्रपत्र लेख में इन्द्रपुर की तैलिक श्रेणी में धन जमा कराने के संदर्भ मिलते है जिसके ब्याज से सूर्य मंदिर में दीपक जलाने हेतु तेल की व्यवस्था की गई थी ।

कुमारगुप्त प्रथम के समय के मन्दसौर लेख से ज्ञात होता है कि लाट देश से आकर दशपुर में बसे रेशम बुनकरों की श्रेणी ने 436 ई. में वहां सूर्य का विशाल मंदिर बनवाया था । इस मंदिर की मरम्मत भी इसी श्रेणी द्वारा 472 ई. में कराने की जानकारी भी मिलती है । विष्णुषेण के सन् 592 के एक लेख से भी पश्चिम भारत में राजा तथा व्यापारियों के संबंधों पर जानकारी मिलती है । कुम्हार से प्राप्त एक सील से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में तमोलियों का वृत्तिसंघ भी था । इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल के आर्थिक जीवन में श्रेणियां इतनी सक्षम हो गयी थी कि वे राज्य–सत्ता को चुनौती दे सकती थी । अलबत्ता राज्य से यह अपेक्षा रहती थी कि वह उनके अनैतिक व अवांछित कर्मों को प्रतिबंधित करे । इस युग में प्रमुख नगरों में उत्पादन की स्वतंत्र इकाइयों के रूप में वृत्तिसंघ गतिशील बने रहे । गुप्तकाल के अंतिम चरणों में वृत्तिसंघ व्यवस्था में गिरावट के संकेत मिलने लगते है । नगरीय आर्थिक व्यवस्था की अपेक्षा इस समय ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था का पुन: विकास होने लगता है । डॉ. आर एस. शर्मा ने इस संबंध में उल्लेख किया है कि हर्षवर्धन के काल से हम ज्यों–ज्यों आगे बढ़ते है, सिक्कों की संख्या में सामान्यत: और भी कमी आती जाती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सातवीं सदी ई. से व्यापारिक क्षेत्र में कमी आई और नगरीय आर्थिक जीवन क्षीण हो गया । इस स्थिति के लिए वे सामन्त प्रथा के विकास को दोषी ठहराते है ।

9.3.5 पूर्व मध्यकाल

पूर्व मध्यकाल में श्रेणियों आदि वृत्तिसंघों के कमजोर होने के संदर्भ मिलते है । व्यापारिक गतिशीलता में कमी आ गई थी । सामंतवादी व्यवस्था के अत्यधिक विकास के कारण भी आर्थिक परिदृश्य प्रभावित होता जान पड़ता है । श्रेणी जैसे संगठन जातियों में परिणत हो गये तथा उनका आर्थिक उद्देश्य गौण हो गया जो धन पूर्व में प्रजा जन श्रेणियों में जमा करते थे वे मंदिरों में जमा होने लगा । वृत्तिसंघ के संगठनों में गिरावट के कारण सदस्यों के आपसी विवाद राज्य द्वारा हल होने लगे । कथाकोष प्रकरण के लेखक जिनेश्वर सूरी ने स्वर्णकार, कुम्हार, लोहार, धोबी आदि को निम्न वर्ग में माना है । पूर्व मध्ययुगीन साहित्यिक प्रमाणों में वृत्तिसंघों के उल्लेख प्राप्त होते है । याज्ञवल्कय स्मृति की मिताक्षरा टीका के अनुसार वणिकों और शिल्पकारों के संघ कार्यरत थे जो किसी एक वस्तु का विक्रय करते थे । शिला के क्षेत्र में बुनकरों, कुम्हारों, मालियों तथा दस्तकारों की श्रेणियां थी जो अपने नियम बनाकर सदस्यों पर लागू करती थी । स्मृति चंद्रिका से भी यह उल्लेख प्राप्त होता है कि श्रेणियों को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था । उनके कानून का उल्लंघन करने वाला सदस्य दण्ड का अधिकारी होता था । इस समय यह संगठन बाजारों पर नियंत्रण भी करते थे । यदि संगठन के माध्यम से कोई विवाद नहीं सुलझाया जा सकता था जो राजा हस्तक्षेप कर सकता था । लेखपद्धति से ज्ञात होता है कि गुजरात के चालुक्यों के राज्य में श्रेणियों की देखरेख के लिए पृथक विभाग था । मनुस्मृति के दसवीं शताब्दी के एक टीकाकार ने शिल्पियों, व्यापारियों, साहूकारों और सारथियों के संघों का उल्लेख किया है । अलबरूनी ने बहेलियों, चर्मकार, ऐन्द्रजालिकों, टोकरी और ढाल बनाने वालों के संदर्भ दिये है और लिखा है कि उनका अपना वृत्तिसंघ होता था ।

इस काल के अभिलेखों से भी हमें श्रेणियों के संदर्भ मिलते है । 877 ई. के ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि मंदिर के लिए तैलिक श्रेणी ने तेल और मालिक श्रेणी ने माला प्रदान करने की स्वीकृति दी थी । सियादोनी अभिलेख से पानवालों, तेलियों तथा पत्थर काटने वालों की श्रेणियों के संबंध में उल्लेख प्राप्त होते है । शेरगढ़ में भी तेलियों की एक श्रेणी का अस्तित्व 1028 ई. के अभिलेख से ज्ञात होता है जिसमें सोमनाथ के मंदिर के लिए दान दिया था । पेहोवा, करीतलाई, देवपारा आदि स्थानों से प्राप्त अभिलेखों से पूर्व मध्ययुग के वृत्तिसंघों के बारे में जानकारी मिलती है ।

उत्तर भारत की ही भांति दक्षिण भारत में भी हमें व्यापारियों और शिल्पियों की वृत्तिसंघ व्यवस्था के संबंध में उल्लेख प्राप्त होते है । आठवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में तांबे और कांसे का काम करने वाली श्रेणियों की जानकारी मिलती है ।ये संगठन बैंक के समान कार्य करते ज्ञात होते है। चालुक्य नरेश कृष्ण द्वितीय के मूलगुण्ड अभिलेख में श्रेणियों के 4 अध्यक्षों द्वारा जो 360 गांवों के दान का उल्लेख मिलता है । 1110 ई. का एक अभिलेख अनेक श्रेणियों के द्वारा संयुक्त रूप में दान देने की जानकारी देता है । चालुक्य विक्रमादित्य छठे का निलगुण्डी अभिलेख 505 व्यापारियों के एक निगम द्वारा धार्मिक कार्यों के लिए दान देने का उल्लेख करता है । तिरूमुरूगनपुण्डि का एक मंदिर अभिलेख विक्रम चोल के समय की

वृत्तिसंघ व्यवस्था पर प्रकाश डालता है । पश्चिमी चालुक्य नरेश जगदेकमल्ल का 1178 ई। का एक अभिलेख ऐहोल में 500 व्यापारियों के संघ की जानकारी देता है । दसवीं से बारहवीं सदी के अभिलेखों में 'नानादेशतिशैयारतु ऐन्नुर्रूवर ' नामक व्यापारिक संगठन की जानकारी मिलती है । जिसके सदस्य विभिन्न वर्णों के होते थे । मणिग्रायम, अंजुवण्णं आदि व्यापारिक निगम भी तेरहवीं सदी तक दक्षिण भारत के आर्थिक क्षेत्र में कार्यरत रहे ज्ञात होते है ।

9.4 प्राचीन भारत की व्यापारिक वस्तुएं

भारत के आर्थिक इतिहास का प्रारम्भ लगभग 2500 ई। पू. से देखा जा सकता है । सैंधव सभ्यता के आर्थिक जीवन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य ने अपने आर्थिक जीवन के लिए विभिन्न व्यापारिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

9.4.1 सैंधव सभ्यता

कांसे के बर्तन तथा भंडारण के अस्तित्व से यह ज्ञात होता है कि इस काल में धातु तथा कई अन्य व्यापारिक वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से प्राप्त रत्नों और धातुओं से यह संकेत मिलते है कि वहां बलूचिस्तान से सेलखड़ी, अलबास्टर और स्टेटाइट, अफगानिस्तान से चांदी, ईरान से शीशा, रांगा और फिरोजा तथा फारस की खाड़ी से हेमेटाइट आता था ।

सैंधव सभ्यता के प्रमाणों से अन्न–भंडारों के अस्तित्व का ज्ञान तो होता है, यद्यपि अनाज के व्यापार का कोई साक्ष्य हमारे पास नहीं है, फिर भी इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस काल में वस्तु–विनिमय प्रथा के कारण इसका प्रयोग व्यापारिक वस्तु के रूप में होता रहा होगा । इसी प्रकार कपास भी इस समय की एक व्यापारिक वस्तु ज्ञात होती है । राजस्थान इस काल में तांबा–उत्पादक क्षेत्र रहा माना जाता है । राजस्थान के सीकर क्षेत्र से प्राप्त ताम्र–कुठार हड़प्पाई कुठार जैसी है । वाणिज्य के क्षेत्र में हड़प्पा संस्कृति का सम्बन्ध पश्चिम की ओर अधिक ज्ञात होता है । सुमेरियाई प्रमाणों में यह उल्लेख आते है कि सोना, हाथी दांत, गोमेध, वैदूर्य, पशु–पक्षी तथा इमारती लकड़ी भारत के पश्चिमी क्षेत्र से आती थी । ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव सभ्यता के लोग अफगानिस्तान के समीप मध्य एशिया के सीमांत प्रदेश के साथ कुछ वस्तुओं का व्यापार करते थे । सैंधव सभ्यता का विदेश–व्यापार विलासिता तथा प्रतिष्ठा की वस्तुओं तक सीमित माना जा सकता है ।

9.4.2 वैदिक काल

वैदिक काल के प्रारम्भ में व्यापार का जो स्वरूप दिखलाई देता है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यजन प्रारम्भ में उत्पादन और वाणिज्य के प्रति अधिक सजग नहीं थे । यह उद्योग तथा व्यवसायों का प्रारम्भिक युग था । ऋग्वेद के अंतिम अंशों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक जन कृषि–कार्य करने में दक्ष थे । उनके सहयोगी दस्तकारों जैसे चर्मकार, रथकार और अयस्कार (धातु के काम करने वाले) का आर्थिक जीवन में महत्व था । ऋग्वेद में वाणिज्य करने वाले को पणि और वणिक कहा गया है । पदार्थों के आदान–प्रदान के संदर्भ भी

मिलते है । ऐसा प्रतीत होता है कि गाय–बैल, घोड़े, अन्न, कृषि योग्य भूमि और पानी वस्तु–विनिमय के माध्यम थे । फिर भी ऋग्वैदिक काल के विनिमय का वितरण का स्वरूप पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं किया जा सकता । व्यापार के लिए अधिशेष उत्पादन की आवश्यकता इस समय तक नहीं थी । पशुपालन कृषि की तुलना में अधिक श्रेष्ठ कर्म था तथा गायें आमतौर पर विनिमय का माध्यम थीं । इस तथ्य से सन्देह नहीं कि वैदिक युग में व्यापारी लम्बी–लम्बी यात्राएं करते थे । पणि इस युग के सर्वाधिक धनी व्यापारी थे ।

9.4.3 उत्तर–वैदिक काल

उत्तर–वैदिक काल में व्यापारिक वस्तुओं की संख्या में वृद्धि के संकेत प्राप्त होते है । अथर्ववेद से इस बात की जानकारी प्राप्त होती है कि दूर्श (ऊनी कपड़ा), पवस(चमडा) आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तु थे । उत्तर–वैदिक काल में ओफिर, स्फटिक, कपास आदि वस्तुएं भारत से पश्चिम देशों में जाती थी । भारतीय चंदन, रत्न, हाथीदांत, बंदर तथा मोर व्यापारिक वस्तुओं के रूप में इस काल में ख्यात थी । विद्वानों की राय है कि भारतीय हाथी असीरिया को हिन्दुकुश मार्ग होकर जाते थे ।

मिट्टी के पात्र बनाने के व्यवसाय उत्तर–वैदिक युग में उन्नत अवस्था में था । अनेक प्रकार के वस्त्रों की जानकारी सूत्र–ग्रंथों से मिलती है । विशेष प्रकार के वस्त्र निर्मित करने के लिए सूत को पानी में गलाया जाता था । आभूषण इस काल में प्रमुख व्यापारिक वस्तु के रूप में ज्ञात होते है ।

9.4.4 प्राक्–मौर्य काल

लगभग 600–322 ई. पू. का काल अर्थ–व्यवस्था के मान से महत्वपूर्ण परिवर्तन का संकेत करता है । लौहयुग के आगमन से आंतरिक एवं दूरस्थ व्यापार का विकास, विस्तृत क्षेत्रों में चावल, ईख तथा कपास की उपज का अतिरिक्त उत्पादन, हस्तशिल्प के माध्यम से नवीन व्यापारिक वस्तुओं का प्रादुर्भाव तथा विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों का विकास संभव हो रहा था । मुद्रा–व्यवस्था के समुचित विकास ने भी इस युग में व्यापारिक वस्तुओं की संख्या में अति उन्नति की थी ।

प्रारम्भिक बौद्ध तथा जैन प्रमाणों में इस समय की व्यापारिक स्थिति के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है । ग्राम तथा नगर में व्यापारी बसते थे और प्रचलित सामान्य वस्तुओं का व्यापार करते थे । जातकों से ज्ञात होता है कि व्यवसाय के अनुरूप वीथियां बनी हुई थीं जहां वस्त्र, रथ, तेल, अन्य, रत्नों व सोना–चाँदी के आभूषण, प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता था। बाबेरू जातक से ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारिक वस्तुओं में मोर का भी प्रमुख स्थान था । अंगुत्तरनिकाय से ज्ञात होता है कि माँस, शराब, अस्त्र तथा दासों का क्रय–विक्रय भी होता था । जातक कथाऐं घोड़े, हाथी, रत्नादि को भी प्रमुख व्यापारिक वस्तु उल्लेखित करती है । घोड़े के व्यापारियों का उल्लेख भी मिलता है । एक व्यापारी द्वारा उत्तरापथ से बनारस 500 घोड़े विक्रय के लिए लाने का संदर्भ भी प्राप्त होता है । एक जातक

कथा से ज्ञात होता है कि बनारस का एक कुम्हार मिट्टी के पात्रों को खच्चर पर लादकर पास के नगरों में उनका विक्रय करता था । दशार्ण के बने बर्तन और हथियार प्रसिद्ध थे ।

जातक कथाओं में गान्धार के लाल कम्बल, शिवि के शाल, पठानकोट क्षेत्र के कोटुम्बर नामक ऊनी वस्त्र आदि के उल्लेख इस तथ्य को प्रकट करते है कि ये इस युग की प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं थी, साथ ही चन्दन का चूर्ण तथा तेल, अगरू, तगर तथा कालियक भी । महाभारत से ज्ञात होता है कि मध्य एशिया से भारत में चंदन, अगरू, सोना तथा चाँदी, रत्न, हीरे तथा मूंगे आते थे । बर्मा, सिंहल तथा बोर्नियो से इनमें से अनेक वस्तुओं का आयात होता था । हेरात से शराब, खारान से हींग, चीन से ऊनी व रेशमी वस्त्र का आयात होता था ।

इस काल में भारत से जो वस्तुएँ पश्चिमी देशों में भेजी जाती थी उनमें रत्न, वस्त्र, हाथीदाँत, चन्दन की लकड़ी, नील, चावल, मसाले और पक्षी मुख्य थे । भारतीय मलमल, शाल–दुशाले तथा जरी के काम वाले बहुमूल्य कपड़े प्रमुखता से निर्यात होते थे । मिश्र की प्राचीन कब्रों से भारतीय नील तथा इमली की लकड़ी के प्रमाण मिले है । टेसिअस (यूनानी यात्री) ने भारतीय तलवारों का ईरान में व्यापार होने का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त धनुष–बाण व भाले भी विदेशी व्यापार की वस्तुएँ थी । पूर्वी भारत में आसाम के घोड़े, शराब तथा हाथीदाँत की मूठें प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं के रूप में प्रचलित थी ।

रामायण में विविध शिल्पों का उल्लेख किया गया है जिनके उत्पादन प्रमुख व्यापारिक वस्तु कहे जा सकते है । बालकाण्ड में कम्बोज वाहलीक और वनायु के घोड़ों की प्रशंसा की गई है ।

अयोध्याकाण्ड में अपरांत, केरल आदि देशों के वणिकों द्वारा रत्नों के व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है ।

अष्टाध्यायी में व्यापार की जिन व्यापारिक वस्तुओं का उल्लेख किया गया है, उनमें लवण, केसर, तगर, गुग्गुल, चन्दन, रेशमी वस्त्र, ऊन तथा उससे बनी वस्तुएँ, कपास, वस्त्र, अजिन, लाख, रोचना, मंजीठ, नील, जंजीरें, खनित्र, मद्य, मैरेय सुरा, मणि, वैदूर्य, स्वर्ण, धनु, बाण, ढाल आदि है । पाणिनि ने इस समय के व्यापारियों के विभिन्न प्रकारों, यथा सांस्थानिक, प्रास्तारिक और काठिनिक का उल्लेख भी किया है ।

प्रास्तारिक व्यापारी खनिज वस्तुओं का व्यापार करते थे जबकि काठिनिक बाँस, बबई व वर्ध आदि का ।

9.4.5 मौर्य काल

मौर्यकाल में व्यापार पर राज्य का नियंत्रण होने लगा था । अर्थशास्त्र के अनुसार व्यापार की विभिन्न वस्तुएँ 'पण्य ' कहलाती थी । क्रय–विक्रय का नियंत्रण पण्याध्यक्ष करता था । साथ ही वह मूल्य सापेक्ष को देखता था । व्यापारिक वस्तुओं के क्रय–विक्रय में राज्य अपनी प्रजा के हित की अवहेलना नही करता था । प्रतिदिन उत्पादित वस्तुओं के विक्रय का संचालन करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि इनका अनुचित व अवैध संग्रह नहीं होने पाये । व्यापारियों के अनुचित लाभ पर राज्य का नियंत्रण रहता था । राज्य द्वारा

निश्चित किये गये मूल्य से ज्यादा मूल्य लेना अपराध था । कौटिल्य इस बारे में उल्लेख करता है कि अगर व्यापारियों द्वारा माल को रोककर उसकी कृत्रिम कमी की जाय और परिस्थितियों का लाभ उठाकर अनुचित मूल्य पर क्रय–विक्रय किया जाय, तो प्रत्येक व्यापारी जो ऐसा कार्य करे, पर एक–एक हजार पण का अर्थ–दण्ड राज्य को लगा देना चाहिए । संस्थाध्यक्ष नामक अधिकारी वस्तुओं के संग्रह और विक्रय की व्यवस्था करता था ।

अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है कि घटिया, कम मूल्य की वस्तु को गुणवत्ता वाली बतलाकर अधिक मूल्य पर बेचना, कृत्रिम रत्नों को बहुमूल्य रत्न के अनुसार दाम पर विक्रय करना आदि अपराधों के लिए व्यापारी पर 54 पण का अर्थ–दण्ड होता था । इसी प्रकार तौल में कमी करने पर तथा खाद्य पदार्थों में मिलावट करने पर 12 पण का अर्थ–दण्ड दिया जाता था ।

मौर्य युग में घोडे, हाथी, पशुओं की खालें, वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, रत्न आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तु थे।

अर्थशास्त्र में पशुओं की खालों का उल्लेख प्राप्त होता है जो उत्तर पश्चिम भारत, मध्य एशिया, चीन, वस्त्र आदि से आती थी । विभिन्न प्रकार की शालें कश्मीर तथा पंजाब की प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं थी । मगध की पत्रोर्णा, बंगाल की दुकूल उत्तम विक्रय–वस्तुएं रही थी । नेपाल क्षेत्र से ऊनी कपड़ों का आयात होता था ।

चीन के रेशमी वस्त्र प्रमुखता से भारत में विक्रय होते थे । भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर सूती कपड़ों का उत्पादन होता था । काशी, मथुरा, कोंकण, कलिंग, कौशाम्बी, बंगाल, महिष्मती आदि इनके प्रमुख व्यापारिक–केन्द्र थे ।

मौर्य काल में रत्नों का व्यापार प्रमुखता से होता था जो भारतीय क्षेत्रों तथा विदेशी भूभागों की आवश्यकता की पूर्ति करता था । उत्तम कोटि के हीरे विदर्भ, मध्यप्रदेश, दक्षिण कौशल, गोलकुण्डा तथा कलिंग क्षेत्रों से उत्पादित होकर विक्रय के लिये विपणियों में आते थे । बिल्लौर विंध्य पर्वत क्षेत्र तथा मलाबार से उत्पादित होता था । सिंहल, ईरान तथा बर्बर के समुद्रतट, फारस की खाड़ी आदि से मोती भारत में आते थे जो उस समय की एक प्रमुख व्यापारिक वस्तु थे । माणिक, मूँगा आदि भी आयात होकर भारत की व्यापारिक मांग की पूर्ति करते थे । चंदन व अगर आदि की लकड़ी का भी इस युग में भारी मात्रा में क्रय–विक्रय होता था ।

मौर्यकालीन पशु व्यापार में घोड़ों का क्रय–विक्रय का प्रमुख स्थान था । दक्षिण व उत्तरापथ में घोड़ों का व्यापार विकसित अवस्था में था । कम्बोज, सिंधु, वनायुज, बल्ख तथा सौवीर के घोड़े प्रमुखता से विक्रय होते थे ।

कौटिल्य ने चीन में निर्मित चीनपट्ट के आयात का उल्लेख किया है । मौर्ययुग में राज्य को हानि पहुंचाने वाली वस्तुओं का आयात निषिद्ध था । ऐसा अनुमान किया जाता है कि सीरिया–नरेश एंटिओकस से अंजीर, मदिरा और एक दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की गई थी । अशोक के दूसरे शिलालेख से भारतीय औषधियां विदेश भेजने की जानकारी मिलती है । एथेमिअस नामक यूनानी लेखक के विवरण से ज्ञात होता है कि भारतीय नारियां, पशु आदि

मिश्र के शासक टालेमी फिलाडल्पस द्वितीय के यहां उपहार में भेजे गये थे । भारतीय मसाले मिश्र में प्रमुख रूप से बेचे जाते थे । स्ट्रेबो के अनुसार मियास बन्दरगाह भारतीय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था ।

9.4.6 मौर्योत्तर काल

इटली की अंगूरी मदिरा तथा अरब की खजूरी शराब भड़ोंच आती थी । अरब तथा पूर्व अफ्रीका से लोबान आयात होता था । द्रव तुरूष्टक भी भरूकच्छ के रास्ते, औषधियों के लिए आता था । औषधियों के पौधे तथा चमकीले रंग भी भारत में आयात होते थे । अंत: पुर के लिये यवन–बालाओं का भी आयात होता था । पेरिप्लस के अनुसार संगीतज्ञ, रूपवती दास–कुमारियाँ, बेरीगाजा के बाजार में विक्रय के लिए आती थी । पुरातात्विक प्रमाणों से भारतीय भूभाग में विक्रय होने वाली वस्तुओं की जानकारी प्राप्त होती है । इसी प्रकार इस युग की आयात की वस्तुओं में वस्त्र, रेशमी परिधान, जरीदार सूती वस्त्र, पादर्शक पत्थर, ताँबा, लोहा, पुखराज, मूंगा, संगीत–वाद्य, मिट्टी के पात्र आदि प्रमुख थे ।

ईसा की पहली और दूसरी शताब्दी में उत्तर भारत में कुषाण और दक्षिण में सातवाहन राज्य करते थे । इस समय भारत की व्यापारिक वस्तुओं का पश्चिमी देशों, विशेषकर रोम में प्रमुखता से विक्रय होता था । भारतीय पशु–पक्षी स्थल–मार्ग से रोम ले जाये जाते थे । प्रो. रोस्तोवत्जेफ के अनुसार भारतीय पशु–पक्षियों के प्रति रोमनों में भारी आकर्षण था ।

यूनानी इतिहास–लेखकों से ज्ञात होता है कि भारत से चीते, कपि, भैंसे, ऊँट, गैंडे तथा हाथी ईरान, अफ्रीका तथा रोम को भेजे जाते थे । निर्यात की प्रमुख वस्तुओं में हाथीदाँत, कछुए की खाल, मसाले, गोंद ,राल, पन्ना, नील, जटामांसी, चीनीमिट्टी, सुपारी आदि थीं । दूरस्थ सागर की परिक्रमा (पेरिप्लस) में विभिन्न बंदरगाहों, बाजारों, नगरों आदि में होने वाले आयात–निर्यात का उल्लेख प्राप्त होता है । टेसिअस ने भारत के तोते बड़ी संख्या में पश्चिम में भेजे जाने का उल्लेख किया है । शीशम, चंदन, औषधियों के पौधे आदि मिश्र तथा रोम को भारत से निर्यात किये जाते थे ।

फल–फूल के रूप में निर्यात होने वाली भारतीय वस्तुओं में केले, बेर, नींबू, संतरे, आड़ू, चकोतरा, नारियल तथा गुलाब व कमल के पुष्प प्रमुख थे । भारत से निर्यात होने वाले खनिज पदार्थ तथा रत्नों में अकीक, कार्नेलियन, स्फटिक, निकोलो, जामुनिया, दूधिया, माणिक्य, लीलम, तामडा, मरकत, लाजमर्द, तुरसावा आदि थे । रोम के स्त्री–पुरुष भारतीय रत्नों की मालाएँ धारण करना पसंद करते थे । प्लिनी और पेरिप्लस ने सोने और ताँबे की वस्तुओं के निर्यात का उल्लेख भी किया है । प्लिनी उल्लेख करता है कि रत्न–उत्पादन में भारत उर्वर था । वे गंगा तथा चिनाव का उल्लेख करते है जहां रत्न पाये जाते थे । भारत में यूनानी व्यापारी मूँगे के बदले में मोती लेते थे ।

रोम साम्राज्य में कच्ची रूई तथा सूती वस्त्र बड़े परिमाण में भारत से निर्यात होते थे । भारत की मलमल रोम में विख्यात थी । पेरिप्लस के अनुसार सबसे उत्तम मलमल का नाम मोमोचे था । सिंध से भी एक विशिष्ट प्रकार की मलमल का निर्यात होता था । बनारस तथा

ढाका की मलमल भी प्रमुख निर्यात वस्तु थी । उज्जैन तथा तगर से भी कपड़ा भेजे जाने के लिये भड़ोंच आता था जो अरब, मिश्र, पूर्वी अफ्रीका आदि देशों को भेजा जाता था । ऊनी शाल–दुशालें आदि भी रोम साम्राज्य को निर्यात होते थे । चीन की रेशम भी भारत होकर पश्चिम देशों को जाती थी ।

अन्नों में गेहूँ, चावल तथा बाजरा निर्यात के प्रमुख पदार्थ थे । भारत से जो व्यापारिक वस्तुएँ निर्यात होती थी, उनकी तुलना में आयात की वस्तुएँ कम थी । 'पेरिप्लस' ने उन वस्तुओं का उल्लेख किया है जो भारत में आयात की जाती थी । प्लिनी के अनुसार व्यापार में भारत का पलड़ा भारी था । पश्चिमी बंदरगाहों से साधारण वस्त्र, स्टोरेक्स, धूप तथा पेपीरस आदि का भारत में आयात होता था । पेरिप्लस के अनुसार क्रिसोलिथोस नामक रत्न पश्चिमी बंदरगाहों से आता था । चांदी तथा शीशे की बनी तश्तरी, कटोरे, गिलास तथा सजावट की वस्तुएं मिश्र आदि स्थानों से आती थी । चुम्बक पत्थर का भी आयात होता था । प्लिनी के अनुसार भारत में भूमध्यसागरीय लाल मूंगा बड़ा प्रिय था जो सिसली, कार्सिका, इटली, स्पेन, उत्तरी अफ्रीका आदि से आता था । तैलस्फटिक तथा इससे निर्मित वस्तुएं भी भारत में आने वाली प्रमुख व्यापारिक चीजें थी । ताम्र का आयात शक–सातवाहन नरेश अपनी टकसालों के लिये करते थे । रोम साम्राज्य से जो सोना भारत आता था, वह मुद्राओं के रूप में होता था । चाँदी भी सिक्कों के रूप में भारत आती थी । यूनानी प्रदेशों से आई हुई मदिरा भारत में लोकप्रिय थी । अनेक प्रकार के सुरापात्र, चषक आदि भी भारत में बाहर से आते थे । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में पश्चिमी देशों से सोना–चाँदी प्रमुखता से आता था । साथ ही शीशे की वस्तुएँ, वनस्पति–पदार्थ और सम्भवत दास–दासियों का भी भारत में आयात होता था।

इस समय के आर्थिक जीवन में छोटे–बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे । छोटे व्यापारी फेरी लगाकर वस्तुओं का विक्रय करते थे । समृद्ध व्यापारियों का समाज में श्रेष्ठ स्थान था तथा उन्हें गृहपति, कुटुम्बिक और सेट्ठि जैसे नामों से अभिहित किया जाता था ।

9.4.7 गुप्त काल

गुप्तकाल समृद्धि का युग था । राजनीतिक एकता के कारण भारतीय व्यापार की उन्नति हुई थी । इस काल में कच्चे माल की सुगम उपलब्धि और शिल्पगत कुशलता के कारण व्यवसाय और उद्योग का यथेष्ट विकास हुआ । इस समय बाजार को विपणि नाम से जाना जाता था । 'निष्क्रय' शब्द का प्रयोग क्रय करने के लिये किया जाता था । 'रघुवंश' से ज्ञात होता है कि पण्यवीथि के दोनों ओर दुकानें बनी होती थी । 'अमरकोश ' में भी सड़क के दोनों और दुकानों के होने का उल्लेख है । भीटा के उत्खनन से भी यह जानकारी मिलती है कि सड़कों के दोनों ओर दुकानें बनी हुई थी । इस समय के प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों में भड़ौच, उज्जयिनी, विदिशा, पैठन, बनारस, प्रयाग, गया, वैशाली, पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्रा, तामलिप्ति आदि थे । उज्जैन और पाटलिपुत्र अपने व्यापार के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे । पादताडितकम् में उल्लेख है कि उज्जैन के बाजारों में देशी और विदेशी व्यापारिक वस्तुओं का जमावड़ा था । यहां पर घोड़े, रथ, हाथी आदि का विक्रय होता था

। 'पंचतंत्र' में व्यापार को श्रेष्ठ कहा गया है तथा व्यापार के लिए माल सात विभागों में विभाजित किया गया है : – (1) गन्धी का व्यवसाय, (2) रेहन–बट्टे का कार्य, (3) पशुओं का व्यापार, (4) परिचित ग्राहक का आना, (5) माल का झूठा दाम, (6) झूठी तौल रखना तथा (7) विदेश में माल पहुंचाना ।

इस युग में अन्न, वस्त्र, मसाले, नमक, खनिज धातु आदि आन्तरिक व्यापारिक वस्तुएँ थी । स्थल–मार्ग के साथ ही गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, कृष्णा, गोदावरी आदि के नदी–मार्ग भी व्यापार में प्रयोग होते थे । इस समय अनेक बंदरगाह भी थे जो प्रसिद्ध व्यापारिक–स्थलों से जुड़े थे । भरूकच्छ, सोपारा, कल्याण तथा ताम्रलिप्ति प्रमुख बंदरगाह थे । छठी शती के लेखक कासमास ने अपने ग्रन्थ 'क्रिश्चियन टोपोग्राफी' में सिन्दुस, ओर्रोहोथा, कल्याण, चौल, मालाबार आदि बंदरगाहों का उल्लेख किया है । गंगा के डेल्टा पर स्थित ताम्रलिप्ति भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था । यहां स्थल और जल दोनों मार्ग मिलते थे । रघुवंश और दशकुमारचरित से ज्ञात होता है कि ताम्रलिप्ति बंदरगाह से व्यापारिक वस्तुओं का आयात–निर्यात अधिक होता था । गुप्त युग में भारत की विभिन्न वस्तुएं विदेशों में निर्यात होती थी तथा विदेशों से भी व्यापारिक वस्तुओं का आयात होता था ।

चीनी यात्री फाह्यान ने उल्लेख किया है कि कपिशा प्रमुख व्यापारिक–केन्द्र था जहां से ईरान होकर भारतीय वस्तुएं अन्य देशों को जाती थी ।

भारतीय मिट्टी के पात्र भी इस समय निर्यात होते थे । भारत की ये व्यापारिक– वस्तुएं चीन, जावा, सुमात्रा, लंका आदि में लोकप्रिय थी । इस काल में दक्षिण भारत से अनेक वस्तुओं का निर्यात रोम को किया जाता था । इस प्रकार आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार में इस समय मसाले, चंदन की लकड़ी, स्वर्ण तथा मोती, रेशम, मलमल, केशर तथा विभिन्न खनिज–उत्पाद उत्तर भारत में प्रमुखता से, और खाद्य पदार्थ व्यापारिक वस्तुओं के रूप में प्रचलित रहे ।

गुप्तकाल में उन वैदेशिक वस्तुओं का भी आयात किया जाता था जिनकी भारतीय व्यापार में मांग रहती थी । कालिदास ने उल्लेख किया है कि चीनांशुक नामक कौशेय वस्त्र चीन से, घोड़े कम्बोज व वनायु (संभवत: अरब से भी) आयात होते थे जो भारतीय नगरों में बेचे थे । इलायची, मिर्च–मसाले आदि पूर्व द्वीपों से भारत आते थे । सोना, चांदी, तांबा, शीशा आदि धातुएं भी भारत आने माली वस्तुओं के रूप में थी । गुप्तकाल में इथियोपिया से हाथीदाँत का आयात होता था ।

इस युग में भारत से अनेक व्यापारिक वस्तुओं का निर्यात होता था । विभिन्न रत्न जैसे गजदन्त, मूंगा, गोमेद, हीरा, नीलम, मोती आदि विभिन्न बंदरगाहों से निर्यात होते थे ।

रेशम, मलमल, कलिंग क्षेत्र का कलिंगम् नामक वस्त्र तथा कामरूप का महीन वस्त्र आदि भी निर्यात की व्यापारिक वस्तुएं थी । कस्तूरी, शैलेय, काली मिर्च, सफेद मिर्च, इलायची मालाबार के बंदरगाह से निर्यात होती थी । चंदन, केशर तथा प्रसाधन वस्तुएं तथा कछुए की खाल आदि व्यापारिक वस्तुएं भी भेजी जाती थीं । बांस, बारहसिंगा के सींग भी विदेश को निर्यात होते थे । लाल मोती, बिल्लौरी, कुरूंड, सीसा आदि पश्चिमी देशों को भेजी जाने वाली व्यापारिक वस्तुएं थीं ।

9.4.8 पूर्व मध्य काल

भारतीय बहुमूल्य रत्न, तलवार, पिप्पली, सुपारी, इलायची, जायफल, बहेड़ा, हरड़, आम, नींबू आदि के नाम अरबी भाषा में मिलते है । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये वस्तुएँ भारत से वहां व्यापार माध्यम से भेजी गई थी । मसऊदी ने उल्लेख किया है कि भारत से तैयार कपड़ों का थान बंदरगाह से निर्यात होता था। खंभात से बनाये हुए चमड़े के जूतों के निर्यात का उल्लेख भी मसऊदी करते हैं। सुलेमान ने उल्लेख किया है कि भारत के कपड़े अरब में लोकप्रिय थे । काला नमक, काश्मीर के हीरे, मोर तथा गंधबिलाव भी भारत से बाहर भेजी जाने वाली व्यापारिक वस्तुएं ज्ञात होते है ।

इस युग में भारतीय व्यापारिक वस्तुएं पूर्वी तथा दक्षिण–पूर्वी देशों को भी भेजी जाती थीं ।

पश्चिमी देशों से भारत में जो व्यापारिक वस्तुएं आती थीं, उनमें मिश्र की पन्ने की अंगूठियां, सोना, लोहा तथा मूंगा प्रमुख थीं। मिश्र की शराब व फारस का गुलाब–जल का भी भारत में विक्रय होता था। खजूर तथा अरब के घोड़े कोरोमंडल तट पर प्रमुखता से आयात होते थे। पूर्वी द्वीपों से मसाले, चांदी, हाथीदाँत; मलाया के चमड़े की बनी ढालें तथा चीन का रेशम, मिट्टी के पात्र तथा चाय भी इस काल की प्रमुख आयातित व्यापारिक वस्तुएं रहीं।

गुजरात से नील, लाल किनों, छींट आदि वस्तुएं अरब भेजी जाती थीं। इस समय मालवा से भी सूती कपड़े बैलों पर लादकर गुजरात में बहुतायत से निर्यात के लिये आता था।

हदुद–ए–आलम से ज्ञात होता है कि अरब में 10वीं सदी में कामरूप से सोना तथा अगर; उड़ीसा से शंख तथा हाथीदाँत; मालाबार से मिर्च; कन्नौज से जवाहरात, मलमल; नेपाल से जड़ी–बूटी आदि आयात किये जाते थे।

मुसहर–बिन–मुहलहिल के अनुसार भारत के गजायर बर्तन अरब में चीनी बरतन की तरह विक्रय होते थे। चाओ–जु–कुआ बारहवीं और तेरहवीं सदियों में प्रचलित जिन व्यापारिक वस्तुओं पर प्रकाश डालता है, उनमें कपूर, कस्तूरी, चंदन, लाखयुक्त पात्र, सीसा, रांगा, पीला मोम आदि सम्मिलित है । मालाबार के समुद्र तट से मोती, विदेशी रंगीन तथा सूती कपड़े पालमवेरा जाता था और वहां से हो–ची के रेशमी कपड़े, चीनी बर्तन, लवंग, सेनी कपूर, चंदन, इलायची और अगर से बदला जाता था । इस समय के भारतीय साहित्य में आयात–निर्यात सम्बन्धी उल्लेख बहुत कम होने से विस्तृत प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि पैठन, चीरपल्ली, नागपट्टनम् अनिहलपट्टन, मुलतान, कलिंगदेश तथा बंगदेश के कपड़े प्रमुख व्यापारिक वस्तु थे।

पूर्वमध्य काल में भारतीय व्यापारिक वस्तुएं समुद्र मार्गों द्वारा विदेशों को भेजी जाती थीं । अभिधानरत्नमाला और उपमितिभव प्रपंच कथा में भी हमें इस प्रकार की अनेक व्यापारिक वस्तुओं की जानकारी मिलती हैं।

9.5 सारांश

प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन का विश्लेषण करने पर हमें यह स्पष्ट होता है कि वृत्तिसंघों का प्राचीन भारत में महत्वपूर्ण स्थान था। वृत्तिसंघ आर्थिक कार्य के साथ–साथ समाज के उत्कर्ष में भी भाग लेते थे। प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वृत्तिसंघ विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के समान कार्य करते थे। जनकल्याणकारी धार्मिक तथा सैनिक कार्य करते हुए भी हमें वृत्तिसंघ ज्ञात होते हैं। प्राचीन भारत में व्यापारिक श्रेणियां मुद्राएं भी चलाती थी। तक्षशिला से प्राप्त तीसरी सदी ई. की मुद्राओं पर नैगम अंकन पाया गया है। कनिंघम ने भी वणिक संघ द्वारा अपने सिक्के चलाने के संदर्भ दिये है। वृत्तिसंघ महाजनी के समान कार्य करते हुए भी ज्ञात होते है। साथ ही वे ब्याज का नियमित भुगतान स्वीकार कर स्थायी निक्षेप भी लेते थे। प्रमाणों से संघों की शाखाएं स्थानीय मंदिरों का प्रबंध कार्य भी करती थी। गण श्रेणी पूग कुल नैगम आदि के रूप में वृत्तिसंघों का अस्तित्व भारत में लगभग 1000 ई. तक लक्षित होता है। होपकिन्स के अनुसार वणिकों के हितों के विकास में वृत्तिसंघों का महत्वपूर्ण योगदान था।

आर्थिक जीवन में व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय सैंधव सभ्यता के काल से हुआ। प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं में दैनंदिनी वस्तुओं की प्रमुखता रही। वैदिक काल में कृषि तथा व्यवसायों के विकास के कारण इनसे संबंधित वस्तुओं की संख्या में वृद्धि होती चली गयी। प्रमुख रूप से इस समय बहुमूल्य धातु तथा रत्न भी क्रय–विक्रय होने लगे थे। छठी शताब्दी ई.पू. के आर्थिक जीवन का परिदृश्य भारतीय तथा विदेशी वस्तुओं के वितरण के संदर्भ देता है। मौर्य तथा शक–सातवाहन, कुषाण युगीन प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं में औषधियां, स्त्रियां, पशु–पक्षी, वस्त्राभूषण, मसाले आदि. का समावेश ज्ञात होता है। गुप्तकाल में उद्योगों और व्यवसायों के विकास के कारण देशी और विदेशी व्यापारिक वस्तुओं का व्यापार पर्याप्त प्रगति पर था। अनेक नवीन देशी तथा विदेशी वस्तुएं व्यापारिक सूची में आ चुकी थी। गुप्तोत्तर युग एवं पूर्वमध्यकाल में बहुमूल्य रत्न, मसाले, गुलाबजल, घोड़े, नील, खनिज पदार्थ आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तुएं रही ऐसा साहित्यिक तथा विदेशी अरब यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है।

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय आर्थिक जीवन में वृत्तिसंघ व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं?

(150 शब्द)

2. मौर्य काल में श्रेणी संगठन के कार्य तथा संगठन का विवरण दीजिए?

(150 शब्द)

3. मौर्येत्तर काल से गुप्त काल के आर्थिक जीवन में श्रेणी के महत्व की विवेचना कीजिए।

(150 शब्द)

4. पूर्व मध्यकाल में श्रेणी संगठन के सम्बंध में आप क्या जानते हैं?

(150 शब्द)

5. छठी श.ई.पू की व्यापारिक वस्तुओं की विवेचना कीजिए। (200 शब्द)

6. आयातित–निर्यातित व्यापारिक वस्तुओं की काल क्रमानुसार विवरण दीजिए। (200 शब्द)
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :– (100 शब्द)
   (अ) वैदिक युगीन व्यापारिक वस्तुएं।
   (ब) पूर्व मध्ययुग में व्यापारिक संघों का पराभाव।
   (स) दक्षिण भारत में श्रेणी संगठनों का स्वरूप।
   (द) श्रेणी के प्रमुख कार्य।

9.7 संदर्भ ग्रंथ

1. जयशंकर मिश्र	:	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना
2. राधाकृष्ण चौधरी	:	प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, जानकी प्रकाशन, पटना, 1986
3. ओमप्रकाश	:	प्राचीन भारतीय समाज और अर्थ व्यवस्था, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986
4. के.सी. जैन	:	प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
5. जी.एस.पी. मिश्र	:	प्राचीन भारतीय इतिहास एवं अर्थ व्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983
6. के.डी. वाजपेयी	:	भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, 1951
7. के.डी. वाजपेयी	:	प्राचीन भारत का विदेशों से संबंध, कमल प्रकाशन, इन्दौर
8. एन.पी. चक्रवर्ती	:	इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया
9. लल्लनजी गोपाल	:	दि इकानोमिक लाइफ ऑफ नादर्न इण्डिया, बनारस, 1972
10. मोतीचन्द्र	:	ट्रेड रूट्स इन एंशिंट इण्डिया, नई दिल्ली, 1977
11. प्रकाशचरण प्रसाद	:	फॉरेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशिएण्ट इण्डिया
12. पी. नियोगी	:	दि इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ नादर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1962
13. ए.के. सिंह	:	इंडो–रोमन ट्रेड, पटना, 1988
14. बीना जैन	:	गिल्ड आर्गेनाइजेशन इन नार्दन इण्डिया, दिल्ली, 1990
15. राम शरण शर्मा	:	प्राचीन भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, दिल्ली, 1992
16. कमलेश भारद्वाज		प्राचीन भारत में समाज एवं राज्य, पोईंटियर, चौड़ा रास्ता, जयपुर 1999
17. गौतम एवं कमलेश	:	प्राचीन भारत, जैन प्रकाशन मंदिर, चौड़ा रास्ता, जयपुर 1999

इकाई 10
प्राचीन भारत में श्रेणियां

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 जानकारी के स्त्रोत व विकास
10.3 श्रेणियों के संगठन
10.4 श्रेणियों का सैनिक स्वरूप
10.5 श्रेणियों के कार्य और अधिकार
10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.7 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरांत आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थ होंगे।

* श्रेणियों की जानकारी के स्त्रोत कौन से हैं?
* श्रेणियों का संगठन कैसा था?
* क्या श्रेणियां सेना के रूप में भी कार्य करती थीं?
* श्रेणियों के कार्य व अधिकार क्या हैं?

10.1 प्रस्तावना:

मनुष्य ज्यों–ज्यों सभ्यता और संस्कृति के पथ पर आगे बढ़ता गया, एक दूसरे के नजदीक आता गया और जीविका के साधनों को जुटाने में उसे एक दूसरे की आवश्यकता बढ़ती गयी। अपने वातावरण और परिस्थिति के अनुसार उसने अपने को संघबद्ध किया और यहीं से पारस्परिक सहयोग, विश्वास और कर्तव्य की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला । प्राचीन भारत में संघबद्ध जीवन के अनेक आयाम सामने आये और वे अलग–अलग रूपों में अलग–अलग नामों से सामाजिक धार्मिक अथवा आर्थिक सभी क्षेत्रों में अपना स्वरूप धारण करने लगे । प्राचीन भारतीय श्रेणियों का जन्म और विकास अर्थ सम्बन्धी इन्हीं विकास–क्रियाओं का परिणाम था ।

10.2 जानकारी के स्त्रोत:

श्रेणीबद्ध जीवन की जानकारी के अनगिनत संदर्भ प्राचीन भारतीय साहित्य, अभिलेखों तथा मुद्राओं में बिखरे पड़े हैं। उनका एक साधारण समाहार मात्र यहां उपस्थित किया जा सकता है। वृहदारण्यक उपनिषद् के एक संदर्भ में कहा गया है कि धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि हेतु ब्रह्मा ने चार वर्णों की उत्पत्ति की, जिनमें वैश्यवर्ण विशेषरूप से आर्थिक क्रियाओं में निरत होते हुए **गणश** : कहलाया । वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी **गण** और **पाणि** शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो संभवत : आर्थिक क्षेत्र में सहकारिता के द्योतक है । **श्रेणि** अथवा **श्रेणी** शब्द

के व्यापक प्रयोग और उस संस्था के व्यापक उल्लेख सर्वप्रथम पालि साहित्य में प्राप्त होते हैं। बुद्ध के पूर्व जन्मों के क्रिया–कलापों का उल्लेख करने वाली जातक कथाओं में तो श्रेणियों, श्रेष्ठी नामक उनके प्रधानों (सेट्ठ), जैष्ठकों अथवा जेट्ठों के इतने अधिक उल्लेख है कि उनकी गिनती भी कर पाना कुछ आसान नहीं है, एक जातक कथा में यह चर्चा आती है कि व्यापारियों के एक बड़े समूह ने अपना एक संगठन इस हेतु बनाया था कि वे एक वयोवृद्ध (लुटेरे) नेता की अगुवाई में व्यापारियों को लूटने वाले 500 लुटेरों के एक गांव का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सके। पालि साहित्य के अन्यान्य भागों में **श्रेणी पूग श्रेष्ठिन, ज्येष्ठक** अथवा **जैष्टक** शब्दों के प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होते है कि उनके आधार पर उस समय तक विकसित हो जा चुकने वाले विशिष्ट आर्थिक सहयोग–समूहों की कल्पना सहज की जा सकती है। एक **जातक** के अनुसार अठारह प्रकार के शिल्पकारों के संघ (श्रेणियां) बुद्ध के समय विद्यमान थे किन्तु वहां पर **बढ़किसेणि** (बढ़इयों की श्रेणी), **कम्मारसेणि** (लुहारों की श्रेणी), **चम्मकारसेणि** (चमड़े का काम करने वालों की श्रेणी) और **चित्तकाररेणि** (चित्रकारों की श्रेणी) के नाम से मात्र चार श्रेणियों के नामित उल्लेख हुए हैं। साथ ही नौकाओं द्वारा सामुद्रिक और नदी मार्गों से व्यापार करने वाले व्यापारियों के **सार्थ** नामक संगठन **सार्थवाह** के नेतृत्व में चोर, डाकू और हिंस्र पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए भी होते थे, जिनके प्रधानों को **सत्थवाहा (सार्थवाह)** या जेष्टक (जेष्ठक–अध्यक्ष) कहा जाता था। इन जेष्ठकों को प्रमुख (प्रमुख) भी कहा जाता था। श्रावस्ती और काशी में ऐसे अनेक संगठन विद्यमान थे, जिन्हें विद्वानों ने मध्यकालीन इटली अथवा यूरोपीय देशों की हँसालीग जैसे सहकारी व्यापारिक संस्थाओं के समान माना है। उन श्रेणियों के प्रधानों को **सेटिठ** अथवा **महासेट्ठि** (श्रेष्ठि या महाश्रेष्ठि) कहा गया है। श्रावस्ती का महासेट्ठि अनाथ पिण्डिक उनमें मुख्य रूप से बार–बार उल्लेखित हुआ है। रिचर्ड फिक् के मत में श्रेष्ठिजन व्यापारिक वर्गों के प्रतिनिधिरूप में अत्यन्त धनिक लोग हुआ करते थे, जिनकी नियुक्ति कभी–कभी राजा की ओर से भी की जाती थी। कई सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि उनका पद कभी–कभी आनुवंशिक भी हो जाया करता था। वे राजदरबारों में सेनापतियों अथवा अमात्यों की तरह व्यापारिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाये गये हैं। जहां वे राजा के सम्मुख अभिवादनपूर्वक उपस्थित होते थे। बुद्ध के समकालिक सेट्ठियों में श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक के अतिरिक्त चंपा (अंग की राजधानी) का सोणकोटविंश, साकेत का धत्तन्जय सेठ और कौशाम्बी का मृगारश्रेष्ठि प्रमुख रूप से ज्ञात होते हैं।

गौतमधर्मसूत्र जैसे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ से यह भलीभांति स्पष्ट है कि व्यापार और वाणिज्य में लगे हुए सभी वर्गों को अपने व्यापार से सम्बद्ध क्षेत्रों में संघ बनाने का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त था। साथ ही साथ वे उस संघ के नियमन हेतु अपने नियमों अथवा कानूनों का निर्माण भी कर सकते थे। इन नियमों को भी राज्य की ओर से पूरी मान्यता प्राप्त थी। ये ही संगठन श्रेष्ठी या श्रेणी कहलाते थे, जिन्हें प्राय: सभी विद्वानों ने मध्यकालीन यूरोप के **गिल्ड्स्** नामक व्यापारिक समूहों का प्रतिरूप स्वीकार किया है।

मृगपक्ख जातक में श्रेणियों की संख्या परम्परागत रूप में 18 पुरोणों, 18 स्मृतियों, गीता के 18 अध्यायों, महाभारत के 18 दिनों तक चलने वाले युद्ध तथा उसकी 18 अक्षौहिणी

सेनाओं के लिए दी जाने वाली संख्याओं की ही तरह एक रूढ़ संख्या मात्र सी प्रतीत होती है और यह कहना सही नहीं होगा कि श्रेणियों की संख्या सर्वदा ही 18 ही थी। वास्तव में जातकों, स्मृतियों और अभिलेखों से ज्ञात उनकी संख्याओं की यदि गिनती की जाय तो वह कई दशकों अथवा सैकड़ों में पहुंच जायेगी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जितने भी व्यवसाय और आजीविका के साधन उन दिनों उपलब्ध थे, उन सबकी अलग–अलग श्रेणियां हो सकती थी। यही नहीं कि उनमें लगे हुए लोगों को समूहबद्ध या श्रेणीबद्ध होने से कोई बाधा नही थी, अपितु राज्य और शासन उनके संगठनों और आन्तरिक नियमों एवं प्रथाओं को पूरी वैधता और स्वीकृति देकर उन्हें श्रेणीबद्ध होने के लिए उत्साहित करता था। जातकों से तो यहां तक पता चलता है कि चोर और डाकू भी अपने समूह बनाकर श्रेणीबद्ध हो जाते थे, जिनके सदस्यों को उनके नियमों का पालन करना पड़ता था। समय–समय पर साहित्यिक ग्रन्थों, स्मृतियों और अभिलेखों से ज्ञात विभिन्न व्यवसायों–आजीविकाओं में लगे हुए लोगों की श्रेणियों की वैधता और जीवन्तता के पीछे यही तत्व प्रमुख कारक प्रतीत होता है। डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार ने 26 प्रकार के क्रियाकलापों से सम्बद्ध अलग–अलग श्रेणियों की गिनती की है, जिनका विस्तृत विवरण देना वहां बहुत आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

गौतमधर्मसूत्र (अध्याय 11, श्लोक 21) व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों और शिल्पयों को अपनी–अपनी श्रेणियों के लिए नियम निर्धारित करने का अधिकार देता है। यह धर्मसूत्र ग्रंथ ही नहीं, अपितु **मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति** और **वृहस्पति** स्मृति जैसी प्राय: सभी प्रमुख स्मृतियाँ भी यह कहती है कि राजा न्याय के वितरण के समय "जाजियों, जनपदों, श्रेणियों और कुलों के धर्मों को जानकर ही अपने धर्म अर्थात् कानून का निर्धारण अथवा प्रतिपादन करे।" बड़ा स्पष्ट है कि श्रेणी–संगठनों के आन्तरिक नियमों के प्रति प्रतिबद्धता उनके सदस्यों मात्र की ही नहीं होती थी अपितु राज्य की भी होती थी और राज्य, समाज तथा स्त: श्रेणीगत सदस्यों को उनकी अनिवार्य स्वीकृति मान्य थी। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** में श्रेणियों अथवा निगमों की प्रथाओं के इतिहास, व्यवसाय और लेनदेन सम्बन्धी सारी बातों को राजकीय रजिस्टरों में लिखने का विधान दिया गया है। उससे यह भी पता चलता है कि इन श्रेणियों को अपनी रक्षा के लिए अपनी सेनाएं रखने की भी स्वतंत्रता थी जो उनकी आन्तरिक स्वायत्तता का बोधक है। इन सेनाओं को श्रेणीबल कहा गया है और इनकी वीरता की वहां प्रशंसाएं उपलब्ध है। इस ग्रंथ में मजदूरों की श्रेणियों के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम बताये गये हैं।

आगे चलकर **याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णु स्मृति, वृहस्पति स्मृति** तथा **नारदस्मृति** में श्रेणियों के सम्बन्ध के विवेचन बहुत ही अधिक विस्तृत, ब्यौरेवार है। उनके कार्यो, उत्तरदायित्वों, अधिकारों और कर्तव्यों, राज्य के उनके प्रति दायित्वों और दृष्टिकोण, उनके व्यावसायिक और आजीविका सम्बन्धी कार्यों, उनमें प्रचलित प्रथाओं–नियमों, उनके अध्यक्षों और सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य जैसी अनेकानेक सूक्ष्म बातों के विशद संदर्भ उनमें प्राप्त होते हैं। **वृहस्पतिस्मृति** में ग्रामवासियों, शिल्पि–संगठनों और गणों के बीच किए हुए समझौतों अर्थात् करारों (समयक्रिया) की पवित्रता, विश्वसनीयता तथा अदालतों में उनकी अनिवार्य मान्यता पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। वहां उनके विभिन्न कार्यों, जनता जनार्दन के प्रति किये गये

उपकारमूलक काम, उनके कोष, उनकी **लेखक्रिया** (क्रिया–कलापों का लेखा–जोखा) तथा विभिन्न समझौतों या क्रियाओं के बीच में साक्षीरूप पड़ने वाले मध्यस्थों के सम्बन्ध में बड़ी स्पष्ट चर्चाएं प्राप्त होती है। इसी प्रकार **महाभारत** के **आश्रमवासिकपर्व** और **शान्तिपर्व** में श्रेणियों को राजकीय शक्ति के प्रमुख आधार के रूप में वर्णित किया गया है। श्रेणिमुखरों के सैनिक और अन्य कर्तव्यों के वहां विवरण है। शान्तिपर्व (26 वां अध्याय) में एक बड़ा महत्वपूर्ण उल्लेख यह है कि जो लोग अपनी श्रेणियों के प्रति अपने, कर्तव्यों का पालन नहीं करते उन्हें कोई भी प्रायश्चित्त उस अपराध से मुक्त नहीं कर सकता।

डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया** में ऐसे लगभग दर्जन अभिलेखों के संदर्भ दिए हैं, जिनमें श्रेणियों के वास्तविक स्वरूप, उनके क्रिया–कलापों, आपसी समझौतों, राज्य से उनके सम्बन्धों और साधारण जनता अथवा उसके समुदाय विशेषों के प्रति किये गये उनके कार्यों के सटीक और स्पष्ट विवरण हैं। ये अभिलेख निम्नवत हैं –

1. हुविष्क का मथुरा से प्राप्त उसके 28वें वर्ष (1936 ई.) का अभिलेख इसमें दो श्रेणियों को 500 **पुराण** (सिक्का) **अक्षयनीति** (दान) के रूप में दिये जाने का उल्लेख है।
2. शकक्षत्रप नहपान के दामाद उसवदत्त के द्वारा तीन हजार **कार्षापण** का दाने दिये जाने की चर्चा करने वाला नासिक से प्राप्त संवत् 42 (120 ई.) का एक लयण लेख। यह धन अलग – अलग वार्षिक सूद की दरों पर बौद्ध भिक्षुओं के लाभ के लिए गोबर्धन की अलग–अलग श्रेणियों में जमा किया गया था।
3. नासिक से ही प्राप्त **महाराज** ईश्वरसेन का (तीसरी सदी) गोवर्धन की श्रेणियों में अलग–अलग जमा किये हुए धन का उल्लेख करने वाला लो एक बेमियादी **धर्मदाय** का अंकन करता है। इसमें वर्णित श्रेणियां कुलरिकों (कुम्हारों), ओदयन्त्रिकों (जलघडी या जल इंजन बनाने वाले), तथा तैलिकों की थी। इस दान का उद्देश्य यह था कि त्रिरश्मि पर्वत के बौद्ध संघाराम में रहने वाले रोगी भिक्षुओं को मुफ्त दवा बांटी जाय।
4. जुन्नार के एक अभिलेख में कथित है कि काणचिक की श्रेणी को दो खेतों की आय केले
   और करंज के वृक्षों को लगाने के लिए दी गयी।
5. जुन्नार से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख में बांस और पीतल का काम करने–कराने वाली श्रेणियों को **धर्मदाय** (धर्माथ कार्यों के लिए धन) दिए गये।
6. वहीं से प्राप्त एक तीसरा अभिलेख यह बताता है कि व्यापारियों की कुछ श्रेणियों ने एक गुफा और एक कुण्ड बनवाने के लिए दान दिया।
7. नार्गाजुनी–कोण्डा से प्राप्त 333 ई. के एक अभिलेख में कथित है कि तीन श्रेणियों को क्रमशः 60 दीनार और दस–दस दीनार एक व्यक्ति ने स्थायीदान के रूप में धर्मार्थ कार्यों के लिए समर्पित किये गये।

इन अभिलेखों के प्रापित स्थानों को भारतीय मानचित्र पर देखने से यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण–पश्चिमी भारत उन दिनों (लगभग 1 ली. शताब्दी से चौथी शताब्दी तक) विभिन्न व्यवसायों की श्रेणियों से पटा हुआ था और शासकवर्ग या साधारण वर्ग दोनों ही उनकी नेकनीयती, विश्वसनीयता और ईमानदारी के इतने कायल थे कि वे अपना धन बेहिचक धर्मार्थ कार्यों के लिए उनके पास स्थायी अथवा अस्थायी रूप में जमा करते थे। इसी प्रकार पूर्वोत्तर भारत के बसाढ़ (वैशाली) जैसे स्थानों में श्रेणीसंघों अथवा निगमों की स्थिति का पता हमें वहां से प्राप्त होने वाली कुछ मिट्टी की मुहरों से होता है। उनमें चार मुहरों पर क्रमश: निम्न अभिलेख अंकित है–

1. श्रेणी सार्थवाह कुलिक
2. श्रेष्ठि कुलिक निगम
3. श्रेष्ठि निगम और
4. कुलिक निगम।

यहां प्रयुक्त **निगम** शब्द का अर्थ **श्रेणी** है अथवा नगर है, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। ये मुहर–लेख उन नगरों की ओर इंगित करते है जो **श्रेणी, कुलिक** अथवा सार्थवाहों द्वारा प्रशासित होते थे। इन्हें प्राय: स्वतंत्र नगरों के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें उद्धृत **श्रेष्ठि कुलिक** या सार्थवाह उन नगरों के प्रधान हुआ करते जो मुख्यत: व्यापारिक संगठनों या बैकों का कामकाज करने वाले अथवा व्यापारिक सार्थों के अगुआ अथवा प्रधान होते थे। यह भी स्वीकार किया गया है कि उपर्युक्त मुद्राओं के माध्यम से नगरों के शासन संचालित किये जाते थे। इनके आधार पर डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार ने यह निष्कर्ष निकाला है कि गुप्तकालीन भारत के अनेक नगरों में श्रेणियों के शक्तिशाली संगठन थे, जिन्हें शासकीय अधिकार प्राप्त थे। इस निष्कर्ष की पुष्टि तत्युगीन वृहस्पति तथा वशिष्ठ स्मृतियों के उन विशद संदर्भों से होती है जहां श्रेणियों के अर्थ, उनके भीतर प्रचलित नियमों को प्राप्त राजकीय मान्यता तथा उनके बैंकिंग, कर्ज, जमा, धरोहर, रेहन और सूद आदि से सम्बद्ध विभिन्न क्रिया–कलापों को एक वृहदरूप में विवेचित किया गया है।

किन्तु ईसा की चौथी–पांचवी शताब्दियों अथवा गुप्त युग तक ही प्राचीन भारतीय श्रेणियों का जीवन काल सीमित नहीं था। उनकी निरन्तरता और उनका क्रम आगे पूर्वमध्ययुगीन युग तक अबाध रूप से चलता रहा, जिसके अनेक अभिलेखिक प्रमाण हमें प्राप्त है । 877 ई. के ग्वालियर के वैल्लभ भट्ट स्वामी मन्दिर से प्राप्त एक अभिलेख में तैलिकों और मालियों की श्रेणियों को प्रदत्त एक धर्मदाय का उल्लेख है जिसकी उपयोगिता हम आगे श्रेणियों की संगठनात्मक चर्चा का विवरण देते समय देखेंगे। इस युग के एक अन्य अभिलेख से प्राप्त जानकारी और भी अधिक उपयोगी और रोचक है। उसमें घोड़े–घोड़ियों की खरीद करने वाले एक ऐसी श्रेणी का उल्लेख है जिसने अन्य सभी प्रकार के पशुओं को खरीदने वाले सभी व्यापारियों पर दशांश का कर लगा रखा था, चाहे वे खरीददार राजकीय अधिकारी ही क्यों न हों। सबसे प्रमुख बात यह है कि इस श्रेणी के सदस्य एक स्थान के निवासी न होकर देश के विभिन्न भागों के निवासी थे और कन्नौज तथा पेहोवा (हरियाना में) जैसे दूर–दूर के स्थानों के रहने

वाले थे। इस प्रकार प्राप्त धन विभिन्न मन्दिरों के लिए व्ययरूप में बांट दिया जाता था। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश (उत्तर पश्चिमी भारत वर्ष) में घोड़ों की ही खरीद करने वाले एक अन्य श्रेणि का उल्लेख 974 ई. के एक प्रस्तर अभिलेख में, शिल्पि–गोष्ठी (पत्थर कटों की श्रेणी) का उल्लेख लक्ष्मणसेन के विजयवाड़ा अभिलेख से तथा दक्षिण कनारा जिले के काम नामक स्थान से 1556 ई. के एक अभिलेख में कुछ साम्प्रदायिक तथा व्यापारिक श्रेणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

उत्तर भारत की ही तरह दक्षिण भारत में भी श्रेणि–संगठनों के जाल बिछे हुए थे। गुप्त युग के बाद, जब से दक्षिण भारत के इतिहास की विशद जानकारियां प्राप्त होने लगती है, लगभग 14–15वीं शताब्दियों तक के ऐसे अनेकानेक लेख प्राप्त होते है जो इन संगठनों के स्वरूप और उनके कार्यों के बारे में कभी–कभी उत्तर भारतीय अभिलेखों की तुलना में बहुत ही अधिक व्यापक प्रकाश डालते हैं। इन्हीं अभिलेखों में चालुक्यराज विक्रमादित्य का 725 ई. लक्ष्मणेश्वर अभिलेख तांबे और कांसे का काम करने वालों की श्रेणियों का उल्लेख करता है। प्रजा के सभी वर्गों द्वारा इन श्रेणियों को दिये जाने वाले कर कार्त्तिक मास में जमा किये जाते थे। बड़ा स्पष्ट है कि ये श्रेणियां आधुनिक खजानों और बैकों का काम करती थी। 902–903 ई. का राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कृष्ण का मूलगुण्ड से प्राप्त एक अभिलेख तीन सौ आठ नगरों की श्रेणियों के चार प्रमुखों द्वारा दिये हुए एक दान का उल्लेख करता है।

त्रिभुवन चक्रवर्ती राजाधिराज (चौल शासक) के एक तमिल लेख में कहा गया है कि 24 नगरों के तेलियों ने कांची नगर के एक मन्दिर में इकट्ठे होकर यह निश्चित किया कि निरूकुच्चर के तेलिओं को उस ग्राम के मन्दिर के लिए बलि और दीपकों की व्यवस्था करनी चाहिए। कल्याणी के चालुक्य नरेश षष्ठ विक्रमादित्य के 1110 ई. के एक अभिलेख में अनेक श्रेणियों द्वारा संयुक्त रूप से मिलकर दिये गये दानों का उल्लेख मिलता है। चोल अभिलेखों से **वलङ्ग 98 और इंडङ्ग 98** नामक वर्गों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका प्रत्येक समुदाय संभवत: अपने अपने गौण संगठनों या समुदायों में आबद्ध था। लेख की सबसे मनोरंजक बात यह है कि **श्रेणि** (श्रेणी) के सभी सदस्य आपस में इस बात की प्रतिज्ञा करते है कि हम सब एक पिता की सन्तान के रूप एक साथ रहेंगे और हम पर जो भी शुभाशुभ आयेगा उसका एक साथ मिलकर मुकाबला करेंगे। लोगों को समवेत होकर समान निश्चय द्वारा काम करने के क्या–क्या तत्व और लक्षण होंगे, उनका एक विस्तृत उल्लेख इस अभिलेख में प्राप्त होता है। इसी प्रकार का एक अभिलेख परवर्ती काल (पूर्वमध्ययुग) के 1429 ई. का भी प्राप्त होता है।

10.3 श्रेणियों के संगठन

श्रेणी शब्द की परिभाषाएं प्राय: सभी ग्रन्थों में एक समान प्राप्त होती है। **मनुस्मृति** और **याज्ञवल्क्य स्मृति** विभिन्न प्रकार के व्यापार–व्यवसाय–आजीविका आदि में लगे हुए वणिकों, कारू (लौहारों) कुसीदी (सूद पर रुपया चालने वालों) अथवा चातुर्विद्य (ब्राह्मण) जाति के लोगों के उन समूहों को **श्रेणी** कहती हैं। जो संघबद्ध होकर अपने अपने सामूहिक स्वार्थों की रक्षा करते हों। **नारदस्मृति** इसी प्रकार व्यापारियों और शिल्पियों के संघों को श्रेणी बताती है।

पीछे हम देख चुके है कि किस प्रकार जातक ग्रन्थ एक रूढ़बद्ध रूप में श्रेणियों की संख्या 18 बताते हैं – यद्यपि वास्तविकता यह है कि आजीविका के साधनों की संख्याएं इतनी विविध और ज्यादा थी कि श्रेणियों की संख्याएं निश्चित ही सैकड़ों में रही होंगी। पाणिनीय **अष्टाध्यायी** में **श्रेणी** शब्द का उल्लेख है, जिसे कौटिलीय **अर्थशास्त्र** और **तत्वबोधिनी** नामक टीका ग्रन्थ ऐसे वयस्क लोगों का एक संघ बातों हैं जो एक व्यवसाय या आजीविका द्वारा जीवन निर्वाह करते हों । **व्यवहारमयूख** में और भी स्पष्ट रूप में कथित है कि विभिन्न जातीय लोगों के एक काम (व्यवसाय, आजीविका, वाणिज्य आदि) करने वाले समूह को **श्रेणी** कहा जाता है" (नाना जातीयानां एक कर्मकुर्वतां समूहा: श्रेणय:) बड़ा स्पष्ट है कि श्रेणी नामक संगठन का समूह का आधार जातीय नहीं अपितु व्यावसायिक या आजीविकापरक था।

ये श्रेणियां सारे भारतवर्ष के प्राय: सभी नगरों और जनपदीय अथवा ग्रामीण क्षेत्रों में बिखरी हुई थीं। कौटिलीय **अर्थशास्त्र श्रेणी** और **गण** शब्दों को कभी–कभी समानार्थी अर्थों में अभिहित करता है। वहां कथित है कि अनेक श्रेणियां वार्ता (व्यापार) कृषि और शस्त्र (युद्धक्रिया) कार्यों में अपने को लगाती थी। पीछे हम देख चुके है कि व्यापार, कृषि उद्योग–धन्धों और शस्त्रकार्य तो इन श्रेणियों के कार्य क्षेत्रों में थे ही, चोर डाकुओं, लुटेरों और वैसे अन्य प्रकार के समाज विरोधी गुट भी प्राय: श्रेणीबद्ध हो जाते थे और अपने आन्तरिक नियम बना लेते थे।

जातकों से यह ज्ञात होता है कि क्षेणिमुखों या प्रधानों को **सेट्ठि ज्येष्ठक** अथवा **अध्यक्ष** कहा जाता था। ये **सेट्ठि** अथवा **ज्येड्ठक** (ज्येष्ठक) अपनी धनसम्पन्नता और व्यापारिक समृद्धि के कारण राजदरबारों में विशेष रूप से आदर पाते थे और अपनी श्रेणियों या व्यापारिक हितों का वहां प्रतिनिधित्व करते थे। बौद्ध जातकों से यह स्पष्ट है कि गांवों में निवास करने वाले प्राय: प्रत्येक व्यवसाय–व्यापार अथवा आजीविका (उद्योग धंधों) वाले लोगों की अलग–अलग श्रेणियां होती थी। इन श्रेणियों के संगठनों के सम्बन्ध में समुद्दवनिज जातक बताता है कि वाराणसी के पास 1000 परिवारों वाले बढ़ई लोगों का एक नगर था, जिनमें 500–500 परिवारों के ऊपर एक प्रधान कारीगर नियुक्त था। कदाचित ये ही उनके ज्येष्ठक, अथवा अध्यक्ष थे । वहां यह भी कथित है कि उन्होंने एक साथ ही अपना नगर छोड़ देने का निश्चय किया और दूर जाकर एक द्वीप में बस गये। इससे यह भलीभांति स्पष्ट है कि श्रेणियां आवश्यकतानुसार काफी भ्रमणशील होती थीं। परवर्ती काल के कुछ अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि कभी–कभी एक ही शिल्प, उद्योग अथवा व्यवसाय के एक से अधिक संगठन हुआ करते थे।

ज्येष्ठक का पद कभी–कभी आनुवंशिक हो जाया करता था। एक जातक का कथन है कि नाविकों के एक संगठन के प्रधान की मृत्यु के बाद उसका पुत्र उस संगठन का प्रधान चुना गया। किन्तु इस प्रकार की नियुक्ति में पुत्र की योग्यता अथवा श्रेणी को ठीक से चला सकने की उसकी सामर्थ्य श्रेणि–सदस्यों द्वारा अवश्य आंकी जाती रही होंगी, जो परस्पर मिलकर उसकी अध्यक्ष पद पर नियुक्ति की स्वीकृति देते होंगे।

जातकों में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते है, जिनसे श्रेणियों के सदस्यों अथवा उनके अध्यक्षों के बीच परस्पर विवाद या झगड़े उत्पन्न हो जाने की सूचनाएं मिलती है। श्रावस्ती और

काशी के राज्यों में ऐसे झगड़ों के उठ जाने के संदर्भ प्राप्त होते है, जो उन **कोषाध्यक्षों** द्वारा निपटाये जाते थे जो राज्य की ओर से केन्द्र में नियुक्त हुआ करते थे।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों से श्रेणि–संगठनों और कार्यों पर बहुत ही व्यापक प्रकाश पड़ता है। **गौतमधर्मसूत्र** के अनुसार श्रेणियों को अपने–अपने समूह के सदस्यों के लिए निश्चित नियमों को बनाने का अधिकार था। वहां कथित है कि राजा उन लोगों (जो प्रत्येक समूह के लिए बोलने का अधिकार रखते हैं) से वस्तुस्थिति की जानकारी प्राप्त करने पर ही कानूनी निर्णय देगा ।" आगे की सभी स्मृतियां कहती हैं कि राजा अपनी अदालत में बैठकर "जातियों, जनपदों, श्रेणियों और कुलों के धर्मों (कानूनों) को जानकार ही अपने धर्म (कानून या निर्णय) का निश्चय करेगा।"

कौटिलीय **अर्थशास्त्र** से ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य का युग आते–आते श्रेणि संगठनों का विकास इतना अधिक हो चुका था कि वे प्राय: सभी प्रकार के आपणन–विपणन, व्यावसायिक, कार्मान्तिक और औद्योगिक क्षेत्रों में प्रवेश कर चुकी थी। राज्य के लेखाध्यक्ष्यों को नियमित रूप में राजकीय रजिस्टरों में श्रेणियों के इतिहास, उनके लेन–देन और उनके व्यवसाय सम्बन्धी बातों कों लिखना पड़ता था। श्रेणियों के तीन विश्वासपात्र **आयुक्त** या मंत्री शुल्कों की वसूली के लिए नियुक्त किये जाने थे। स्पष्ट है कि राज्य अपने शुल्क वसूली सम्बन्धों कार्यों को श्रेणियों से काता था। व्यापारिक श्रेणियों के विवादों में उन्हें (समस्त रूप) में अथवा उनके सदस्यों को राज्य की ओर से विशेष सुविधाएं दी जाती थी। नगर योजनाओं में श्रेणियों और श्रमिकों के लिए अलग से स्थान दिये जाते थे तथा उनसे प्राप्त होने वाली आय राजकीय आय का एक प्रमुख साधन होती थी।

याज्ञवल्क्यस्मृति में श्रेणियों के **कार्यचिन्तक** नामक एक अधिकारी का उल्लेख है, जो सम्भवत: जातक कालीन **श्रेष्ठिन, ज्येष्ठक** अथवा **प्रमुख** (प्रमुख) के अनुरूप होता था। वह स्मृति कहती है कि शुद्ध और चरित्रवान् व्यक्ति ही **कार्यचिन्तक** अथवा श्रेणियों के प्रबन्ध अधिकारी चुने जाय। इसे **श्रेणी** के अन्य सदस्यों के ऊपर प्रबन्ध अधिकारी चुने जाय। इसे **श्रेणी** के अन्य सदस्यों के ऊपर प्रबन्ध अधिकार प्राप्त थे और उसकी अवमानना या उसके निर्देशों के उल्लंघन करने वालों को वे दण्ड दे सकते थे। किन्तु उसे भी श्रेणी के स्थापित नियमों, प्रथाओं और परम्पराओं के प्रति बाध्य होना पड़ता था और यदि वह ऐसा न करे तो राजा उसे उस हेतु विवश कर सकता था। इन प्रबन्ध अधिकारियों के ऊपर श्रेणी का अध्यक्ष होता था। इस काल में श्रेणियों के संगठन में उनके सदस्यों की एक दूसरे के साथ सम्पूर्ण सहभागिता स्मृति ग्रन्थों के उस उल्लेख से जानी जा सकती है कि श्रेणी सदस्य द्वारा अर्जित सारी सम्पत्ति (राजा से प्राप्त उपहार और भेंट भी) उसे श्रेणी को समर्पित करनी होती थी और यदि कोई ऐसा न करे तो उसे उस सम्पत्ति का ग्यारह गुना दण्ड देना पड़ता था।

महाभारत में श्रेणियों का स्वरूप बहुत कुछ सैनिक रूप में दिखायी देता है। वहां उनके प्रधानों को श्रेणीमुख्य कहा गया है। श्रेणीबलों की शक्ति में यदि क्षीणता हो जाय तो उसे राजकीय शक्ति की क्षीणता मानी जाती थी ।

नारदस्मृति श्रेणि–संगठनों की परिपाक, पवित्रता और परम्परा को बहुत ही अधिक महत्व देते हुए कहती है कि "राजा को चाहिए कि श्रेणियों और अन्य निगमों की प्रथाओं को

मान्यता दे। उनके जो भी कानून, उप्सिति के नियम और जीवन–निर्वाह की विशेष परिपाटियां हों, उन सबको राजा स्वीकार करे।" संघ के सदस्यों के बीच फूट डालने वालों को राजा की ओर से दण्ड दिये जाने के वहां विशेष उल्लेख है।

10.4 श्रेणियों का सैनिक स्वरूप

कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र और महाभारत के अनेक स्थलों से श्रेणियों के व्यापारिक ओर औद्योगिक स्वरूप के साथ ही साथ उनके सैनिक स्वरूप का भी पता चलता है। वहां श्रेणि और संघ शब्दों का प्रयोग कई स्थानों पर एक समान अर्थ में किया गया है और श्रेणीबल के उल्लेख प्राप्त होते है। बड़ा स्पष्ट है कि उस समय अनेक श्रेणियां सैनिक बलों से युक्त होती थी। वहां यह भी कथित है कि श्रेणियों की सेनाओं में अपने कार्यो के प्रति अधिक योग्यता, कुशलता और गुण होते थे। अत: आक्रमण और रक्षा के समय वे राजकीय सेनाओं में विशेष रूप से लगायी जाती थी। कौटिल्य कहता है कि यदि शत्रु सेना में श्रेणिबलों की प्रधानता हो तो राजा को अपनी सेना में भी उनकी अधिक भर्ती करनी चाहिए। **अर्थशास्त्र** श्रेणिमुख्यों को हस्ति, अश्व और रथसेना के प्रधान नायकों के समान ही वेतन दिये जाने का उल्लेख है। वहां एक बड़ी विशेष उक्ति यह है कि श्रेणीबल को शत्रु का सामना करने वाली प्रधान सेना की एक टुकड़ी के रूप में नियोजित करना चाहिए। काम्बोज, सौराष्ट्र और क्षत्रिय (देश और जाति दोनों ही) श्रेणियों को वहां **वार्ताशस्त्रोपजीवी** अर्थात् व्यापार और शस्त्रकार्य दोनों से ही अपनी आजीविका चलाने वाला बताया गया है। **महाभारत** राजा को यह अनुदेश देता है कि वह श्रेणियों की सेनाओं को अपनी सेना में नियुक्त करे। **वाल्मीकि रामायण** में **सयोधश्रेणि** का उल्लेख आता है। जब राम के यौवराज्याभिषेक की प्रस्तावना और तैयारी में राजा दशरथ लगे थे और उन्होंने राज्य के जिन अनेक वर्गों की मंत्रणा और सहभागिता के लिए आमंत्रित किया था तो उनमें श्रेणीमुख्यों, अर्थात् श्रेणिबलों के प्रधानों को भी बुलाया था। आगे यह भी कहा गया है कि राम के वनवास के बाद श्रेणीमुख्यों ने भारत के लिए प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक की अनुमति दी थी ।

श्रेणिबलों अर्थात् सैनिक शक्ति के रूप में श्रेणियों के स्वरूप का स्पष्ट समर्थन कुमार–गुप्त के मन्दसौर अभिलेख से प्राप्त हुआ है। उसमें उल्लिखित है कि रेशम बुनकरों की उस श्रेणि के कुछ सदस्यों ने शस्त्रकार्यों को अपना लिया था, "जिनके बहादुर सैनिक युद्धविजयी थे" और वे "बलपूर्वक शत्रु सैनिकों का संहार" करते थे। यह **श्रेणी** सुराष्ट्र (काठियाबाड़ देश) के लाट प्रदेश में रहती थी जहां सीमा पर स्थित होने के कारण उन्हें बाहरी आक्रमण का सामना करना पड़ता होगा। पीछे हम देख चुके है कि कौटिलीय **अर्थशास्त्र** के अनुसार सुराष्ट्र जनपद की श्रेणियां **वार्तशस्त्रोपजीवी** थी अर्थात् उन्होंने व्यापार के साथ–साथ शस्त्रों को भी उपजीव्य (जीविका का साधन) के रूप में स्वीकार किया हुआ था। दक्षिण भारत में चोल शासकों को सेनाओं के रूप में **बलङ्गै** और **इडङ्गै** नामक सैनिक इकाइयों के रूप का अभिज्ञान होता है। पारिश्रमिक के रूप में इस सेना के सदस्यों को भूमि का एक भाग (वेल्लि) दिया गया था और इसके सभी सदस्यों ने यह शपथ ली थी कि वे मन्दिर के गांवों की रक्षा करेंगे, उसके कर्मचारियों और पुजारियों की सम्पत्ति की रक्षा करेंगे और जब तक उनका संगठन रहेगा, वे मन्दिर की हर आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे तथा उसकी मरम्मत करते रहेंगे।

पीछे वैशाली से प्राप्त होने वाली **श्रेणि सार्थवाह, कुलिकनिगम, श्रेष्ठिकुलिक निगम, श्रेष्ठि निगम** और **कुलिक निगम** का उल्लेख करने वाली जिन मुहरों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके बारे में यह देखा गया है प्राय: स्वतंत्र नगरों का शासन चलाने वाली वे मुहरें थी, ये मुहरें उन नगरों की स्वतंत्र के वास्तविक अधिकार की सूचक है। यद्यपि निश्चय रूप से कुछ ज्ञात तो नहीं होता किन्तु यह अत्यन्त संभव प्रतीत होता है कि अपनी मुहरों या अपने सिक्कों को स्वतंत्र रूप में निस्सारित करने वाले इन नगर संस्थाओं अथवा राज्यों की अपनी स्वतंत्र सेनाएं भी रही होंगी जिनका वे अपनी रक्षा के लिए बाहरी आक्रमणों के समय उपयोग करते थे। श्रेणिबलों अर्थात श्रेणियों की सेनाओं के रूप में इनकी भी गिनती की जानी चाहिए।

10.5 श्रेणियों के कार्य और अधिकार

श्रेणियों के विभिन्न कार्यों के यद्यपि बहुत व्यापक, अथवा विश्लेषित उल्लेख कहीं भी एकत्र रूप में तो प्राप्त नहीं होते, किन्तु अलग–अलग फुटबाल उल्लेखों के आधार पर उनका एक संग्रह उपस्थित किया जा सकता है। पीछे हम उनके व्यापारिक, औद्योगिक और सैनिक क्षेत्रों में जिन–जिन विभिन्न स्वरूपों को देख–चुके हैं, उसी आधार पर उनके विभिन्न क्षेत्रों के अलग अलग कार्यों का एक अनुमान भी लगा सकते है । ऐसा प्रतीत होता है कि कृषि, पशुपालन, विभिन्न उद्योग, आन्तरिक और बाह्य व्यापार, बाजार–संगठन, आपणन–विपणन, शिल्पकारी, यहां तक कि चोरी–डकेती, बाधिक कार्य, शिकार और ऐसे ही अन्य गर्हित कार्यों में भी लगे सभी लोगों ने अपने अपने स्वार्थ और हित की रक्षा के लिए कोई न कोई संगठन बना रखे थे जो सामूहिक रूप से उनका प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे ही संगठनों में **श्रेणी** संगठन थे जो मुख्य रूप से व्यापार–वाणिज्य, उद्योग और शिल्पों से सम्बद्ध थे, और जिनकी अनगिनत संख्याएं जातकों से ज्ञात होती हैं।

जैसा पीछे देखा जा चुका है, जातकों के समय विभिन्न व्यापारिक और औद्योगिक श्रेणियों के प्रधानों को **श्रेष्ठिन्** (सेट्ठि) अथवा **ज्येष्ठक** (ज्येष्ठक) कहा जाता था और वे अपनी अपनी श्रेणियों अथवा संगठनों का राजदरबारों में प्रतिनिधित्व करते थे। वह प्रतिनिधित्व उनकी सामाजिक और प्रशासकीय प्रमुखता का द्योतक था और इस उद्देश्य की ओर अभिप्रेत था कि उनके द्वारा विभिन्न संगठनों के हितों की रक्षा राजकीय प्रशासन के परिचालन में एक निश्चित भागीदारी के रूप में होवे। **विनय–पिटक** नामक पालि साहित्य का बौद्ध ग्रन्थ तो श्रेणियों के महत्व और उनके कार्य विस्तार अथवा क्षेत्र के बारे में यहां तक कहता है कि उनकी अनुमति के बिना श्रेणि के किसी भी सदस्य की पुत्री बौद्ध धर्म अथवा संघ में दीक्षा नहीं ले सकती थी। वहीं यह भी कथित है कि श्रेणियों के सदस्यों की स्त्रियों के बीच उठे हुए पारस्परिक विवादों के समय श्रेणियां अपने माध्यम से मध्यस्थता भी करती थी। **श्रेणी पूग** अथवा **गण** को राजा के समाज ही यह अधिकार प्राप्त था कि बिना उनकी अनुमति के किसी चोर स्त्री को संघ में सम्मिलित न किया जाय। पीछे हम यह भी देख चुके है कि कौटिलीय **अर्थशास्त्र** श्रेणियों को कुछ प्रकार के राजकीय शुल्कों अर्थात् करों की वसूली का कार्य अथवा अधिकार देता है। आवश्यकता होने पर राज्य इन वसूल किये हुए करों को ले लेने का अधिकारी तो था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया ये कर उन श्रेणियों के पास ही रहते थे। ये कर उन्हीं के

सदस्यों से वसूल किये जाने वाले कर रहे प्रतीत होते हैं। इन श्रेणियों के पास अपने–अपने व्यवसायों में लगे हुए सदस्यों से प्राप्त विभिन्न प्रकार के अंशदानों से कभी–कभी इतना धन संचित हो जाता था कि राजाओं तक की गिद्ध दृष्टि को वह आकृष्ट करता था। अर्थशास्त्र अर्थाभाव से ग्रस्त राजाओं को दृढ़तापूर्वक उनसे धन छीन लेने का एक तरीका यह बताता है कि उसे निगमों से स्वर्ण मुद्राएं उधार लेन और पुन: उसी रात उन मुद्राओं को लुट जाने का बहाना बनाकर उन्हें स्वयं लूट लेना चाहिए। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक के पास इतनी स्वर्ण मुद्राएं थी कि उनसे जेतराजकुमार के बगीचे को पूरी तरह पाटकर तथा उसे जबरदस्ती राजकीय अदालत में ले जाकर अपने पक्ष में निर्णय लेते हुए उसने उस बगीचे को खरीदा और वहां बुद्ध भगवान के लिए जेतवन नामक प्रसिद्ध बिहार बनवाया। यह धन निश्चित ही व्यापार–वाणिज्य और उद्योग के एक अत्यन्त ही विकसित स्थिति के कारण प्राप्त हुआ होगा, जिसमें श्रेणीबद्ध होने के कारण उनके सदस्यगण अथवा अध्यक्ष राजकीय सहायता और स्वीकृति के संबल से अपने कारोबार देश के भीतर और देश के बाहर दोनों ही क्षेत्रों में पूरी तरह बढ़ाकर एक दूसरे की समृद्धि में सहायक हुए होंगे।

कौटिल्य मजदूरों की श्रेणियों का एक विशेष उल्लेख करते हुए उनकी तथा उनके सदस्यों के कार्यों, आपसी सम्बन्धों, उत्तरदायित्वों और मजदूरी आदि के नियमों का सविस्तार उल्लेख करता है। इन श्रेणियों के लिए कुछ विशेष सुविधाएं एवं कुछ विशेष नियम बनाए गये थे यथा– कोई भी मजदूर कोई कार्य पूरा करवे के अपने करार वाले समय से यदि सात दिनों तक का अधिक समय भी ले ले तो उसका समझौता पूर्ण माना जाता था। उसकी सारी कमाई श्रेणी के सभी सदस्यों में बराबर बांटी जाती थी और यदि कोई मजदूर किसी श्रेणी में सम्मिलित होकर भी कार्य सम्पूर्ण होने के पहले ही उसे छोड़ देता था तो उसे जुर्माना देना होता था। अपने हिस्से के काम को सही ढंग से या ईमानदारीपूर्वक न करने वाला व्यक्ति श्रेणी से निकाल दिया जाता था।

पीछे हम सैनिक श्रेणियों का उल्लेख कर चुके हैं। यद्यपि इनमें कुछ श्रेणियां वार्ता अर्थात् व्यापार कार्यों में भी अपने को लगाती थी, उनके मुख्य कार्य सैनिक ही थे और वे राज्य, नगर अथवा निगमों की आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा में नियुक्त की जाती थी। पोलन्नरूव के एक लेख के अनुसार राजा विजयवाहु की आज्ञा से देवसेन नामक उसके एक सरदार द्वारा भगवान् तीर्थकर के पवित्र दांत के लिए एक स्तूप का निर्माण कराया गया और उसकी रक्षा हेतु **बेलैक्कार सेना** के सदस्यों को नियुक्त किया गया। इनके पास अपने सैन्य संचालक थे, इसके सदस्यों को एक बेल्लि भूमि वेतन स्वरूप दी गयी और उन लोगों के मन्दिर की रक्षा काभार, उसकी मरम्मत का उत्तरदायित्व, उसके कर्मचारियों और पुजारियों की सम्पत्ति की रक्षा का भार आदि कार्यो के सम्पादन की प्रतिज्ञापूर्वक शपथ ली।

स्मृतियों का काल आते–आते तो श्रेणियों की संस्था तथा उनके कार्यों और अधिकारियों की मान्यताएं इतनी अधिक मात्रा में स्थापित और मान्य हो चुकी थी कि उनकी चर्चा से उनके अनेक खण्ड और अध्याय भरे पड़े हैं।

मनुस्मृति और **याज्ञवल्कय** स्मृति इस बात का अनुदेश देती है कि यदि कोई भी व्यक्ति अपने ग्राम संघ या देशसंघ (श्रेणी, संगठन) से किये गये अपने वादे या समझौते का

उल्लंघन करता है अथवा उसकी सम्पत्ति को चुराता है तो राजा अथवा राज्य को उसे देश–निष्कासित कर देना चाहिए। आगे लिखी जाने वाली स्मृतियों ने अभी इन आदेशों को यथावत् दुहराया है। उनसे यह स्पष्ट है कि इन श्रेणि–संगठनों की सदस्यता के नियम जितने ही कठोर थे, उतनी ही कड़ाई से राज्य की ओर से उनका पालन भी कराया जाता था। फलत: श्रेणियां दिनों तक अधिकाधिक विकसित होती गयी ओर उनकी व्यवसायगत, आजीविकागत अथवा उद्योगगत लाभकारिता का विस्तार होता गया । **याज्ञवल्कय स्मृति** में श्रेणियों के सामूहिक कार्यों तथा उनके कार्य चिन्तकों अर्थात् प्रबन्धकों के उत्तरदायित्वों और अधिकारों का एक बड़ा रोचक और महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। कथित है कि उन्हें अपने धर्म अर्थात् नियमों के अनुकूल जो भी समय अर्थात् संविद् या समझौते आपस में या अन्यों से हो, उनका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। जो गण अर्थात् समूह की चोरी करे तथा उसके संविदों का उल्लंघन करे उसे (सदस्यों को) उसकी सम्पत्ति छीनकर राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए। बड़ा स्पष्ट है कि श्रेणियों में सदस्यों के बीच होने वाले जो समझौते अथवा उन्हें सर्वहित में चलाने से सम्बद्ध शर्तनामें किये जाते थे, राज्य उन्हें अत्यन्त ही पवित्र, अपरिहार्य और कानून सम्मत मानता था तथा श्रेणी सदस्यों अथवा प्रबन्धकों को उन्हें मानने और कार्यरूप देने को विवश करता था। समूह (श्रेणी) कार्य में लगा हुआ कोई व्यक्ति (सदस्य) जो भी लाभ अथवा प्राप्ति करता हो, वह उसे स्वयं श्रेणी को समर्पित कर दे और यदि वह ऐसा न करे तो उसे सम्बद्ध लाभ (धन) का ग्यारह गुना दण्ड दिया जाय। जो अनेक उल्लेख उपर्युक्त स्मृति में प्राप्त होते है वे इस बात के द्योतक है कि ईसा की दूसरी–तीसरी शताब्दी के आते–आते इस संस्था की परम्परा और विधिगत मान्यताएं पूरी तरह हो गयी थीं ।

इस युग से प्रारम्भ कर लगभग 14वीं–15वीं सदियों तक (विशेषत:) पश्चिमी और दक्षिण भारतवर्ष में) प्राप्त होने वाले अनेकानेक अभिलेखों से भी इन संस्थाओं के विविध कार्यों की जानकारी प्राप्त होती है। ये कार्य प्राय: जनहित के होते थे राजा, राज्य, धनी–मानी लोग या अत्यन्त साधारण मनुष्य भी कभी–कभी या तो समवेत रूप से अथवा (अधिकांशत:) अकेले अकेले इन श्रेणियों के पास एक–एक मुश्त धन जमा करके इस बात के लिए पूरी तरह आश्वस्त होते दिखायी देते है कि वे उनके द्वारा चाही हुई अथवा निर्दिष्ट जनहित कार्यों की योजनाओं को पूरा–पूरा निभायेगी। इन कार्यों में मन्दिरों के रख–रखाव, उनकी मरम्मत, उनके निर्माण, उनमें घी, धूप, बत्ती और अर्ध्य आदि की व्यवस्था करना, जैन, बौद्ध और हिन्दू मठों के साधु–सन्यासियों के भोजन, पेय और दवा आदि की व्यवस्था करना, अस्पतालों के रोगियों के लिए भोजन और दवा का प्रबन्ध करना, मन्दिरों और पाठशालाओं से सम्बद्ध अन्नसत्रों का संचालन करना वैदिक शिक्षा की व्यवस्था करना तथा उस पर होने वाले अध्यापकों और विद्यार्थियों आदि से सम्बद्ध खर्चों की व्यवस्था करना आदि अनेक बातों के उल्लेख श्रेणियों को दिये गये धन के उद्देश्यपूर्ण रूप में सम्मिलित किये गये हुए ज्ञान होते हैं। हुविष्क के अभिलेखों में इसी प्रकार की एक **अक्षयनीवि** (संचित किया हुआ ऐसा स्थायी धन जिसकी सूद से धन का निमित्त सिद्ध होता हो) का उल्लेख प्राप्त है। ईश्वर सैन के नासिक अभिलेख में लगभग आठ हजार कार्षापणों की विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध श्रेणियों में अलग–अलग मात्रा में जमा की गयी राशि गोवर्धन

पर्वत पर हने वाले भिक्षुओं की दवा हेतु दी गयी थी। जुन्नार से प्राप्त अभिलेखों में केले और करंज के वृक्षों को लगाने हेतु तथा एक गुफा और कुण्ड के निर्माण हेतु दिये गये धर्मदायों की चर्चा है। नागार्जुनीकोण्डा से 333 ई. का एक व्यक्ति का निजी अभिलेख प्राप्त है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उसने एक धार्मिक संस्थान स्थापित किया ओर उसके आवर्त्तक खर्चों के लिए कई श्रेणियों में उसके भिन्न–भिन्न कार्यों के लिए अलग–अलग धन जमा किया। 456 ई. के इन्द्रपुर से प्राप्त स्कन्द–गुप्त के एक अभिलेख में तैलिकों की एक श्रेणी को भगवान् सूर्य के एक मन्दिर के लिए तौल तौल में दो पल भर तेल के दोने की शाश्वत व्यवस्था का उल्लेख है। इस तेलिक श्रेणी के जीवन्त नामक अध्यक्ष का भी वहां उल्लेख है। द्वितीय कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा के 472 ई. तथा पुन: 473 ई. के मन्दसोर से प्राप्त अभिलेख में रेशमी वस्त्रों के काम में लगे हुए व्यापारियों की श्रेणी द्वारा वहां सूर्य भगवान् के एक भव्य मन्दिर के निर्माण और पुननिर्माण का उल्लेख है। श्रेणियों के सम्बन्ध में उससे कई बातों के उल्लेख एक साथ प्राप्त होते हैं। प्रथमत: अपना मूल प्रदेश छोड़कर लाटविषय (गुजरात) से रेशम का काम करने वालों का एक **श्रेणि** समुदाय चलकर मन्दसौर (मालवा में दशपुर) आकर बस गया था। द्वितीयत: उसने सूर्य का एक भव्य मन्दिर 437 ई. में बनवाया और तृतीय 473 ई. में उस मन्दिर के कुछ भाग गिर जाने पर पुन: उसका निर्माण कराया। यह पुर्ननिर्माण एक मरम्मत जैसा कार्य रहा प्रतीत होता है। इन लेखों से श्रेणियों की एक स्थान से दूसरे स्थान को, अपने व्यापार–वाणिज्य में अधिक लाभ की दृष्टि से, संचरणशीलता का ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, यह भी स्पष्ट होता है कि वे स्त: (बिना अन्यों के द्वारा दिये हुए दाम के) मन्दिरों के निर्माण, मरम्मत तथा उनके खर्चों के वहन हेतु अपनी श्रेणी का धन लगाते थे । स्पष्टत: यह **श्रेणि** के सभी सदस्यों की सहमति से ही होता रहा होगा ।

इन सामूहिक कार्यों में श्रेणियों की भूमिका के पीछे दर्शन क्या था, इसका एक अच्छा उपस्थितिकरण **वृहस्पति स्मृति** में हुआ है, जो प्राय: उत्तरवर्ती गुप्तकाल की रचना स्वीकार की जाती है। तदनुसार, "ग्रामवासियों, श्रेणियों और गणों के बीच किये गये शर्तनामों को **समय** या **समयक्रिया** (समझौता) कहा जाता है। ऐसे समझौते बाधाकाल (आपत्ति) में अथवा धर्मकार्यों के सम्पादन हेतु किये जाते हैं। चाट और चोरों से उत्पन्न भय को **बाधा** कहते हैं और बाधाएं एक–एक करके नहीं अपितु सर्वसाधारण द्वारा समूहबद्ध होकर ही दूर की जा सकती है।" बड़ा स्पष्ट है कि ये श्रेणियां समवेतरूप में आपसी समझौतों द्वारा चोरों, उचक्कों, बदमाशों, डाकुओं, राज्य के दुष्ट सैनिकों अथवा ऐसे ही अन्य समाजविरोधी तत्वों से निपटने के लिए सर्वदा तैयार रहती थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रेणी के कार्यों में सामूहिक बाधाओं का सामूहिक सामना और निवारण तथा अन्याय धार्मिक और लौकिक कर्तव्यों के पालन मुख्य रूप से सम्मिलित थे। ग्राम के सर्वसाधारण निवासी भी इसी प्रक्रिया को अपनी रक्षा हेतु अपनाते थे। नारद और वृहस्पति की स्मृतियों ने संविद् से सम्बद्ध कानूनों और उनकी सभी लोगों द्वारा मान्यता और स्वीकृति पर अपने कई अध्यायों में विस्तृत विवरण दिया है इनसे स्पष्ट है कि जनमानस में श्रेणियों की दीर्घजीविता, कार्यक्षमता और विश्वसनीयता ने भली प्रकार अपना घर बना लिया था। **वृहस्पतिस्मृति** श्रेणी के कार्यों में समागृह और यात्रियों के लिए विश्रामगृहों मन्दिर, सरोवर और

उद्यान सहित अन्य धर्म–स्थानों के निर्माण तथा शास्त्रानुमोदित अथवा यह कार्यों को सम्पन्न करने के लिए दीनजनों को धन देने की विशेषरूप से गिनती करती है।

अपने सदस्यों के हितलाभ; व्यापारिक क्रिया–कलाप, सामूहिक बाधाओं से मुक्ति तथा धर्मार्थ और जनहित के विविध कार्यों के सम्पादन तो श्रेणी कार्यों में प्रमुख थे ही, ज्यों–ज्यों समय बीतता गया वे आधुनिक समय के बैकों का काम भी करने लगी । वास्तव में उनका क्रमिक विकास इतना अनवरूद्ध और शासन से मान्य रूप में हुआ कि धीरे–धीरे उनके संगठन स्थायी हो गये और आनुवंशिक रूप से विभिन्न प्रकार के व्यापार वाणिज्य, उद्योग और आजीविका से सम्बद्ध होने के कारण वे समाज का चिरस्थाई अंग बन गयीं। समझौतों के कड़ाई से पालन, अध्यक्षों–श्रेणी मुख्यों की ईमानदारी और कार्यचिन्तकों में जिम्मेदारी का भाव आदि ऐसे गुणों का उनमें विकास हुआ कि साधारण जन सहज ही उनका पूरा–पूरा विश्वास करने लगे और उनके यहां अपने धन को विभिन्न कार्यों हेतु जमा करने अथवा उच्छिष्ट कार्यों के लिए उन्हें **धर्मदाय** रूप में देने में नि:संकोच आगे आने लगे। कौटिलीय **अर्थशास्त्र** से ज्ञात होता है कि श्रेणियां दूसरों को धन उधार देती थी – यहां तक कि राज्य भी आवश्यकता होने पर (आपत्ति के समय) उनसे धन उधार लेता था। मजे की बात यह है कि कौटिल्य छद्म के उपायों को अपनाकर उस उधार लिये हुए धन को लूट लेने की भी बात नि:संकोच रूप से करता है। इनके द्वारा दिये हुए धन (ऋण) पर नौ से बारह फीसदी तक के ब्याज का उल्लेख अभिलेखों से प्राप्त होता है। धर्मदायों को वे नियमित रूप से सूद पर इस हेतु चलाती रही होगी कि उनकी सूद में उनमें उल्लिखित धर्मकायों का शाश्वत अनुपालन होता रहे। यह भी कल्पना की जा सकती है कि व्यक्तिगत लोगों को भी अपना व्यवसाय चलाने हेतु, आजकल के बैकों की ही तरह, वे ब्याज पर कर्ज देती रही हों । संभवत: वे **आधि** (जमा राशि) ओर उपनिधि (धरोहर) भी अपने यहां रखती थीं।

श्रेणियों का एक अन्य कार्य यह भी था कि वे अपने सदस्यों के लिए न्यायालय के रूप में भी काम करती थी। उनके मुकदमे श्रेणियों के भीतर ही उन्हीं के नियमों के अनुसार निपटाये जाते थे और उनके निर्णय सभी को विवशतः मान्य होते थे। प्राय: सभी स्मृतियां **श्रेणीधर्म** अर्थात् श्रेणियों द्वारा (अपने सदस्यों के लिए) बनाये गये कानून की मान्यता के लिए राधा को बाध्य बताती है। बृहस्पति स्मृति कहती है कि "जब सम्बन्धियों को बैठक में किसी विवाद की जांच न की गयी हो तो श्रेणियों को समुचित विचार के पश्चात् उसका निर्णय करना चाहिए। यदि श्रेणियों में भी उसकी भली प्रकार परीक्षा न की गयी हो तो सहवासियों (पड़ासी ग्रामवासियों) की सभाओं में उसका विचार किया जाना चाहिए। और यदि इन सभाओं में भी इनका निर्णय न हो सका हो तो राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों द्वारा उनका निर्णय किया जाना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि कुलों, श्रेणियों, जनपदों की अलग अलग अदालतें हुआ करती थी, जिनमें क्रमश: मुकदमों की सुनवाई (अपीलों के रूप में) हुआ करती थी। इन सबकी अपील राजा द्वारा नियुक्त केन्द्रीय न्यायालय में सुनी जाती थी। इस अन्तिम अदालत मे राजा स्वयं भी कभी–कभी प्रधान न्यायाधीश के रूप में बैठता था। किन्तु श्रेणी सहित सभी निचली अदालतें हिंसा सम्बन्धी (फौजदारी के) मामलों की सुनवायी नहीं कर सकती थी। इस बात पर मतभेद की

गुंजाइश है कि श्रेणियां क्या अपने सदस्यों मात्र से सम्बद्ध मुकदमों का निपटारा करती थी अथवा अपने क्षेत्र के अन्य (दीवानी) मुकदमों का भी निर्णय करती थी। परन्तु ऐसा संभव प्रतीत होता है कि जहां भी श्रेणियां किसी भौगोलिक अथवा प्रशासनिक इकाई का सर्वांश रूप में मालिक (प्रशासक) होती थीं – जैसे निगमों अथवा नगरों में, वहां के सभी के मुकदमों की सुनवाई करती रही होंगी।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न :–

प्र.1 प्राचीन भारत में श्रेणियों की जानकारी के स्रोत व संगठन पर प्रकाश डालिये। (500 शब्द)

प्र.2 श्रेणियों के कार्य और अधिकार के बारे में आप क्या जानते हैं? (500 शब्द)

10.7 संस्तुति अध्ययन सामग्री

1. कॉरपोरेट लाइफ इन ऐंशियेन्ट इण्डिया – रमेश चन्द्र मजूमदार
2. प्राचीन भारत में संघटित जीवन (उपरोक्त का अनुवाद) – कृष्णदत्त बाजपेयी।
3. ट्रेड ऐण्ड कामर्स इन ऐंशियेन्ट इण्डिया – बलराम लाल श्रीवास्तव।
4. हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स् – वी.आर.आर दीक्षितम्।
5. प्राचीन भारत – गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा।

इकाई 11
प्राचीन भारत में विदेशी व्यापार

ईकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 प्रागैतिहासिक विदेशी व्यापार
11.3 वैदिक काल में विदेशी व्यापार
11.4 ई. पू. 600 से 319 ई. तक विदेशी व्यापार
11.5 319 ई. से 750 ई. तक विदेशी व्यापार
11.6 पूर्व मध्य काल में विदेशी व्यापार
11.7 सारांश
11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
11.9 प्रासंगिक संदर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको प्राचीन भारत में विदेशी व्यापार के सम्बंध में संक्षिप्त जानकारी प्रदान करना है। इस ईकाई का अध्ययन कर लेने पर आपको निम्नलिखित बातों का ज्ञान हो जाएगा ।

* भारत में विदेशी व्यापार का प्रारम्भ
* प्रागैतिहासिक, वैदिक काल में उसकी स्थिति
* एतिहासिक युग में विदेशी व्यापार की स्थिति
* कुषाण, गुप्त पूर्व मध्ययुगीन विदेशी व्यापार का स्वरूप
* स्थल, जल मार्गों, बंदरगाहों की जानकारी
* आयात–निर्यात वस्तुओं का सामान्य ज्ञान
* अशोक त्रिवेदी, इतिहास विभाग विक्रय विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

11.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय समाज का विकास आर्थिक जीवन के विकास पर भी निर्भर कहा जा सकता है। भारतीय समाज का विकास पुरुषार्थ के माध्यम से हुआ है। अर्थ इनमें प्रधान रूप से महत्वपूर्ण है जो मनुष्य के भौतिक साधनों को समुन्नत बनाने में सहायक है। प्राचीन काल में अर्थ में उपार्जन के लिए "वार्ता" शब्द का उल्लेख किया गया है जिसमें कृषि, पशुपालन और वाणिज्य आदि विधाओं का समावेश था। महाभारत में वार्ता लोक का मूल मानी गई है। वायु पुराण में वार्ता के लिए उल्लेख है –

ततः प्रादुर्भवौ तासां सिद्धिस्त्रोतां युगे पुनः।
वार्ताथं साधिकाप्यन्या वृक्तिासां हि कामन :।।

प्राचीन काल में भारत वाणिज्य के विकास के कारण एक उन्नत राष्ट्र के रूप में अस्तित्व में रहा। जैसा कि हम जानते है व्यापार, कृषि एवं उद्योग का सहज परिणाम है। अतिरिक्त उत्पादन तथा आवश्यकताओं के कारण आंतरिक और विदेशी उदित हुआ।

11.2 प्रागैतिहासिक विदेशी व्यापार

भारत में विदेशी व्यापार प्रागैतिहासिक युग में अस्तित्व में आया प्रतीत होता है। सैंधव सभ्यता में कृषि तथा उद्योग के विकास के कारण वाणिज्य एक महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि बनकर उभरा। सुमेरियन तथा सिन्धु सभ्यता के पुरा–पुराण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। विदेशी व्यापार, स्थल तथा जल मार्गों के माध्यम से होता था। स्थल व्यापार में बलुचिस्तान का क्षेत्र महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता था। भारतीय मुद्राएँ–मोहरें, सोने, चाँदी, हाथी दाँत, मोती अथवा मिट्टी के पात्र आदि वस्तुएँ मिश्र एनातोलिया क्रीट आदि स्थानों तक जाती थी। सैंधव सभ्यता के केन्द्रों से सुमेरियन वस्तुएँ, जो व्यापार के माध्यम से आई थीं, उनमें प्रमुख थी श्वेत संगमरमर की मुद्रा, कर्नेलियन रेशित मनका, मिट्टी की मुद्रिकाएँ आदि। मुद्राएँ तथा मिट्टी के गाँठदार पात्र व्यापारिक माध्यमों से मेसोपोटामिया पहुँचते थे।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ों तथा लोथल प्रमुख नदी–व्यापार व थल–केन्द्र थे जो भारतीय विदेशी सामुहिक व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते थे। लोथल के पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त गोदी से इस तथ्य की पुष्टि होती है। बेहरीन द्वीप तथा लोथल से प्राप्त मुद्राओं के विश्लेषण से इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि इनके मध्य सामूहिक व्यापार का अस्तित्व था। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा तथा लोथल से व्यापारिक वस्तुएँ तेल्मुन जाती थीं, वहाँ से सुमेर, बेबीलोन तथा मिश्र। सुमेर के उर नाम स्थाल से मिट्टी की अंकित मोहरें प्राप्त हुई है जिन पर मक्कन, मग्गन तथा किल्हुआ उत्कीर्ण है। विद्वानों ने मक्कन एवं मग्गन का समीकरण बलूचिस्तान के मकराना से किया है तथा किल्हुआ का भारत के पश्चिमी समुद्री तट से

11.3 वैदिक काल में

वैदिक काल में भारत के वैदेशिक व्यापार के संबंध में हमें अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में सौ पतवारों वाले जहाज का उल्लेख है। आर्य व्यापारियों के लिए 'देवपणि' शब्द का प्रयोग किया गया है। ये देवपणि फारस की खाड़ी तक जाते थे तथा वहाँ सुमेरियन व्यापारियों से क्रय–विक्रय करते थे। एशिया माईनर के निकटवर्ती प्रदेशों तक वैदिक युगीन विदेशी व्यापार होता था। असीरिया के साहित्यिक प्रमाणों में भारतीय देवताओं के नाम उल्लेख इस बारे में महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है तथा इस समय सिन्धु क्षेत्र के घोड़े, रथ और ऊनी वस्त्र विश्व–प्रसिद्ध थे। ऊनी शाल, हाथी–दाँत की वस्तुएँ, रत्न तथा सुगंधित पदार्थ भारत से पश्चिमी देशों में विदेशी व्यापार के माध्यम से जाते थे। मुद्रा के आविष्कृत न होने के कारण इस समय क्रय–विक्रय में वस्तु–विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। ताम्र–पाषाण युगीन आर्थिक क्षेत्र में भी विदेशी व्यापार के संकेत प्राप्त होते हैं। डॉ. एच.डी. सांकलिया ने कहा है कि ताम्र–पाषाण युग के भारत के पश्चिमी एशिया विशेषकर ईरान

के साथ व्यापारिक संबंध थे। भारतीय क्षेत्रों से प्राप्त मृद्भाण्ड पश्चिमी एशिया के मृद्भाण्डों से समानता रखते थे। ताम्र–उपकरण, जिनकी उपलब्धि गंगा के दोआब मे विशेष रूप में हुई है यह प्रदर्शित करते हैं कि उनकी प्राप्ति विदेशी व्यापार के माध्यम से, संभवत: पश्चिमी एशिया से, हुई थी। उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान के भू–भाग से प्राप्त कुछ लौह उपकरण भी समकालीन विदेशी व्यापार एशिया से होने के प्रमाण देते हैं। यही नहीं, पश्चिमी एशिया के भू–भाग पर से भी भारत में निर्मित मुद्राएँ और मनकों की उपलब्धि महत्वपूर्ण की जा सकती है। डॉ. रालिन्सन के अनुसार का विदेशी व्यापार लगभग 2500 वर्ष पूर्व मिश्र, ईरान, ईराक, यूनान, रोम आदि देशों से होता था।

11.4 ई. पू. 600 से 319 ई. तक

छठ शताब्दी ई.पू. का काल आर्थिक इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है मुद्रा के विकास तथा धातु तकनीक की उन्नत अवस्था ने भी विदेशी व्यापार के विकास में योगदान दिया। ताम्र तथा लौह धातु उपकरणों के प्रयोग के कारण उत्पादन में वृद्धि होने लगी तथा नवीन व्यवसाय उद्यम अस्तित्व में आये। इस कारण आंतरिक व्यापार के साथ–साथ विदेशी व्यापार का भी विस्तार होने लगा।

बौद्ध तथा जैन साहित्यिक प्रमाणों में हमें इस बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है कि भारत का पश्चिमी और पूर्वी देशों के साथ व्यापारिक संबंध रहा। बावेरू जातक में उल्लेख आता है कि भारतीय व्यापारी कौए और मोर 500 से 1000 कार्षापण में बेबिलोन में जाकर विक्रय करते थे। पश्चिम के देशों में भारतीय व्यापारी सोपारा तथा भरूकच्छ आदि बंदरगाहों से जाते थे। यहूदियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि फिलीस्तीन के राजा सोलोमोन ने पूर्वी व्यापार को उन्नत करने में योगदान दिया था। इस समय के एक बंदरगाह का नाम ओफिर था। विद्वानों ने इसकी पहिचान सोपारा से की है। सुस्सोदि जातक उन भारतीय व्यापारियों की, जो पूर्वी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते थे, चम्पा होते हुए भी सुवर्ण–भूमि जाने की जानकारी देता है। महाजनक जातक भी इसका समर्थन करता है। पंडर जातक तथा बालहंस जातक से ज्ञात होता है कि भारतीय–विदेशी व्यापार के दौरान व्यापारियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता था। कभी–कभी व्यापारियों की मृत्यु भी हो जाती थी।

साहित्यिक प्रमाणों के साथ ही पुरातात्विक प्रमाण भी इस काल के विदेशी व्यापार पर प्रकाश डालते हैं। मिश्र के प्राचीनतम पिरामिडों के अवशेषों से जिन भारतीय वस्तुओं की प्राप्ति हुई है, उनमें मलमल, नीम और इमली की लकड़ी तथा रंगीन वस्त्र थे। पाँचवीं शताब्दी ई. पू. में दक्षिण भारत तथा पश्चिम एशिया के मध्य वाणिज्यिक संबंध था। यूनान का एथेंस नगर भारतीय वस्तुओं का प्रमुख विक्रय–केन्द्र था। हाथ तथा सागवान की लकड़ी भारत से विदेश ले जाये जाते थे। रानी हेप्सेस्टस भारतीय सुगन्धित द्रव्य व्यापार के माध्यम से प्राप्त करती थी। ई.पू. 6वीं सदी में गांधार और सिंधु का भू–भाग ईरानियों के अधीन हो गया था। दारा के सूसा महल से प्राप्त वस्तुओं से ज्ञात होता है कि इस महल में प्रयुक्त सागौन की लकड़ी गांधार से प्राप्त हुई थी। स्काईलेक्स ने फारस और भारत के मध्य एक नवीन व्यापारिक मार्ग को खोजा था। दारा के उत्तराधिकारी क्षरसस (486–465 ई.पू.) की सेना में भारतीय सैनिक थे, इसका

उल्लेख हेरोडोट्स ने किया है। भारतीय व्यापारी पर्शिया होकर मिश्र तथा यूनान आकर अपनी वस्तुओं का क्रय–विक्रय करते थे। हिपोक्रेटिस ने दवा बनाने की अनेक वस्तुएँ भारत से निर्यात होने का उल्लेख किया है।

सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत तथा यूनान के मध्य आवागमन सुगम हो गया। इसके परिणामस्वरूप मौर्य–कालीन विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था में आ गया। राज्य की व्यापारिक नीति का प्रमुख उद्देश्य था – आय में वृद्धि। इस काल में भारत का विदेशी व्यापार पश्चिमी देशों के साथ अत्यधिक विकसित हुआ। कौटिल्य ने राज्य के विदेशी व्यापार के सुचारू संचालन के लिए प्रोत्साहन देने का उल्लेख भी किया है। इस काल में राज्य विदेशी व्यापार की उन्नति पर भी ध्यान देता था तथा आवश्यकतानुसार व्यापार–शुल्क का निर्धारण किया जाता था। इस समय व्यापारी, जहाँ अधिक लाभ होता वहाँ, व्यापारिक वस्तुओं का निर्यात करते थे, इस समय जल मार्ग द्वारा विदेशी व्यापार करने वाले व्यापारी नौका–व्यय, मार्ग, व्यय साथ ले जाने वाले व्यापारिक माल और विदेशी व्यापारिक माल के गुणानुपात, यात्रा–अवधि मार्ग सुरक्षा उपाय तथा व्यापार के निमित्त जाने वाले देश के विधि विधान की जानकारी रखते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह उल्लेख भी प्राप्त होता है कि सुमात्रा के सुवर्णकुड्य का प्रत्रोर्णा नामक दुमूल, चीनी कौशेय वस्त्र या चीनांशुक विदेश व्यापार के माध्यम से ही भारत आता था। मैगस्थनीज के विवरण से भी भारतीय विदेशी व्यापार के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, पाटलीपुत्र में संभवत: विदेशी व्यापारी निवास करते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में जलपोत तथा नौकाओं का निर्माण व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। मौर्यकालीन विदेशी सामुद्रिक व्यापार विकसित अवस्था में था, जो ताम्रपर्णी बंदरगाह से होता था। मिश्र तथा सीरिया के साथ बिंदुसार के समय के आयात–निर्यात की जानकारी डायोनिअस तथा डायमेक्स के संदर्भ से ज्ञात होती है। स्ट्रेबो के विवरण से ज्ञात होता है कि मिश्र के वालसी शासकों के युग में अनेक यूनानी तथा भारतीय व्यापारी एक दूसरे देश की यात्रा व्यापारिक वस्तुओं के आदान–प्रदान के लिए करते थे। एथेमेअस नामक यूनानी लेखक के विवरण के अनुसार ज्ञात होता है कि टॉलमी फिलाडैल्फस (ई.पू. 285–246) के द्वारा आयोजित उत्सव के अवसर पर भारतीय नारी, पशु तथा अन्य वस्तुओं का प्रदर्शन किया गया था, जो भारतीय विदेशी व्यापार के माध्यम से वहाँ गई थीं। इसी टॉलमी ने व्यापारियों के लिए स्वेज क्षेत्र को खोल दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वी और पश्चिमी देशों के मध्य विदेशी व्यापार का यथासंभव विकास हुआ। अशोक का तेरहवें शिलालेख विवरण भी सीरिया के शासक अंतकिन, साइरस के शासक मगसय, ऐपरस के शासक एलेक्जेंडर के साथ सांस्कृतिक संबंधों के साथ ही व्यापार होने की संभावना को भी सूचित करता है। इसी प्रकार अशोक का दूसरा शिलालेख भारतीय जड़ी–बूटियों तथा औषधियों के व्यापार को प्रकट करता है। ई.पू. दूसरी शताब्दी के आरम्भ में मौर्य साम्राज्य के पतन से भारतीय विदेशी व्यापार प्रभावित हुआ। यूनानी, शक, पार्शियन आदि के आक्रमणों के कारण भी विदेशी व्यापार की गति मंद ही कही जा सकती है। मौर्य काल में मथुरा, माहिष्मती, बंग, कलिंग आदि स्थानों पर सूती वस्त्रों का उत्पादन होता था जो विदेशी व्यापार की प्रमुख निर्यात वस्तु थी। सातवाहन–कुषाण युग का भारतीय विदेशी व्यापार अधिक समुन्नत ज्ञात होता है। इस काल में पश्चिम

देशों के साथ विदेशी व्यापार की प्रगति स्पष्ट देखी जा सकती है। मध्य एशिया का भू–भाग प्रमुख व्यापार स्थल था। भारतीय वस्त्र, आभूषण, प्रसाधन आदि रोम के बाजारों में प्रमुखता से विक्रय होते थे। यूनानी लेखक प्लिनी उल्लेख करता है कि रोम में भारतीय वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आकर्षण था, तथा भारतीय वस्तुएँ यहाँ सौ गुना मूल्य पर विक्रय होती थी। प्रतिवर्ष लगभग पाँच करोड़ सिस्तर (विदेशी मुद्राएँ) भारतीय व्यापारी प्राप्त करते थे। भारतीय प्रसाधन के प्रति रोम की नारियों के आकर्षण को देखकर वहाँ की सीनेट ने भारतीय वस्तुओं पर प्रतिबंध लगा दिया था। हिपोलिस द्वारा हिन्द महासागर में चलने वाली मानसून हवाओं के अध्ययन के कारण मिश्र से जहाज तीन माह से कम समय में भारत पहुँच सकते थे। इस कारण भारत ओर पश्चिम के मध्य व्यापार का विकास हुआ। अगस्टस ने भूमध्य सागरीय देशों में शान्ति–स्थापना के प्रयास किये, इसका परिणाम भी भारत–रोम व्यापार विकास के रूप में सामने आया।

इस समय रचित "पेरिप्लस" नामक पुस्तक समुद्री यात्रा के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी देती है। पुस्तक में आयात और निर्यात की वस्तुओं तथा प्रमुख बंदरगाहों के नामों का उल्लेख किया गया है। प्रमुख बंदरगाह "भृगुकच्छ" (आधुनिक भड़ौंच) का इसमें "बेरीगाजा" नाम से उल्लेख किया गया है। सोपारा तथा कल्याण भी पश्चिम भारतीय सामुद्रिक तट पर स्थित बंदरगाह थे। मालाबार के तट पर नेर, मुजरिस तथा नीलकण्ड स्थित थे। पूर्वी समुद्र तट पर मसुलिया आदि बंदरगाह थे पेरिप्लस में यह उल्लेख आता है कि भारत को इथियोपिया और पश्चिमी अफ्रीकी समुद्र तट के अनेक भागों से व्यापारिक संबंध थे। टॉलमी के भूगोल से भी भारतीय व्यापारिक स्थलों प्रसिद्ध बंदरगाहों तथा भारतीय विदेशी व्यापार के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। कन्हेरी की गुफाओं में समुद्र–यात्रा के दृश्यों तथा सातवाहन मुद्राओं पर जहाजों का अंकन इस तथ्य की पुष्टि करते है कि उस युग में विदेशी सामुद्रिक व्यापार उन्नत अवस्था में था। इरथ्र सागर (हिन्द महासागर, बंगाल की खाड़ी और अरब सागर) व्यापार के महत्वपूर्ण जल मार्गों के रूप में प्रयोग होते थे।

दक्षिण भारतीय संगम साहित्य भी भारत व रोम के मध्य विदेशी व्यापार पर प्रकाश डालता है। इसमें यवनों के संदर्भ मिलते है। इसमें जहाजों तथा बन्दरगाहों आदि का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

तत्कालीन भारत के विदेशी व्यापार के प्रमाण पाँच प्रथम रोमन सम्राटों की मुद्राओं की उपलब्धि से भी स्पष्ट होते हैं कोयम्बटूर, मथुरा, मैसूर, आंध्र, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश के कतिपय स्थलों से इनकी उपलब्धि हुई है। इन मुद्रा शास्त्रीय प्रमाणों के विश्लेषण के आधार पर स्वेल ने यह मत अभिव्यक्त किया कि भारत तथा रोम के मध्य व्यापारिक संबंध रोमन सम्राट आगस्टस और नीरो के काल में सर्वोच्च शिखर पर था ओर लगभग 217 ई. में समाप्त हो गया। परन्तु पिअडलस यह अभिव्यक्त करते है कि ईसा की तीसरी सदी तक व्यापारिक संबंध बने रहे। रोमन मिट्टी के पात्रों की राजस्थान, मालवा, गुजरात आदि स्थानों से उत्खनन के माध्यम से प्राप्ति इन व्यापारिक संबंधों को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। भारतीय विदेशी व्यापार कुषाण काल में अत्यधिक विकसित ज्ञात होता है। कुषाणों ने अपना व्यापारिक प्रभाव चीन तथा पश्चिम के मध्य पूर्णरूपेण स्थापित किया। मध्य एशिया तक

भारतीय व्यापारिक गतिविधियाँ संचालित होती रहीं। प्रमुख रूप से वस्त्रों, आभूषणों तथा प्रसाधनों का रोम के बाजारों में विक्रय होता रहा। कुषाण–काल में विदेशी व्यापार का विकास हम इस आधार पर भी अभिव्यक्त कर सकते है कि उन्होंने स्वर्ण सिक्कों के रोमन मानक को अपना लिया था। इस युग में चीन तथा पूर्वी देशों में भी भारतीय व्यापार का प्रसार हुआ। व्यापार के लिए स्थल और जल मार्गों का प्रयोग किया जाता था। बैक्ट्रिया में जब चीन के राजदूत चायकिएन ने वहाँ के बाजार में चीनी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं का विक्रय देखा, तो उसे यह जानकारी प्राप्त हुई कि वहाँ ये व्यापारिक वस्तुएँ विक्रय के लिए बर्मा और पूर्वी भारत से अफगानिस्तान के रास्ते भारतीय व्यापारियों द्वारा ले जाई जाती थी। चीनी ग्रंथ हुअंग–चे से भी इस समय के विदेशी व्यापार पर जानकारी प्राप्त होती है। विदेशी व्यापार द्वारा ही चीन से रेशम, सिन्दूर और कीचक भारत आते थे। दक्षिण भारत के क्षेत्र से प्राप्त समकालीन चीनी मुद्रा की प्राप्ति भी भारतीय विदेशी व्यापार को सूचित करती है। मिलिन्दपण्ह में भी उल्लेख आता है कि भारतीय व्यापारी विभिन्न वस्तुओं का सुवर्ण–भूमि में क्रय–विक्रय करते थे। इसी प्रकार ग्रन्थ निर्देश से भी समकालीन विदेशी व्यापार के संदर्भ प्राप्त होते हैं।

11.5 319 ई. से 750 ई. विदेशी व्यापार

गुप्तयुगीन राजनैतिक स्थिति का हम विदेशी व्यापार पर भी प्रभाव देखते हैं तथा पाते हैं कि उस युग में उसका भरपूर विकास हुआ। इस काल में भड़ौच, उज्जयिनी, प्रतिष्ठान, विदिशा, बनारस, 'पाटलीपुत्र, वैशाली, कौशाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्रा, प्रयाग तथा पुरूषपुर प्रमुख व्यापारिक स्थल थे, जहाँ से आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार होता था। "पद्मप्राभृतम्," नामक भाषा में उल्लेख आता है कि उज्जयिनी में विदेशी वस्तुओं का विक्रय बाजारों में होता था। कालिदास ने उल्लेख किया है कि चीन में निर्मित चीनांशुक नामक कौशेय वस्त्र भारतीय बाजारों में प्रमुखता से उपलब्ध था। कम्बोज, पारसीक और यवन देशों से घोड़े भारत में विक्रय के लिए आते थे। पूर्वी देशों से आने वाली वस्तुओं में मोती, सोना, चाँदी, हाथी–दाँत, सूती वस्त्र तथा इलायची, कालीमिर्च आदि मसाले प्रमुख थे। भारत से वहाँ निर्यात होने वाली वस्तुओं में चमकीले पत्थर, मोती, सूती तथा ऊनी वस्त्र, नील, औषधियाँ तथा सुगन्धित पदार्थ प्रमुख थे। रोम के साथ भी भारतीय विदेशी व्यापार इस समय प्रचलित था, परन्तु 5वीं शताब्दी के प्रारम्भ में रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् यह व्यापार समाप्त हो गया। दक्षिण भारत के क्षेत्र में प्राप्त रोमन मुद्राएँ (चौथी से छठी शताब्दी ई.) इस व्यापार को सूचित करती है। भारत में बहुमूल्य रत्न, चाँदी, लौह उपकरण, ऊनी कपड़े तथा मसाले ईरान से व्यापार के माध्यम से जाते थे। अरब में दबा नामक स्थान पर वार्षिक मेला होता था जिसमें भारतीय व्यापारी भाग लेते थे। चालुक्य पुलकेशिन द्वितीय और ईरान के सम्राट खुसरों के मध्य कूटनीतिक संबंधों का अस्तित्व था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय दोनों देशों के मध्य व्यापारिक गतिविधियों का अस्तित्व भी था। भारत तथा चीन का इस समय व्यापारिक संबंध उन्नत अवस्था में ज्ञात होता है। भारत तथा चीन के व्यापार को विकसित करने वाले अनेक मार्ग थे। उत्तर–पश्चिम मार्ग मध्य एशिया तक जाता था। चीन की व्यापारिक वस्तुएँ जावा, सुमात्रा तथा भारत के पूर्वी समुद्री तट से होती हुई जाती थी। अर्थात् चीन का व्यापार भारतीय

बंदरगाहों के माध्यम से होता था। आमअनुस मर्सेलिनस से ज्ञात होता कि भारतीय मिट्टी के पात्रों का वतने नामक स्थान पर विक्रय होता था। इसी प्रकार मणिमुक्ता, सुगंधित पदार्थ, केसर काली मिर्च, मलमल आदि भारत से निर्यात होकर चीन जाते थे। छठी शताब्दी के लेखक कॉसमास से ज्ञात होता हे कि भारत का विदेशी व्यापार विभिन्न बंदरगाहों से होता था। सिंध, गुजरात, कल्याण, मालाबार, मंगलोर, ताम्रलिप्ति का लंका, फारस, अरब, एथियोपिया, बेंजटाईन साम्राज्य, चीन और हिन्द महासागर के द्वीपों के साथ व्यापारिक संबंध था। चीनी यात्री हुवान्च्यांग के अनुसार कपिशा एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ से ईरान होकर भारतीय वस्तुएँ यूरोप तक जाती थी। पूरब में ताम्रलिप्ति भौगोलिक दृष्टि से प्रमुख बंदरगाह था, जहाँ पर स्थल और जल दोनों व्यापारिक मार्ग मिलते थे। यहाँ से दक्षिण एशिया के लिए निर्यात होता था। उड़ीसा का उल्लेख करते हुए हुवान्च्यांग ने अभिव्यक्त किया है कि भारत के दक्षिण–पूर्व सीमा पर चरित्र नामक नगर था। वहाँ से भारतीय व्यापारी सुदूर पूर्व तक जाते थे और अन्य देशों के व्यापारी भी यहाँ आकर व्यापार करते थे। हर्ष–चरित से ज्ञात होता है कि चीनांशुक नामक वस्त्र भारत में लोकप्रिय था। भारत में विभिन्न रत्न, प्रसाधन वस्तुएँ, धातु के पात्र, मसाले तथा विभिन्न प्रकार के वस्त्र विदेशों को निर्यात किये जाते थे। हर्ष की सेना में विदेशी अश्व व्यापार माध्यमों से ही भारत आए थे। कादम्बरी में इसका उल्लेख आता है। दक्षिण भारत के चोल और पाण्ड्य बंदरगाहों से विदेश भेजी जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं में मोती, हाथी–दाँत, हीरा, नीलम व कछुए की खालें प्रमुख थीं। इत्सिंग के उल्लेख से भी इस समय के विदेशी व्यापार के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार इस काल में भारत का रोम, मध्य एशिया, चीन, सुमात्रा, जावा, बोर्नियों, बाली, बर्मा, मलाया आदि से विदेशी व्यापार होता था। वृहत् संहिता तथा रत्नावली के उल्लेख भी भारतीय सामुद्रिक विदेशी व्यापार के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ देते थे। अजन्ता से हमें जहाजों और नावों के चित्रों की जानकारी प्राप्त होती है। यह भी भारतीय विदेशी व्यापार की व्यापकता को जानने में सहायक कही जा सकती है।

11.6 पूर्व मध्य काल

पूर्व मध्यकाल में भारतीय विदेशी व्यापार के बारे में हमें जानकारी विभिन्न साहित्यिक तथा पुरातात्विक प्रमाणों से मिलती है। इस युग में स्थल और जल दोनों मार्गों के द्वारा भारतीय विदेशी व्यापार होता था। अभिधान रत्नमाला तथा उपमिति भव प्रपंच कथा में व्यापार के लिए कारवाँ चलने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, मेधातिथि उल्लेख करता है कि व्यापार करने वाले वैश्यों को विभिन्न प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की जानकारी रखनी चाहिए।

समराइच्चकहा में भी व्यापारिक यात्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। महकटाह तक व्यापारी जाते थे। कुवलयमाला में उत्तर तथा दक्षिण के व्यापारियों के मध्य होने वाले व्यापार–सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। तिलकमज्जरी, भविसयंत कहा तथा त्रिशष्ठिशलाका के पुरूषचरित में व्यापारियों की सामूहिक यात्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है। युक्तिकल्पतरू से अनेक प्रकार के जहाजों के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। समुद्र–यात्रा के लिए निर्मित जहाज विशेष प्रकार का बनाया जाता था। इस कारण विदेशों के साथ सामुद्रिक व्यापार का

विकास हुआ। पश्चिम भारत के अनेक नगर विदेशी व्यापार के कारण विकसित हुए। पी.सी. बागची के अनुसार इस समय भारत का उत्तर–पश्चिम मार्ग का व्यापार–द्वार गज़नी तक था। गुजरात के समुद्र तट पर स्थित भड़ौंच का बंदरगाह महत्वपूर्ण था जहाँ से पश्चिम देशों को व्यापारिक वस्तुएँ भेजी जाती थी। मुस्लिम व्यापारी भारत में व्यापार के लिए आते थे जो विशेषकर घोड़े का व्यापार करते थे। हेमचंद्र ने उल्लेख किया है कि अरब घोड़ों का निर्यात भारत के लिए किया जाता था। अरब लेखक आलमसूदी ने उल्लेख किया है कि हाथीदाँत जंजीबार से ओपन आता था और वहाँ से भारत और चीन जाता था। नवीं सदी के एक उल्लेख से जानकारी मिलती है कि वहाँ से जहाज भारत आते थे। यहाँ उन्हें महत्वपूर्ण व्यापारिक वस्तुएँ उपलब्ध होती थी। इब्न खुर्दाज्बा में उल्लेख आता है कि हाथीदाँत, मोती, सूती वस्त्र, कपूर, जायफल काली मिर्च, कबाब, चीनी, नारियल, विभिन्न लकड़ियों की बनी वस्तुएँ तथा धातु का सामान अरब देशों को भारत से भेजा जाता था।

बुलीन, सोपारा, थाना, श्रीकण्डपुरम सिंधु दुर्ग इस समय के महत्वपूर्ण बंदरगाह थे। स्तम्भतीर्थ नाम बंदरगाह से चंदन का निर्यात होता था तथा सागौन व कामली लकड़ी भी इस समय की निर्यात वस्तु थी। नदवी ने उल्लेख किया है कि इस समय विदेशी व्यापार से कर वसूल किया जाता था। इब्न खुर्दाज्बा ने पर्शिया से सिंघ को जोड़ने वाले मार्ग का उल्लेख किया है। अलबरूनी भारत के व्यापारिक मार्गों का उल्लेख करते हैं। मोतीचन्द्र ने उल्लेख किया है कि इस समय कश्मीर के ऊनी वस्त्र ईरान, अरब, मिश्र तथा यूरोप तक जाते थे। साथ ही दक्षिण भारत से काली मिर्च, गुजरात से काँच व सिंध से बास के निर्यात का उल्लेख भी वह करते हैं। हद्दूद–ए–आलम में भी भारतीय भूभाग पर दसवीं शती में आयात होने वाली वस्तुओं का उल्लेख किया है। मुसैरबिन मुहहिल तथा इब्न उल्फकीह ने भारत से पूर्व मध्ययुग में होने वाली वस्तुओं में शीशम की लकड़ी, हीरे, दालचीनी, नारियल आदि का उल्लेख किया है। शहरयार नामक अरब लेखक ने उन भारतीय व्यापारियों का उल्लेख किया है जो व्यापार के लिए अरब में निवास करते थे। पूर्वमध्य युग में भी भारत में चीनी वस्त्रों के आयात होने का वर्णन है, यह कुट्टनीमतम से ज्ञात होता है। वैजयन्ती तथा चौ–जु–कुअ से भारत में स्वर्ण, रजत, टीन, लौह आदि चीन से व्यापार माध्यम से आने की जानकारी मिलती है। गणितसार के उल्लेख भी भारत–चीन व्यापार के बारे में उल्लेख करते हैं। लल्लनजी गोपाल ने "दि इकोनामिक लाइफ इन नादर्न इण्डिया" में दक्षिण भारत और चीन के मध्य व्यापार का उल्लेख किया है। सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि स्थानों से कपूर, लोंग, जायफल, इलायची आदि का आयात होता था। मानसोल्लास के उल्लेख भी अनेक स्थानों से वस्त्रों के आयात होने की जानकारी देते हैं। ए.के. मजूमदार ने उल्लेख किया है कि भारतीय विदेशी व्यापार इस समय विकसित अवस्था में था। लेख–पद्धति के विवरण भी पूर्व मध्ययुगीन विदेशी व्यापार के बारे में जानकारी देते हैं। मार्कोपोलो के विवरण भी भारतीय विदेशी व्यापारिक गतिविधियों को स्पष्ट करने में सहायता देते हैं। मालाबार से जहाज मेडागास्कर और जंजीबार तक जाते थे। स्वर्ण तथा तांबा भारत में आयात होने के उल्लेख भी वह करता है।

इसी प्रकार पूर्व मध्ययुगीन व्यापारिक गतिविधियों के बारे में हमें अभिलेखीय प्रमाणों से भी जानकारी मिलती है। राजस्थान से प्राप्त उदयपुर के समीप स्थित आहाड़ नामक स्थल से प्राप्त अभिलेख 953 ई. में कर्णाट, मध्यप्रदेश, लाट तथा टक्क के व्यापारियों की गतिविधियों को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार कर्नाल अभिलेख (882–83 ई.) से यह जानकारी मिलती है। कि अश्व व्यापारी किस प्रकार अपना व्यापार संचालित करते थे। ग्यारहवीं शती का एक तमिल अभिलेख भारत व इंडोनेशिया के मध्य चीनी, स्वर्ण विषयक व्यापारिक गतिविधियों की जानकारी देता है।

लल्लनजी गोपाल ने इस काल में भारत में होने वाले आयात–निर्यात के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं।

प्राचीन भारतीय विदेशी व्यापार के बारे में अध्ययन करने पर हम पाते है कि भारत के विदेश व्यापार की गतिविधियां प्रागैतिहासिक युग से लेकर पूर्व मध्ययुग तक सतत अस्तित्व में रहीं तथा इसने भारतीय आर्थिक गतिविधियों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

11.7 सारांश

प्राचीन भारतीय आर्थिक स्थिति के विकास में भारतीय विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। भारत में विदेश व्यापार प्रागैतिहासिक युग से अस्तित्व में रहा ज्ञात होता है। सैंधव सभ्यता के पुरा–प्रमाण, स्थल तथा जल मार्ग द्वारा विदेशी व्यापार की विद्यमानता को स्पष्ट करते हैं। स्थल व्यापार में बलूचिस्तान का क्षेत्र महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता ज्ञात होता है। इस काल में मिश्र, एनातोलिया, क्रीट आदि स्थानों से भारतीय वस्तुओं की उपलब्धि हुई है। इस समय लोथल प्रमुख बंदरगाह था। वैदिक काल के विदेशी व्यापार के बारे में हमें साहित्यिक प्रमाणों से जानकारी ज्ञात होती है। ताम्र–पाषाण युगीन विदेशी व्यापार के बारे में पुरातात्विक प्रमाण प्रकाश डालते हैं।

बौद्ध, जैन तथा विदेशी साहित्यिक विवरण एवं पुरातात्विक प्रमाण ऐतिहासिक युग के भारतीय विदेशी व्यापार को स्पष्ट करते हैं। भरूकच्छ इस समय का प्रमुख बंदरगाह था। भारतीय व्यापार मिश्र तक होता था। मौर्यकालीन भारतीय विदेशी व्यापार के विवरण पुरातात्विक तथा साहित्यिक प्रमाणों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि राज्य द्वारा इसके विकास में योगदान दिया जाता था। शक–सातवाहन तथा कुषाण काल भारतीय विदेशी व्यापार का उत्कृष्ट युग ज्ञात होता है। स्थल तथा जल व्यापार प्रमुखता में संचालित होता था। रोम तथा भारत के मध्य प्रमुखता में आयात–निर्यात था। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत का विदेशी व्यापार पल्लवित था।

गुप्तयुगीन विदेशी व्यापार के संकेत हमें यह स्पष्ट करते हैं कि बहुमूल्य वस्तुएँ, सूती तथा ऊनी वस्त्र, नील, औषधियाँ, मसालों आदि का निर्यात होता था। पूर्व मध्ययुगीन भारतीय विदेशी व्यापार भी विकसित रूप में था। बुलीट, सोपारा, थाबा, श्रीकण्डपुरम् आदि प्रमुख बंदरगाह थे। ईरान, चीन, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि देशों के साथ भारतीय विदेशी व्यापार की जानकारी साहित्यिक प्रमाणों तथा विदेशी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होती है।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सैंधव सभ्यता के विदेशी व्यापार के बारे में आप क्या जानते हैं (250 शब्दों में)
2. प्राचीन भारतीय आयात–निर्यात का विवरण दीजिए। (250 शब्दों में)
3. 600 ई.पू. से 320 ई. तक के भारतीय विदेश व्यापार का वर्णन कीजिए। (500 शब्दों में)
4. प्राचीन भारत के प्रमुख बंदरगाहों का विदेशी व्यापार में योगदान बताइये। (500 शब्दों में)
5. कुषाणयुगीन विदेशी व्यापार के स्वरूप की विवेचना कीजिए। (150 शब्दों में)
6. गुप्तकालीन भारतीय विदेशी व्यापार पर प्रकाश डालिए। (150 शब्दों में)
7. पूर्व मध्ययुगीन साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर भारत के विदेशी व्यापार को स्पष्ट कीजिए (150 शब्दों में)।

11.9 संदर्भ ग्रन्थ

(1) जयशंकर मिश्र – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रन्थ अकादमी, पटना

(2) राधाकृष्ण चौधरी – प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास, जानकी प्रकाशन, पटना, 1986

(3) ओमप्रकाश – प्राचीन भारतीय समाज और अर्थ व्यवस्था, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1986

(4) के.सी. जैन – प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

(5) जी.एस.पी. मिश्र – प्राचीन भारतीय इतिहास एवं अर्थ व्यवस्था, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983

(6) के.डी वाजपेयी – भारतीय व्यापार का इतिहास

(7) के.डी वाजपेयी – प्राचीन भारत का विदेशों से संबंध, कमल प्रकाशन, इन्दौर

(8) एन.पी. चक्रवर्ती – इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया

(9) लल्लनजी गोपाल – दि इकॉनोमिक लाइफ ऑफ नार्दन इण्डिया, बनारस, 1972

(10) मोतीचन्द्र – ट्रेड रूट्स इन एंशिएंट इण्डिया, नई दिल्ली 1977

(11) प्रकाशचरण प्रसाद – फॉरेन ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशिएण्ट इण्डिया

(12) पी. नियोगी – दि इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ नादर्न इण्डिया, कलकत्ता, 1962

(13) ए. के सिंह – इंडो–रोमन ट्रेड–रोमन ट्रेड, पटना, 1988

(14) गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा प्राचीन भारत 1998, जैन प्रकाशन मंदिर, चौडा रास्ता, जयपुर।

इकाई 12

प्राड्. मौर्य आर्थिक जीवन, व्यापार एवं नगरीकरण (बौद्ध एवं जैन स्त्रोतों पर आधारित)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 प्राड्. मौर्य कालीन भारत

12.3 जानकारी के बौद्ध एवं जैन स्त्रोत

12.4 आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्ष

12.5 व्यापारिक परिस्थितियाँ

अ. देशी व्यापार

ब. विदेशी व्यापार

12.6 द्वितीय नगरीकरण का प्रारंभ

12.7 सारांश

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.9 संस्तुत पाठ्य–सामग्री

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के उद्देश्य निम्न हैं–

1. प्राड्. मौर्यकालीन भारत की अवधारणा को स्पष्ट करना ।
2. प्राड्. मौर्य काल की आर्थिक स्थितियों को पृष्ठभूमि स्पष्ट करना ।
3. समकालीन बौद्ध एवं जैन स्त्रोतों का विवरण देना ।
4. उन भौतिक परिस्थितियों का उल्लेख करना जिनके कारण भारत से द्वितीय नगरीकरण प्रारंभ हुआ ।
5. प्राड्. मोर्यकालीन व्यापारिक दशा का समीक्षात्मक अध्ययन करना ।
   एवं
6. तत्कालीन आर्थिक जीवन का विश्लेषण करना ।

12.1 प्रस्तावना

ईसा पूर्व की छठी सदी भारतीय जीवन में एक संक्रमणशील शताब्दी थी । सामान्यतया उत्तर भारत में यह समय षोडश जनपदों का युग माना जाता है। इन सोलह जनपदों के अतिरिक्त भी तत्कालीन उत्तर भारत में अनेक गण–राज्य एवं दक्षिण भारत में अनेक छोटे–मोटे राज्य थे। यह वह समय था जब भारत ताम्र–पाषाण एवं नवाश्म युग से निकल कर लोह युग में प्रवेश कर रहा था। नयी प्रकार की कृषि एवं औद्योगिक तकनीकों के कारण नगरों एवं ग्रामों के स्वरूप में परिवर्तन आ रहा था। भौतिक परिवर्तनों का प्रभाव मानवीय चिन्तन पर भी

पड़ रहा था। धर्म–दर्शन एवं बौद्धिक व सांस्कृतिक चिन्तन के नये–नये आयाम सामने आते चले जा रहे थे। इस वर्धित ज्ञान ने सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों का पर्याप्त रूपान्तरण कर दिया था। व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। गहरी कृषि से जो अतिरिक्त उत्पादन आने लगा, उससे ग्राम एवं नगर व्यापारिक मंडियों अथवा कस्बों के माध्यम से जुड़ने लगे। कच्चे माल की आपूर्ति ने औद्योगिक क्षेत्रों को सम्बल दिया। अतिरिक्त पक्के माल के कारण देश और विदेश में भारतीय माल की पूर्ति होने लगी। व्यापार मे आकस्मिक वृद्धि से मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था का पल्लवन हुआ। इस कारण समूची अर्थ–व्यवस्था का स्वरूप ही बदल गया।

12.2 प्राड्. मौर्य कालीन भारत

महाभारत के युद्ध के बाद सारा भारत विभिन्न जनपदों में विभक्त हो गया। छठी सदी ई. पू. में जब इतिहास क्रमबद्ध रूप से हमारे सामने से उठता है, हम सम्पूर्ण उत्तर भारत में अनेक छोटे–मोटे राज्य पाते हैं। इनमें से कुछ राज्यों में हमें राजतंत्र और कुछ में हमें गणतंत्र पद्धति दिखाई देती है। इन राज्यों में हमें 16 राज्य प्रमुख रूप से वर्णित दिखाई देते हैं। इन राज्यों के कारण इस युग के षोडश जनपदों का युग भी कहते है। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय में इन सोलह राज्यों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं–

अंग, मगध काशी, कौशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरू, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गांधार तथा काम्बोज। इसके अतिरिक्त कुछ और गणतंत्र राज्य थे जिनमें वैशाली के लिच्छवि, पावा के मल्ल, पिप्पलीवन के मोरिय कपिलवस्तु के शाक्य आदि प्रमुख थे। इन राज्यों में मुख्य रूप से मगध, कौशल, वत्स और अवन्ति के राज्य बड़े प्रभावशाली थे। मगध का राजा बिम्बसार भगवान् बुद्ध के समय मगध का राजा था। उसकी अनेक पत्नियों में से एक तो लिच्छवि राजकुमारी चेल्लणा थी तथा दूसरी कौशल के राजा प्रसेनजित् की बहिन कौशलदेवी थी। कौशलदेवी का विवाह करने पर मगध को कौशल से काशी का राज्य दहेज में प्राप्त हुआ था। बिम्बसार का सम–कालीन अवन्ति का राजा क्रोधी चण्डप्रद्योत था। बिम्बसार ने उससे मैत्री बनाये रखने का पूरा प्रयास किया। चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता ने वत्स के संगीत प्रेमी राजा उदयन से प्रेम विवाह किया था। बिम्बसार को उसके पुत्र अजातशत्रु ने सिंहासन से उतार दिया तथा लिच्छवि गणराज्य को अपना लक्ष्य बनाया। उधर कौशल–राज प्रसेनजित् को उसके पुत्र विडूडभ (विरूद्वक) ने सिंहासन से उतार दिया और स्वयं राजा बनकर शाक्य गणतंत्र पर चढ़ दौड़ा। इस प्रकार उत्तर भारत में मगध, कौशल और अवन्ति में साम्राज्य विस्तार की होड़ प्रारम्भ हो गयी। इस प्रतिस्पर्धा में मगध जनपद ने सफलता प्राप्त की और वह हर्यक, शैशुनाग, नन्द एवं मौर्य राजवंशों के आधीन क्रमश: अपना विस्तार करता हुआ एक विशाल साम्राज्य के रूप में विकसित हो गया। साम्राज्य–विस्तार की जो प्रक्रिया हर्यक वंश के मगध–शासक बिम्बसार ने प्रारंभ की थी, वह सम्राट अशोक मौर्य के समय अपने चरम परिपाक पर पहुँच गई। एक विशाल साम्राज्य के रूप में भारत के एक शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति के आधीन आ जाने से भारत के आर्थिक, व्यापारिक एवं औद्योगिक विकास के द्वार खुल गये, वित्तीय साधनों का विवेकपूर्ण विदोहन होने लगा तथा जीवन की विभिन्न विधाओं के लिये

प्रशासकीय, सामाजिक एवं आर्थिक विधान निर्मित किये गये एवं तदनुसार न्याय एवं व्यवस्था की प्रस्थापना संभव हो सकी।

12.3 जानकारी के बौद्ध एवं जैन स्त्रोत

बौद्ध–स्त्रोत – प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में बौद्ध युग के पूर्व की अनेक परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। ई.पू. 650 से 325 तक के इतिहास का पर्याप्त ज्ञान इससे मिल जाता है। इस विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी (हिन्दू सभ्यता, पृ. 323) कहते हैं–

इस साहित्य के विकास का भी इतिहास है, जो इन क्रमिक अवस्थाओं मे समझा जा सकता है, जैसा श्री राइस डेविड्स ने बताया है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग 1, अध्याय 7) (1) सिद्धांत या धर्म का सरल कथन, सुत्त या बंधे–बंधाए वाक्यों के अवतरण, जो हूबहू शब्दों में बाद के ग्रंथों में दोहराये गये हैं; (2) बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ या चुटकुले जो इसी शैली में दोहराये गये है; (3) वे पुस्तकें जो अब अस्तित्व में नही है, किन्तु बाद के ग्रंथों मे जिनके नाम या अवतरण है, जैसे सील, परायण, पातिमोक्ख आदि (4) कुछ कविताएँ, लोकगीत, या गंद्याश जो वर्तमान संग्रहों में दोहराये गये हैं; (5) चार निकाय ग्रंथ, दीध, मज्झम, संयुक्त और अंगुत्तर (अर्थात उत्तरोत्तर वृद्धिगत संख्या के क्रम से रचे हुए सूक्त जिनमें एक से लेकर ग्यारह तक वर्णित विषय की संख्या है); एक परिशिष्ट पाँचवां निकाय, जिसमें फुटकर छोटे–छोटे ग्रंथों का संग्रह है, जिसे खुद्दक निकाय कहते हैं; और सुत्त विभंग और खन्धक भी। इन सबका आनुमानिक काल बुद्ध–निर्वाण के सौ वर्ष बाद तक है; (6) सुत्तनिपात, थेर और थेरी गाथा, उदान और खुद्दक पाठ (7) जातक (केवल गाथाएँ) और धम्मपद; (8) निद्देस, इतिवृत्तक और पटिसम्भिदा; (9) पेतव और विमानव आवदान और बुद्धवंस, (10) अभिधम्म पिटक, जिसमें सबसे अन्तिम कथावस्तु और सबसे पहले की धम्मसंगणी थी।

यह प्रकट है कि इस युग का अधिकांश इतिहास चार निकाय ग्रंथों, और कभी–कभी पाँचवें निकाय से भी ज्ञात होता है, जो उस युग की रचनाएँ थीं। वे सब अशोक के समय से पहले बन चुके थे। "सामाजार्थिक स्थितियों के परिज्ञान का सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत जातक कथाएँ हैं जिनमें तत्कालीन अर्थ–व्यवस्था, वाणिज्य–व्यापार, नगर व ग्राम एवं यातायात विषयक प्रभूत सूचनाएँ भरी पड़ी हैं।

जैन स्त्रोत भी इस मामले में पीछे नहीं रहे। जैन सूत्र ग्रंथ, विशेषत: भगवती सूत्र, आचारांग, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्र कृतांग आदि, हमारे अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण सूचनाएँ जुटाते हैं।

12.4 आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्ष

बौद्ध एवं जैन स्त्रोत के माध्यम से प्राड्. मौर्यकालीन भारत की व्यापारिक एवं शहरी स्थितियों का उल्लेख करने के पूर्व उस समय के आर्थिक–जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करना अन्यथा न होगा। यह वह युग था, जब लोहे के प्रयोग के कारण कृषि का अतिरिक्त उत्पादन पूंजी के रूप में नगरों के व्यापारियों और उद्योगपतियों के हाथ मे पहुँचा।

परिणामस्वरूप उद्योगों का बड़ी तेजी से विकास हुआ। इस कारण अनेक नवीन व्यवसाय पल्लवित हुए जिनमें जुलाहा, त्वष्टा (बढ़ई), कार्मार (लोहकार), सुवर्णकार, चर्मकार, भिषंक (चिकित्सक), रथकार, कुंभकार आदि प्रमुख थे। बौद्ध ग्रंथों में वस्त्र (सूती, रेशमी एवं ऊनी) निर्माताओं, काष्ठकारों, गजदन्तकारों, आभूषण–निर्माताओं कलाल कुम्हार, मालाकार, रंगकार, गंधिक आदि का उल्लेख आता है।

क्रांति– उत्तर वैदिक काल में लोहे का प्रयोग सीखने पर भी लोहे की अल्प आवक तथा उसके कार्बनीकरण की जानकारी न होने से कई शताब्दियों तक कृषि उपकरणों के लिये उसका प्रयोग नहीं हो सका। किन्तु जब छठी सदी ई.पू. में ऐतिहासिक काल के प्रारंभ मे कृषि उपकरण लोहे के बनने लगे तो एक प्रकार से कृषि में क्रान्ति आ गयी। अभी तक कृषि योग्य भूमि प्राप्त करने के लिये वनों को जलाया जाता था। किन्तु अब उन्हें काटा जाने लगा। धीरे– धीरे खेतों को और गहरा जोता जाने लगा इसी प्रकार नदियों, कुओं और तालाबों से सिंचाई की व्यवस्था होने लगी। परिणामत: सघन कृषि करना भारतीयों को आ गया। कृषि की उन्नति व भूमि के विकास का यह सिलसिला आगे बढ़ता गया। सिंचाई के साधनों का प्रयोग बढ़ गया। कृषि, भूमि–स्वामित्व, पशुपालन, वनोपज आदि विषयक राजकीय नियम बनाये जाने लगे।

कृषि और उद्योगों की उन्नति में व्यापारिक प्रगति भी निहित होती है। प्राचीन भारतीय व्यापार तत्कालीन विश्व के सभी देशों के व्यापार का सिरमौर रहा। छठी सदी ई.पू. के कुछ पहले मुद्रा का प्रचलन प्रारंभ हो गया प्रतीत होता है। पूर्व में अर्थ–व्यवस्था वस्तु–विनिमय प्रणाली पर आधारित थी। इसके उपरांत भारत में कुछ शताब्दियों तक आहत सिक्के बने तथा उसके बाद ढले हुए सिक्के। इससे अर्थ–व्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ मौद्रिक हो गया।

श्रेणी–प्रणाली– प्राचीन भारतीय उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र की एक प्रमुख विशेषता उस समय का संगठित जीवन था। एक ही प्रकार का कार्य करने वाले या समानधर्मी शिल्पीजन अपना एक संगठित समूह बना लेते हैं। एक उन्नतिशील एवं सुसभ्य समाज की यह पहिचान होती है। प्राचीन काल में ऐसे संगठित समूहों को उनके कार्य व स्वरूप के अनुसार कुल, गण, पाषण्ड, पूग, निगम, संघ, व्रात आदि नामों से पुकारा जाता रहा। व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र में ऐसे समूहों को "श्रेणी" नाम दिया गया छठी शती ई.पू. के पूर्व संगठित जीवन तो भारत में रहा किन्तु श्रेणी प्रणाली इस काल से ही प्रारंभ हुई जो समूचे प्राचीन भारत में न्यूनाधिक रूप से इसके बाद विद्यमान रही। बौद्ध ग्रंथों, धर्म शास्त्रों तथा कई अभिलेखों में श्रेणियों का उल्लेख आया है जातक कथाओं में 18 प्रकार की श्रेणियों का विवरण मिलता है। भारत के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में श्रेणी संगठनों का बड़ा महत्व रहा। इन संस्थाओं के अपने विधान होते थे। श्रेणी के सदस्य संचालकों की नियुक्ति या चुनाव करते थे। इन श्रेणी प्रमुखों को श्रेष्ठी, सेट्टि या जेट्ठक कहा जाता था। ये संगठन एक प्रकार से स्वायत्त संस्थाएं होती थीं। राज्य द्वारा इनके नियमों को मान्यता प्राप्त होती थी किन्तु ये अवैध एवं राज्य–विरोधी कार्य नहीं कर सकती थीं। श्रेणी के सदस्यों में मतभेद की स्थिति में राज्य के हस्तक्षेप करने या मध्यस्थ बनने की अधिकार था। बौद्ध एवं जैन ग्रंथों का इन श्रेणियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ये श्रेणियाँ प्रमुख रूप से वस्त्र–निर्माण, ऋण देना व धन जमा करना, काष्ठ–कला, हाथी–दाँत का काम, धातु–शिल्प, कुभंकारी, तेल उद्योग, यातायात के सार्थ, सामूहिक निर्माण, सामूहिक व्यापार आदि क्षेत्रों में कार्यरत थीं ।

<u>यातायात के साधन</u> :– प्राचीन भारतीय व्यापार थल, जल व तटीय मार्गों द्वारा सम्पन्न होता रहा। थल मार्गों पर यातायात के प्रमुख साधन हाथी, बैल, घोड़े, गधे, ऊँट, खच्चर आदि भारवाही पशु, पालकी, रथ, बैलगाड़ी, आदि थे। दूरस्थ स्थानों पर यात्री और माल का गमनागमन रथों और बैलगाड़ियों से युक्त सार्थो (काफिलों) द्वारा होता था। सार्थ के प्रमुख को सार्थवाह कहते थे। अनेक स्थानों पर जो मिट्टी के खिलौने, पत्थर पर उत्कीर्ण दृश्य तथा प्राचीन चित्र मिले हैं, उनसे उस समय के यातायात के इन साधनों के आकार–प्रकार व उपयोगिता पर अच्छी जानकारी मिलती है। जल यातायात कई प्रकार की नावों एवं जहाजों द्वारा सम्पन्न किया जाता था। ये साधन प्रारंभ में डांडदार होते थे। एक यूनानी पर्यटक हिप्पालस ने मानसून हवा का क्रम खोज निकाला। इस कारण भारतीय समुद्र पर पालदार वाहन तैरने लगे। जातक कथाओं में भारतीय व्यापारियों एवं साहसियों के विदेश व्यापार एवं नौकायन का उल्लेख प्राप्त होता है। नावों द्वारा नदियों एवं तटों पर यातायात सम्पन्न होता था जबकि बड़े जहाज समुद्रीमार्गों द्वारा विदेशी व्यापार करते थे। नाविकों एवं व्यापारियों को जल एवं थल मार्गों पर अनेक प्राकृतिक एवं मानवीय आपदाओं का सामना करना होता था।

<u>व्यापार–मार्ग:</u>– बुद्ध काल तक आते– आते भारत में अनेक प्रसिद्ध राजमार्ग निर्मित हो चुके थे। मौर्य काल में अनेक प्रकार की सड़कें बनायी गयी तथा प्रमुख नगरों को इनसे उपमार्गों द्वारा जोड़ने का प्रयास किया गया। जैसे–जैसे नगरीकरण एवं वाणिज्य का विकास होता गया, यह प्रक्रिया और भी घनीभूत होती चली गई।

प्राचीन काल के कुछ प्रमुख थल मार्गों का परिचय अन्यथा न होगा। उत्तरापथ का महामार्ग पाटलिपुत्र (पटना) के तक्षशिला से जोड़ता था इस मार्ग पर कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी, मथुरा, हस्तिनापुर आदि नगर स्थित थे। इस महामार्ग से ताम्रलिप्ति, चम्पा, श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली कपिलवस्तु, उज्जैन, अहिच्छत्रा, कान्यकुब्ज, सागल आदि नगरों से सड़कें आकर मिलती थीं छठी सदी ई.पू. तक इनमें से अधिकांश नगर तेजी से विकसित हो चुके थे। जनपदों के प्रमुख प्रशासकीय स्थल, तीर्थस्थल अथवा महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र होने से ऐसा हुआ था। दक्षिणापथ का मार्ग पाटलिपुत्र को दक्षिण के एक प्रमुख नगर प्रतिष्ठान से जोड़ता था। इस मार्ग पर कौशाम्बी, भरहुत, देवगढ़, विदिशा, गोनर्द, उज्जैन, माहिष्मती आदि नगर पड़ते थे। उज्जैन से दो मार्ग और भी जाते थे। एक तो उस समय के महान् बन्दरगाह भृगकच्छ (भड़ौच) तक जाता था। यह मार्ग वहाँ सिंध की ओर चला जाता था। दूसरा मार्ग उज्जैन को मथुरा से मिलाता था।

तक्षशिला से एक मार्ग पुरूषपुर (पेशावर) तथा पुष्कलावती होता हुआ अफगानिस्तान की ओर जाता था। वहाँ से वह कई भागों में विभक्त होकर पश्चिम और मध्य एशिया के नगरों से होता हुआ यूनान व मिश्र तक पहुँचता था पूर्व में एक मार्ग पाटलिपुत्र से पूर्वीभारत के प्रमुख बन्दरगाह ताम्रलिप्ति तक जाता था। इस मार्ग से जुड़ा एक अन्य मार्ग पूर्वी–बंगाल के चम्पा

नामक नगर से होता हुआ बर्मा व मलाया प्रायद्वीप को चला जाता था। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि भारत के दक्षिण पूर्व में स्थित सुवर्णद्वीप, काम्बोज, भवद्वीप आदि कई देश प्राचीन काल में बहुत समय तक भारत के राजनीतिक, व्यापारिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव में रहे थे। एक पथ पश्चिम की ओर सिंधु सौवीर तक जाता था। इस स्थिति के कारण पश्चिमी व पूर्वी तट पर अनेक बन्दरगाह अस्तित्व में आ गये थे।

विदेश के साथ सामुद्रिक व्यापार की प्रमाण–सामग्री अपेक्षाकृत कम मिलती है, किन्तु वह निश्चित रूप से था। उल्लेख है कि राजकुमार महाजनक चम्पा से सुवर्ण भूमि, महिन्द पाटलिपुत्र से ताम्रलिप्ति और वहाँ से सिंहल गये थे। एक जगह कहा गया है कि बढ़इयों का सारा गांव बयाना लेकर माल तैयार न करने की त्रुटि से बचने के लिये रातों–रात बनारस से गंगा के रास्ते एक बड़े जलयान में बैठकर समुद्र की ओर भाग गया। एक चतुर कर्णधार समुद्र के उस पार से भारत आने वाले यात्रियों को पोत में बिठाकर गंगा के रास्ते से बनारस तक ले आया। कुछ व्यापारी भरूकच्छ से चलकर भारतीय समुद्र–तट के किनारे सुवर्ण–भूमि पहुँच गये थे और मार्ग में सिंहल के एक जलपतन में ठहरे थे। पत्तन में नया माल लादकर आये हुए पोत पर माल खरीदने के लिये सौ व्यापारियों के एकत्र होने का उल्लेख है।

उस युग के जलयान सैकड़ों यात्रियों की यात्रा के लिये पर्याप्त होते थे। कई अभागे जलयानों पर पाँच सौ व्यापारियों के यात्रा करने का उल्लेख आता है। सुप्पारक के कुशल नियामकत्व मे सात सौ यात्रियों की नौ–यात्रा का उल्लेख है।

12.5 व्यापारिक परिस्थितियाँ

प्राड्. मौर्यकालीन अर्थ – व्यवस्था ने उस समय के व्यापार एवं वाणिज्य को पर्याप्त प्रभावित किया था एतद् विषयक विवेचन समीचीन होगा।

देशी व्यापार :– आलोच्य काल के देशी–व्यापार एवं वाणिज्य पर बौद्ध एवं जैन साहित्य द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। विभिन्न ग्रामों, कस्बों एवं नगरीय बस्तियों मे विभिन्न प्रकार के व्यापारी–गण या व्यापार श्रेणियाँ आन्तरिक व्यापार में संलग्न थे। बड़ी बस्तियों में बाजार होते थे जिनमें विविध माल के क्रय–विक्रय हेतु दुकानें होती थीं। इन दुकानों पर व्यापारी–गण थोक एवं फुटकर दोनों ही आधारों पर विपणन करते थे। नगर और ग्रामों के मध्य होने वाले व्यापार में बिचौलिये अपनी भूमिका निर्वहन करते थे । कुछ विशिष्ट स्थान व्यापारिक मण्डियों के रूप में विकसित हो चुके थे जहाँ से खुदरा व्यापारी अपना पसन्दीदा माल खरीदते थे। मौद्रिक प्रणाली के तेजी से विकसित होने पर वाणिज्य एवं व्यापार पर्याप्त सुविधाजनक हो गया था। कृषि–उत्पादन अतिरिक्त रूप से होने के कारण ग्रामीण जिन्सें व कच्चा माल शहरों में पहुंचने लगा था। बदले में शहरी उद्योग उनके लिये पर्याप्त पक्का माल बाजार में ले आते थे। वर्धित व्यापार, उद्योग एवं वाणिज्यीय परिस्थितियों के कारण व्यापार मार्ग एवं आवागमन के साधनों का भी पर्याप्त विकास हो गया था। इस कारण देशी व्यापार व विदेशी व्यापार एक दूसरे के पूरक हो गये थे।

देश का आन्तरिक व्यापार स्थल व जल दोनों मार्गो द्वारा होता था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थो (काफिलों) द्वारा होता था। बहुत से व्यापारी परस्पर मिलकर सार्थो में व्यापार

किया करते थे। सार्थ का प्रमुख सार्थवाह होता था। उस समय मार्ग वनों से आवृत थे, वे बहुत सुरक्षित न थे। मार्ग में लुटेरे भी होते थे। अत: व्यापारी लोग मार्गों पर एक साथ बड़े–बड़े समूह बनाकर व्यापार के लिये जाया करते थे। जातक कथाओं मं इन सार्थो और उनकी यात्राओं के वर्णन मिलते हैं। उनके सार्थ मे तो 500 से लेकर 1,000 तक बैल गाड़ियाँ होती थीं। मार्ग की व्यवस्था एवं सुरक्षा आदि को दृष्टि में रखकर नेतृत्व के लिये ये व्यापारी लोग अपना नेता चुन लेते थे, वही सार्थवाह कहलाता था । मार्ग की व्यवस्था के लिये एक अन्य अधिकारी थल नियामक कहलाता था, जो मार्ग में जंगली पशु, डकैतों और भूत–प्रेत आदि से रक्षा की व्यवस्था करता था और खाने–पीने का भी प्रबंध करता था । जातकों में इन व्यापारियों के मार्ग मे लूट–जाने का भी वर्णन आता है ।

विभिन्न जातक कथाओं में जो विवरण आया है, उसके अनुसार डाकुओं के समूह या ग्राम होते थे जो मार्गो में व्यापारियों और उनके सार्थो की लूटमार करते रहते थे । इस कारण सार्थो को अपनी रक्षा करने के लिये अपने साथ रक्षक–दल रखने होते थे । फिर भी व्यापारियों के संकट कम नहीं थे । उन्हें मानवीय खतरे के साथ–साथ प्राकृतिक आपदाओं, वन्य व विषैले जीव–जन्तुओं, पैशाचिक तत्वों एवं भ्रष्ट राज–कर्मचारियों का सामना करना होता था । सार्थो का लाभ जितना अधिक होता, जोखिम भी उतनी अधिक होती । कई बार इन क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान सार्थो को नहीं होता था । इस कारण मार्ग–दर्शक नियामकों का सहारा लेना पड़ता था । नियमित राज–मार्गो पर छायादार वृक्ष शुद्ध जल के स्त्रोत एवं व्यापारियों के लिये विश्राम–स्थल होते थे । राज्य की ओर से मार्गो की सुरक्षा व चुंगी वसूली का प्रबंध भी रहता था । भारवाही पशुओं एवं बैलगाड़ियों का किराया भी निर्धारित रहता था ।

आंतरिक व्यापार की दृष्टि से अनेक महत्वपूर्ण व्यापार–केन्द्रों का उल्लेख आवश्यक है। ऐसे केन्द्रों में राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, साकेत, वाराणसी, चम्पा, कुशीनगर, पावा, मिथिला, कौशाम्बी, काम्पिल्य, प्रयाग, कान्यकुब्ज, मथुरा, तक्षशिला, गांधार, पांचाल आदि उत्तर भारतीय तथा पैठन, अश्वक, सुप्पारा आदि दक्षिण भारतीय नगर उल्लेखनीय है।

आंतरिक व्यापार के सिलसिले में जिन प्रमुख वस्तुओं का उल्लेख आवश्यक है, उनमे सूती व ऊनी वस्त्र, कृषि–उपज, हाथी–दांत, पशु–पक्षी, काष्ट–सामग्री, वनोपज, औषधियाँ चन्दन व अगरू, तेल व घी, खनिज पदार्थ, कीमती रत्न, आयुध मध व सुरा, लवण व मसाले, मिट्टी एवं धातु के बर्तन, चमड़े की वस्तुएँ आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं । इन पदार्थो की औद्योगिक क्षेत्र में भी मांग रहती थी । उद्योगों द्वारा उत्पादित माल की देश–विदेश मे भारी मांग रहती थी ।

ब. विदेशी व्यापार:– आलोच्य काल आंतरिक एवं बाह्य दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध था। लोह युग के आगमन के परिणामस्वरूप अतिरिक्त कृषि उत्पादन, घनीभूत आन्तरिक व्यापार, व्यापार–मार्गो का सुगठन, सुधरे हुए यातयात के साधन, वर्धित एवं विशिष्टीकृत उद्योगों के कारण भारतीय साहसियों में विदेश व्यापार की लगन एवं ललक पैदा हुई । विदेशों से होने वाले भारी लाभ ने भी उन्हें प्रोत्साहित किया । पूर्वी एवं पश्चिमी देशों में भारतीय माल की भारी

मांग भी भारतीय व्यापारियों और उद्योगपतियों की सतत प्रेरणा दे रही थी । पश्चिमोत्तर भारत में पर्याप्त समय तक ईरानी शासन रहने के कारण भारत और ईरान और ईरान के रास्ते अन्य पश्चिमी देशों से भारत के व्यापार सम्बन्ध पर्याप्त विकसित हो गये थे । यह वह समय था जब समुद्री मार्ग से व्यापार करना व्यापारियों व नाविकों के लिय अधिक सुविधाजनक हो गया था । जलवायु व प्राकृतिक परिस्थितियों के वर्धित ज्ञान एवं तकनीकी विकास के कारण ऐसा संभव हो रहा था ।

समकालीन बौद्ध एवं जैन साहित्य में समुद्री मार्ग से जहाजों एवं नावों से यात्रा के अनेक प्रसंग प्राप्त होते थें । तत्कालीन भारतीय जहाजों के जो वर्णन मिलते हैं उनसे पता चलता है कि वे तख्तों (पदरानि) के बने होते थे । उनमें रस्से (योत्तानि), मस्तूल (कूपक) तथा लंगर (लकार) होते थे । किसी–किसी जहाज में तीन मस्तूल तक होते थे । कभी–कभी ज्वार (सागर वारिवेग) या तूफान (अकालवात) के कारण जहाज समुद्र (महासमुद्द) में डूब जाया करते थे । यद्यपि चतुर मांझी बराबर इस बात का प्रयत्न करते थे कि कोई दुर्घटना न होने पावे और जहाज अपने गंतव्य स्थान तक पहुँच जाय तो भी दुर्घटनाएँ हो ही जाया करती थीं । पंडर जाताक (सं. 518) में वर्णन आया है कि किस प्रकार 500 यात्री एक जहाज में बैठकर 17 दिन की लगातार यात्रा के बाद जब बीच समद्र में पहुँच तब जहाज दुर्भाग्यवश टूट गया और सभी यात्री रसातल को जा पहुँचे । इस प्रकार की दुर्घटनाएँ तूफान के कारण या जहाज के कड़ी चट्टानों से टकराने के कारण हो जाया करती थी ।

जल यात्राएँ दो प्रकार की होती थीं । नावों या छोटे जहाजों के माध्यम से तटीय या कम दूरी की यात्राएं सम्पन्न की जाती थीं । ऐसी यात्राओं के माध्यम से आन्तरिक व्यापार के साथ–साथ निकटवर्ती देशों से विदेशी व्यापार हो जाता था । ऐसे जल–मार्ग आंतरिक थल एवं नदी–मार्गो से जुड़े रहते थे । विभिन्न मार्गो के संधि –स्थल पर उपयोगी बन्दर नगर स्थापित हो जाते थे ।

दूसरे प्रकार की दीर्घ यात्राएँ होती थीं । ऐसी यात्राओं को पूरा करने में कुछ सप्ताहों से लेकर कई–कई माह तक लग जाते थे । जातक कथाओं में ऐसी अनेक यात्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है । ऐसी यात्राओं में उपयोग में आने वाले जहाज बड़े, मजबूत एवं अधिक सुविधा–सम्पन्न होते थे । इनके नाविक बड़े कुशल, परिश्रमी और अनुभवी होते थे । ये जल–मार्गो से परिचित तो होते ही थे, नक्षत्र–विज्ञान, मार्ग–दर्शन पक्षियों एवं क्षेत्रीय अनुभवी विशेषज्ञों का समुचित सहयोग भी लेते थे । भारतीय एवं विदेशी व्यापारी दीर्घ यात्राओं से भरपूर लाभ कमाते थे । इन माध्यमों से भारतीय व्यापारी यूनान, मिश्र, बाबुल (बेवीलोन), अरब, एशिया माइनर, ईरान आदि देशों तक पहुँचते थे । जहाँ के बाजारों में भारतीय माल की भारी मांग रहती थी । इन बाजारों तक पहुँचने के लिये थल–मार्ग भी प्रयुक्त होते थे । सिंध, पंजाब, बिलूचीस्तान, अफगानिस्तान, बल्ख आदि देशों से होते हुए ये थल मार्ग दूरस्थ पश्चिमी देशों तक पहुँच जाते थे ।

व्यापार–मार्गो के खतरे कम नहीं थे । प्राकृतिक विपदाएँ, समुद्री ज्वार– भाटे, मार्ग का भटकाव, युद्ध एवं उपद्रव, शासकों का असहयोग, दस्युओं की लूट–मार, प्रतिस्पर्धी व्यापारियों

द्वारा पैदा की जाने वाली बाधाएँ, वैल, व विषैले जीवों का खतरा, रोग–शोक आदि समस्याएँ बनी रहती थीं और उनका व्यापारी एवं नाविक हिम्मत से सामना करते थे ।

लगभग कुछ ऐसी ही स्थिति पूर्वी देशों के साथ होने वाले व्यापार की भी थी । इस समय भारतीय धीरे– धीरे पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी देशों के सम्पर्क में आ रहे थे । व्यापार–सम्बन्ध भी प्रारंभ हो गये थे । , चम्पा, इण्डोचीन, यवद्विप आदि क्षेत्रों में प्रारंभिक समुद्री–यात्राएँ भारत के पश्चिमी तट स्थित भृगकच्छ आदि बन्दरगाहों से होती थीं । पहले तो ये जहाज तटों के साथ–साथ जाने लगे । कुछ साहसी नाविकों ने सीधे पहुँच का मार्ग चुन लिया । इन नाविकों का संकट बड़ा गहरा था । थोड़ी भी चूक होने पर ये विभिन्न द्वीपों मे रहने वाले मनुष्य–भक्षकों की क्षुधा या आदिवासी सुन्दरियों की हवस का शिकार होकर अपने प्राण गंवा बैठते थे । पूर्वी देशों में अपनी व्यापारिक पैठ जमाने में भारतीय व्यापारियों को सदियाँ लगी थीं।

<u>आयात–निर्यात–</u> जैन एवं बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन से भारत के आयात व निर्यात की वस्तुओं की निम्न सूची प्रस्तुत की जा सकती है–

<u>आयात</u>– स्वर्ण–रजत आदि कीमती धातुएँ, रसायन, अश्व, दास–दासी, रेशम, मदिरा, सूखे मेवे आदि।

<u>निर्यात</u>– सूती वस्त्र, चंदन, अगरू, मसाले, आभूषण, लोहे के अस्त्र–शस्त्र, हाथी–दांत का सामान खाद्यान्न, सुगन्धित पदार्थ, पशु–पक्षी, काष्ट–सामग्री, औषधियाँ आदि ।

<u>महत्वपूर्ण व्यापार–केन्द्र–</u> विदेशी व्यापार में उस समय व्यस्त भारतीय बन्दरगाह थे

भृगकच्छ (भड़ौच), सुप्पारक (सुपारा), तम्बपन्नी (ताम्रपर्णी) थे ।

प्रमुख आंतरिक व्यापारिक–केन्द्र थे–

राजगृह, वैशाली, कौशाम्बी, उज्जयिनी, प्रतिष्ठानपुर, तक्षशिला, सागल, मथुरा, वाराणसी आदि ।

तत्कालीन भारत के देशी और विदेशी व्यापार इस समय पर्याप्त व्यवस्थित, व्यापक एवं संगठित था । इस कारण काफी कुछ कहा जाना फिर भी शेष रहा है ।

12.6 द्वितीय नगरीकरण का प्रारंभ

सैंधव सभ्यता ने भारत में प्रथम नगरीकरण का दृश्य उपस्थिति किया था । हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, चन्हूदाड़ो, कालीबंगा लोथल, धोला वीरा आदि इसके ज्वलंत प्रमाण हैं । सैंधव सभ्यता के पतन के साथ ही प्रथम नगरीकरण का पतन हो गया । प्रथम एवं द्वितीय नगरीकरण के मध्य यद्यपि अनेक ताम्राश्मयुगीन संस्कृतियाँ पल्लवित हुई किन्तु शहरीकरण की पुन : प्रक्रिया लोह युग के आगमन से ही प्रारंभ हुई । भारत में लोह युग का प्रारंभ गंगा घाटी मे हुआ । कालान्तर मे इसका प्रसार निकटवर्ती क्षेत्रों में हुआ । लोह–प्रौद्योगिकी ने भारतीय कृषकों को उन्नत एवं गहरी खेती करना सिखाया । परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन की संभावना का द्वार खुल गया । मंडियों में कच्चे माल की मांग बढ़ गयी, जिसकी आपूर्ति ग्रामीण क्षेत्रों के अधिशेषों से होने लगी । इसी बीच लौह–उपकरणों द्वारा नये एवं लम्बे

व्यापार–मार्गो का निर्माण संभव हो चला । पहियों पर लोह–पट्टिकाओं के आवरण से यातायात के मजबूत एवं द्रुतगामी साधन विकसित हो गये । इन व्यापार–मार्गो एवं यातायात के साधनों ने व्यापार मंडियों अथवा गमनागमन के केन्द्रों को नगरों का रूप दे दिया । इनमें से अनेक विभिन्न जनपदों के राजनीतिक एवं प्रशासकीय मुख्यालय भी बन गये । इन जन–संकुल केन्द्रों ने धीरे– धीरे बड़े नगरों का रूप ले लिया । मध्य गंगा के किनारे बसे कौशाम्बी, वाराणसी, खेराडीह, वैशाली, राजगृह, चम्पा आदि नगर सहसा विकसित नहीं हुए । विकास के प्रारंभिक सोपान में इन नगरों में मिट्टी एवं काष्ट के मकान निर्मित होते रहे । इस काल के प्रमुख भारतीय नगरों में चम्पा राजगृह, काशी, श्रावस्ती, वैशाली, कौशाम्बी, उज्जैन, मथुरा, पाटलिपुत्र, तक्षशिला, अहिच्छत्रा काम्पिल्य, कान्यकुब्ज, उज्जैन, प्रतिष्ठानपुर (पैठन), भृगकच्छ आदि थे । अनेक छोटे–मोटे गणराज्य भी इस काल में अस्तित्व में थे, जिनके प्रशासकीय मुख्यालय भी नगरीकरण का आभास दे रहे थे ।

इन नवीन नगरों के निर्माण व अस्तित्व की कहानी बहुत कुछ बौद्ध–जातकों एवं जैन सूत्र–ग्रंथो से हो जाती है । इस नगरीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्न रहीं–

1. यह नगरीकरण छठी सदी ई. पू. से प्रारंभ होकर गुप्त काल तक लगभग एक सहसाब्दी तक अस्तित्व में रहा ।
2. नगरीकरण की प्रारंभिक स्थिति मिट्टी व काष्ट निर्मित मकानों से हुई । कालान्तर में प्रस्तर के मकान एवं प्राकार बनने लगे ।
3. इन नगरों का स्वरूप अधिकांशत: व्यापारिक, औद्योगिक एवं प्रशासकीय रहा ।
4. इन नगरों में औद्योगिक बस्तियाँ, व्यापारिक मण्डियाँ व्यापार श्रेणियाँ, विभिन्न वस्तुओं की दुकानें या वीथियाँ आदि होते थे ।
5. नगरों का प्रबंधन राज्य संभवत : स्थानीय जन–प्रतिनिधियों के सहयोग से करता था,
6. ये नगर परस्पर थल अथवा नदी मार्गो से जुड़े होते थे, इन्हीं मार्गो से देशी एवं विदेशी व्यापार संभव होता था ।
7. समुद्र–तट के व्यापारिक नगरों ने बन्दरगाहों का रूप ले लिया था ।
8. ये नगर निकटवर्ती ग्रामों की अतिरिक्त उपज के खरीददार एवं स्थनीय, उद्योगों द्वारा निर्मित सामग्री उन तक पहुँचाने वाले विक्रेता होते थे ।
9. ये नगर यातायात के केन्द्र होते थे ।
10. इन नगरों में विनिमय का माध्यम क्रमश: मौद्रिक प्रणाली होती जा रही थी । प्रारंभिक मुद्राएं आहत सिक्कों के रूप में थीं ।
11. भौतिक विकास के साथ–साथ अभौतिक संस्कृति का नये सिरे से विकास भी इन नगरों में हुआ । लोगों में लिपि एवं वाड् मय विषयक चेतना जाग्रत हुई । अनेक नवीन धर्मो व सम्प्रदायों का उदय हुआ, आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन सामने आये । एक नये प्रकार की बौद्धिक एवं धार्मिक क्रान्ति का प्रारंभ हुआ ।

12.7 सारांश

लौह युग के आगमन के साथ ही भारत में एक नवीन भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति का युग प्रारंभ हुआ । लोहे के प्रयोग ने बाहरी और भीतरी जीवन मे पर्याप्त रूपान्तरण कर डाला । कृषि–क्रान्ति ने उत्पादन काफी बढ़ा दिया था । इस कारण व्यापार एवं उद्योगों का पर्याप्त पल्लवन हुआ । यातायात के साधन विकसित हुए । देशी एवं विदेशी व्यापार की धूम मच गयी । जल व थल मार्गो से व्यापार– श्रेणियाँ एवं सार्थ व्यापार करने लगे । मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था प्रारंभ हुई । नये सिरे से नगरों का विकास हुआ । द्वितीय नगरीकरण के युग का प्रारंभ हुआ । बदली हुई परिस्थितियों में सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक नवोन्मेष प्रारंभ हुआ जिसने बौद्धिक एवं धार्मिक क्रान्ति का रूप ले लिया । अनेक आस्तिक एवं नास्तिक धर्म एवं दर्शन सामने आये । लोगों के सोच एवं व्यवहार में वैज्ञानिकता का पुट आ गया।

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जैन एवं बौद्ध ग्रंथों से प्राड् मौर्यकालीन अर्थ–व्यवस्था पर क्या प्रकाश पड़ता है?
2. "प्राड्.मौर्य भारत भौतिक एवं अभौतिक संस्कृतियों का मिलन–काल था ।" इस कथन पर अपनी टिप्पणी दीजिए ।
3. बौद्ध एवं जैन स्त्रोतों ने प्राड्.मौर्य भारत के व्यापार पर क्या प्रकाश डाला है?
4. प्राचीन भारत में द्वितीय नगरीकरण किन परिस्थितियो में संभव हुआ?
5. आलोच्य काल में भारत के आयात–निर्यात पर अपने विचार व्यक्त कीजिए ।
6. प्रारंभिक बौद्ध साहित्य ने प्राचीन भारतीय व्यापार–मार्गो पर क्या प्रकाश डाला है?

12.9 संस्तुत अध्ययन सामग्री

1. शर्मा रामशरण: प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ
2. मोतीचन्द्र : सार्थवाह
3. वाजपेयी कृष्णदत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास
4. मुकर्जी राधाकुमुद : हिन्दू सभ्यता
5. निगम श्यामसुन्दर : भारत का नवीन इतिहास
6. राधेशरण : भारत की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना एवं संस्कृति के मूल तत्व
7. रिज डेविड्स : बुधिस्ट इण्डिया
8. दुबे सीताराम (सं.) : प्राचीन भारतीय संस्कृति
9. ठाकुर व्ही. के. : अर्बनाइजेशन इन ऐशियण्ट इण्डिया ।
10. गौत्तम एवं डा. कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत

इकाई 13

प्राचीन भारत मे व्यापार एवं नगरीकरण का एतिहासिक सर्वेक्षण (मौर्य–शुंग–कुषाण काल उत्तरी भारत)*

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 व्यापारिक विकास की संभावनाएं
13.3 व्यवसायियों व व्यापारियों के संगठन
13.4 देशीय व्यापार एवं मुख्य मार्ग
13.5 विदेशी व्यापार और प्रमुख जल मार्ग व स्थल मार्ग
13.6 व्यापार का प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव
13.7 सारांश
13.8 अभ्यासार्थ
13.9 संदर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य:

इस इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में व्यापार के विकास की संभावनाओं के बारे में पता करना और व्यापार को पनपाने वाले सहायक तत्वों की जानकारी करना है ।

व्यापार के लिए आवश्यक धन एवं सामग्री जुटाये जाने और वाणिज्य व्यापार के लिए उस काल में प्रयुक्त साधनों का भी हम अध्ययन करेंगे ।

प्राचीन काल में भी व्यापार का दायरा सीमित नहीं था अत : तत्कालीन साहित्य में वर्णित व्यापारिक मार्गों के बारे में चर्चा आवश्यक है ।

व्यापार की उन्नति ने प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था को प्रभावित किया था हमें यह अध्ययन करना है कि व्यापार ने किन किन पक्षों पर प्रभाव डाला । इस प्रकार हम इस इकाई द्वारा प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था में वाणिज्य व्यापार के महत्व पर चर्चा करेंगे और यह देखेंगे कि व्यापार की नगरों के विकास में क्या भूमिका रही ।

13.1 प्रस्तावना

मोर्यकाल के दौरान पनपे व्यापार एवं वाणिज्य के अध्ययन हेतु तत्कालीन साहित्य एवं पुरातात्विक साक्ष्यों को आधार बनाना होगा । व्यापार सम्बन्धी कई आख्यान जैन एवं बौद्ध ग्रंथों में आये है । बौद्ध जातक कथाओं एवं मिलिन्दपन्हों ने दूर दूर तक व्यापारियों के जाने की चर्चा की है । कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विविध व्यवसायों एवं व्यापारिक गतिविधियों का विस्तृत विवरण दिया है । व्यापार व वाणिज्य को नियंत्रित करने वालें अधिकारियों की लम्बी सूची भी अर्थशास्त्र में दी गई है । भारत का विदेशों से व्यापार एवं बाहरी महलावरों, व्यापारिक लोगों के आगमन तथा लोगों द्वारा अपनाये गये भिन्न भिन्न व्यवसायों का वर्णन मनुस्मृति में मिलता है । उस काल को विविध संस्कृतियों के मिश्रण एवं ततज्जनित संक्रमण का युग कह सकते हैं

। भारत से लोग बाहर जाने लगे, विदेशियों का बड़ी संख्या में भारत में आगमन हो रहा था । इन परिस्थितियों में समाज में व्यवस्था बनी रहे, तथा अराजकता और उछृंखलता नहीं पनपे, ब्राह्मण ग्रंथकारों के लिए चिंता के विषय थे । इन दिनों कई नये व्यवसायों का प्रादुर्भाव हुआ था । लोग विविध शिल्प व्यवसायों द्वारा धनार्जन में लगे हुए थे । मेगस्थनीज की इण्डिका के आधार पर परवर्ती यूनानी लेखकों ने भारत की अर्थव्यवस्था और व्यापार वाणिज्य की चर्चा की है । इसी प्रकार पेरिप्लस ने भारत के व्यापारियों के दूर दूर तक व्यापार पर जाने का उल्लेख किया है । चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद हमें आभिलेखिक साक्ष्य बड़े पैमाने पर मिलने लगते हैं । अशोक के अभिलेखों में राज्य के कई प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन आया है । एवं इनसे कई व्यावसायिक गतिविधियों का भी ज्ञान होता है । इसी प्रकार जैसे नहपान के नासिक अभिलेख से जानकारी मिलती है कि उसके दामाद उषवदात ने जुलाहों की दो श्रेणियों के पास 3000 कार्षापण अक्षयनीवि (फिक्स डिपाजिट) के रूप में जमा किये थे । एक जुलाहों की श्रेणी 2000 कार्षापण पर 1 कार्षापण प्रति सैकड़ा प्रतिमाह और दूसरी 1000 कार्षापण पर 3/4 प्रति सैकड़ा प्रतिमाह ब्याज देती थी । दो हजार कार्षापण का ब्याज भिश्तिओं के वस्त्रों पर खर्च किया जाता था और एक हजार का ब्याज उनके अन्य व्यय के लिए रखा गया । ये शर्तें नगर के लेखा कार्यालय में पंजीकृत कर दी गई थीं । जुन्नर के कई अभिलेखों में श्रेणि संगठनों में विनियोजित की गई राशि का उल्लेख आया है । इस अभिलेखिक विवरण से जुलाहों की श्रेणियों, मुद्राप्रणाली, ब्याज दर, व्यापार एवं प्रशासनिक नियंत्रण आदि तथ्यों का ज्ञान होता है । इस प्रकार तत्कालीन बौद्ध, जैन एवं ब्राह्मण साहित्य के आधार पर इस काल के व्यापार, वाणिज्य तथा प्रमुख व्यापारिक मार्गो की जानकारी की जा सकती है ।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विविध स्त्रोंतों के आधार पर डा. रामशरण शर्मा, लल्लन जी गोपाल, पो. रोमिला थापर, डा. जय शंकर मिश्र आदि ने प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था व्यापार – वाणिज्य के इतिहास लेखन का महत् कार्य किया है । इन्हीं विद्वानों के विविध ग्रंथों, तत्कालीन साहित्य तथा पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर मौर्यकाल से कुषाणकाल तक के व्यापार – वाणिज्य एवं प्रमुख व्यापारिक मार्गो का अध्ययन करेंगे ।

13.2 व्यापारिक विकास की संभावना

भारत के लोग बाहरी देशों से व्यापार करते रहे है इस आशय के संकेत ऋग्वेद में ही मिलने लगते है, किन्तु भारत के लोग किन–किन देशों में व्यापार हेतु जाते थे इसका विवरण वैदिक ग्रंथों में नहीं मिलता । उत्तर वैदिक साहित्य में दूर देशों में व्यापार हेतु जाने वाले लोगों के लिए पणि शब्द आया है और पण्य सिद्धि नामक धार्मिक क्रिया की चर्चा मिलती है । लेकिन इस काल तक संभवत: बाहरी देशों से व्यापार बहुत ही सीमित मात्रा में होता रहा होगा । छठी शताब्दी तक आते–आते इसमें गति आई और भारत से व्यापारी दूसरे देशों में व्यापार हेतु जाने लगे थे । सिकन्दर के भारत आगमन के बाद पश्चिमी देशों से सम्पर्क बढ़ा और मौर्य काल में पश्चिमी के साथ व्यापार बड़े पैमाने पर होने लगा था । व्यापारियों के काफिलों द्वारा देश के एक भाग से दूसरे भाग तक सामान ले जाने के विवरण जातक कथाओं में मिलते है । जिन मार्गो का विकास छठी शताब्दी ईसा पूर्व में शुरू हुआ था वे इस काल में अधिक महत्वपूर्ण हो

गये थे । मौर्यों से पूर्व ही कई बड़े राज्यों वे अपनी सेना एवं प्रशासन तंत्र के वेतन भुगतान हेतु धन की आवश्यकता महसूस की । साम्राज्यवादी शासकों के लिए बड़ी सेनाओं के खर्च हेतु व्यापार एवं वाणिज्य पर चुंगी एवं अन्य प्रकार के करारोपण द्वारा अधिक राजस्व एकत्र करना आवश्यक हो गया था । ऐसे समाजवादी सम्राटों के लिए व्यापारियों को समुचित सुरक्षा प्रदान करना जरूरी था ।

मौर्य शासन की सबसे महत्वपूर्ण देन भारत के विभिन्न राज्यों को एक शासन सूत्र था। सैल्यूकस की पराजय से भारत के उत्तर पश्चिमी का विशाल प्रदेश मौर्यों के अधिकार मे आ गया जिससे भारत का पश्चिमी देशों के साथ व्यापार बड़े पैमाने पर संभव हुआ । मौर्यों ने व्यापारियों की समुचित सुरक्षा का प्रबंध किया और भारत से लोग स्थल एवं जल मार्गों से दूर देशों में व्यापार हेतु जाने लगे । इसी प्रकार दक्षिण भारत की विजय से दक्षिण पश्चिमी क्षेत्र सभी व्यापारियों के लिए खुल गया । पश्चिमी तट पर नर्मदा के मुहाने भरुच (भरुकच्छ) तथा वर्तमान मुम्बई के निकट सोपारा उस काल के प्रमुख व्यापारिक बन्दरगाह थे । सम्राट अशोक के समय कलिंग विजय से दक्षिणी पूर्वी भारत का तटवर्ती मार्ग सबके लिए सुलभ हो गया । अब व्यापारी ताम्रलिप्ति से सुदूर दक्षिण तक व्यापार करने लगे थे । पूर्व में ताम्रलिप्ति (तामलुक) बर्मा की ओर जाने वाले जहाजों के लिए महत्वपूर्ण बन्दरगाह था ।

भारत में लोहे के सर्वोत्तम भण्डार गंगा की घाटी में दक्षिण पूर्व बिहार में है । यहां से प्राण पुरावशेषों में मछली मारने के कुछ भाले हैं, कुल्हाड़ियाँ और अर्द्ध मानवाकृति जैसी वस्तुएं है । पृ. 118 – 19 ने जिक्र किया है कि इनमें करीब दो फुट लम्बी और अनगढ़ छेनी जैसी धारवाली सबसे बड़ी बल्लम–नुमा कुल्हाड़ियाँ इतनी बेढंगी हैं कि इन्हें औजार नहीं कहा जा सकता । ये वस्तुएं निश्चय ही व्यापारियों की निधियां है । वस्तुत : लोहे के औजारों से पूर्वी गंगाघाटी के घने जंगलों को काटकर कृषि भूमि के रूप में बदलना संभव हुआ और जंगलों की कटाई से गंगा घाटी में अनेक नये नगरों का उदय हुआ । उत्तर प्रदेश एवं बिहार में किये गये उत्खननों से प्राप्त अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि मौर्य काल में इमारतों के निर्माण में पकाई गई ईंटों का उपयोग होने लगा था । मेगस्थनीज ने नगर प्रशासन की चर्चा की है । नये नगर व्यापार वाणिज्य के केन्द्र बनने लगे । इस प्रकार राज्य की राजधानियों एवं प्रान्तीय राजधानियों के अतिरिक्त भी अनेक नये नगर विकसित हुए जो व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे । गंगाघाटी में पनपे व्यापारिक केन्द्रों के विकास में गंगानदी समूह का विशेष योगदान रहा । इस अंचल में स्थित जंगलों की सफाई से गंगा एवं उसकी सहायक नदियों का पानी गंगा में आकर मिलता था जिससे गर्मियों में भी नौ–परिवहन संभव था जैसा कि कौशांबी ने लिखा है कि "जलौध मिट्टी के क्षेत्र को आबादी योग्य बनाने में कठिनाइयाँ होने के बावजूद यह स्पष्ट है कि इतिहास में पूर्व निरन्तरता प्राप्त प्रारम्भिक नगर नदी मार्गों पर बसे हुए है । इनमें प्रसिद्ध नगर है: कुरू–प्रदेश में इन्द्र प्रस्थ (दिल्ली) और हस्तिनापुर, यमुना–तट पर कोसंबी (कौशंबी) और गंगा–तटपर बनारस (वाराणसी, काशी), ईसा पूर्व प्रथम सहत्रशताब्दी की शुरूआत में इन नगरों की स्थापना को केवल इसी आधार पर समझा जा सकता है कि अभेद्य जंगलों और दलदल वाले प्रदेशों से तेजी से बहने वाली इन विशाल नदियों में पहले से ही नौकाओं का आवागमन होता था । "नौ–परिवहन द्वारा उत्तर पश्चिमी भारत से व्यापारिक सामग्री गंगा

घाटी में मौटे – तौर पर वर्षा कम होती है और इसके रेगिस्तानी क्षेत्र से होकर गुजरने के कारण निरन्तर पानी की कमी होती जाती है जिससे इसमें नौ परिवहन की संभावनाएं कम थी । इसके विपरीत गंगा नदी में पानी की उपलब्धता ने नौ परिवहन एवं व्यापार को प्रोत्साहित किया और गंगा नदी के किनारे महत्वपूर्ण नगर विकसित हुए और व्यापारिक केन्द्र बने ।

लोहे के उपकरणों के कृषि में उपयोग से कृषि उत्पादन अधिक मात्रा में होने लगा था । खाद्य अधिशेष के कारण समाज के अनेक लोग अनेक व्यवसायों की ओर आकृष्ट हुए और इस तरह नये सामाजिक वर्गों का उदय हुआ । इन दिनों प्रशासन तंत्र, सेना के अधिकारियों तथा समाज में पनप रहे नये उच्च वर्ग के लिए विभिन्न प्रकार की विलास सामग्री की आवश्यकता महसूस हुई । विभिन्न व्यवसायों में लगे कामगारों ने ही इन उच्च वर्गो प्रशासनिक अधिकारियों के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन करना शुरू किया था । भिन्न भिन्न क्षेत्रों में शिल्प दक्षता का विकास हुआ और व्यापार द्वारा एक स्थान की सामग्री दूसरे स्थान पर पहुँचने लगी । इस तरह खाद्य अधिशेष और अन्य कृषि उत्पाद भी व्यापार की प्रमुख सामग्री बन गये थे और इसी दौर में कामगारों द्वारा उत्पादित माल भी इस श्रेणी में आ खड़ा हुआ । शहरी लोग जो प्रशासन व अन्य सेवाओं में लगे हुए थे वे अपने लिए खाद्य सामग्री व अन्य आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते थे: अत उनके लिए आवश्यक सामग्री व्यापारी ही मुहैया करवाते थे । दूसरे शब्दों में शहरों में ऐसे वर्गो का उदय हुआ जिसे जीवन यापन तथा विलास की वस्तुओं की आवश्यकता थी और इस तरह का माल व्यापार के माध्यम से एक स्थान से दूसरे पर पहुंचने लगा ।

महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी द्वारा शुरू किये धार्मिक आन्दोलन से भारत में लोग नवीनता का अनुभव करने लगे थे । इन महापुरूषों ने परम्परागत व्यवस्था से हटकर लोगों में नई चेतना का संचार किया, जिससे लोग कई पारम्परिक जटिलताओं को तोड़ने लगे थे । ब्राह्मण व्यवस्थाकार जहां विदेश व्यापार तथा दूसरे देशों की यात्रा को अनुचित ठहराते थे अथवा हतोत्साहित करते थे वही नवीन धर्म प्रवृतकों ने इस तरह के प्रतिबन्धों का विरोध किया । इन महापुरूषों के सन्देश से व्यापार – व्यवसाय को गति मिली, समाज से अब तक तिरस्कृत वर्ग नये व्यवसायों को अपनाने लगे । नवीन धर्मों ने जाति–प्रथा एवं ऊंच–नीच का विरोध किया था इस सन्देश से तथाकथित निम्नवर्ग में नई आशा का संचार हुआ । यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध एवं जैन मतों ने व्यापार को उच्चस्तरीय व्यवसाय माना था । अत : यह देखा गया कि व्यापारियों तथा बौद्ध संघों के बीच निकट सम्बन्ध थे तथा व्यापार मार्गों के प्रमुख स्थानों पर बौद्ध मठों की स्थापना की गई ।

इसके अतिरिक्त भारतीय माल की उत्कृष्टता एवं नैपुण्यता के कारण विदेशों में इसकी मांग थी और यह भी विदेशी व्यापार का कारण बनी । इन दिनों पश्चिम में रोमन साम्राज्य अपने उत्कर्ष पर था, यहाँ का अभिजात वर्ग पूर्व के उत्पादों जैसे सिल्क सूती वस्त्र, मसाले, सुगन्धित सामग्री एवं हस्तशिल्प को पसन्द करता था । आगे जाकर जब मिश्र भी रोमन साम्राज्य का अंग बन गया था भारत के साथ व्यापार में वृद्धि हुई । रोमन सरकार द्वारा ईसवी सन् के प्रारम्भ में रूम सागरीय प्रदेशों में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित किये जाने से पूर्व एवं पश्चिम के व्यापार को प्रोत्साहन मिला । भारतीय शासकों ने रोमन सम्राटों से अच्छे सम्बन्ध

बनाने के प्रयत्न किये थे । स्ट्रेबों के विवरण से ज्ञात होता है कि किसी भारतीय राजा ने रोमन सम्राट आगस्टन के पास शिष्ट मण्डल भेजा था । स्ट्रेबों यह भी जानकारी देता है कि दक्षिण भारत के किसी राजा ने आगसस को खुद उपहार भेजे थे । पाण्डिचेरी से दो मील दक्षिण की ओर स्थित परिलामेटु के उत्खनन से यह स्पष्ट हो गया है कि यह एक हिन्दु रोमन व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था । रोमन मुद्राएं मैसूर, कोयम्बटूर, मुम्बई (बम्बई) और मध्य भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त हुई है।

रोमन साम्राज्य के समान ही चीन में उत्तर हान साम्राज्य ने व्यापारियों को काफी प्रोत्साहन दिया इससे भारत का मध्य एशिया तथा चीन के बीच सम्पर्क बढ़ा । भारत चीन से कच्चा रेशम, रेशम के धागे व रेशमी वस्त्र मंगवाता था । चीनी इतिवृत से जानकारी मिलती है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भारत और बैक्ट्रिया के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध थे । चीन के रेशम व्यापार में बढ़ोतरी के साथ ही उसका तारिम नदी घाटी पर उसके (चीन के) राजनैतिक व सैनिक वर्चस्व में वृद्धि हुई । उत्तर पश्चिमी भारत एवं पश्चिमी एशिया के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन को चीन के रेशम व्यापार ने ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी एवं बाद के काल तक विशेष रुप से प्रभावित किया । चीन के सम्राट वती (ई. पू. 140 – 86) ने बैक्ट्रिया, पार्थिया एवं फरगना के शासकों से भी राजनयिक सम्बन्ध बनाये थे । अर्थशास्त्र हमें जानकारी देता है कि उन दिनों दक्षिण का व्यापार लाभप्रद हो गया था इसलिए दक्षिण की और जाने वाले मार्गों का महत्व बढ़ गया । कौटिल्य (अर्थशास्त्र 4/12/4) ने लिखा है कि उत्तरी मार्गों की अपेक्षा मार्ग उत्तम है क्योंकि दक्षिण मार्ग में कम्बल, चर्म, अश्व, शंख, हीरा, मुक्तामणि एवं सोना आदि वस्तुएं उपलब्ध होती है । वस्तुत : दक्षिण की खानों से बहुमूल्य खनिजों का दोहन शुरू हो गया था और आवागमन की दृष्टि से भी दक्षिण का मार्ग निर्विघ्न माना गया । दक्षिण के व्यापार से प्राप्त शुल्क से न केवल राजकीय खजाने की आवश्यकता की पूर्ति होती थी अपितु उत्तर का माल दक्षिण में पहुंचता था । और पश्चिमी देशों को निर्यात होता था जिससे भारत में रोमन मुद्राओं का आगमन संभव हुआ ।

अन्त में हम कह सकते हैं कि मौर्य काल तक आते–आते कई कारणों से भारतीय व्यापार के अनुकूल परिस्थितियां बन गई थी । राज्य सरकार के लिए सेना एवं प्रशासन संत्र के वेतन भुगतान करने के लिए व्यापारियों व कृषकों से राजस्व वसूल करना आवश्यक था । जैसे मौर्य काल को छोड़कर उत्तर व उत्तर पश्चिमी भारत में कई बड़े एवं छोटे राज्य स्थित थे और पश्चिमी देशों को जाने वाले स्थल मार्ग इस क्षेत्र के विभिन्न राज्यों से होकर गुजरते थे । संभवत : प्रत्येक शासक अपने केन्द्रों पर व्यापारिक सामग्री के विक्रय पर कर वसूल करते थे । इसलिए व्यापारियों को सुरक्षा प्रदान राज्यों के लिए आवश्यक हो गया था । दूसरे शब्दों में उन दिनों प्रत्येक राज्य, व्यापारी वर्ग और प्रशासन तंत्र व्यापार की प्रगति में सहायक साबित हो रहे थे ।

13.3 व्यवसाइयों व व्यापारियों के संगठन

बौद्ध काल से ही व्यवसायिक वर्ग और व्यापारियों ने अपने को संघों एवं श्रेणियों (गिल्डों) के रूप में संगठित करना शुरू कर दिया था । बौद्ध ग्रंथों में अनेक श्रेणियों का जिक्र

आया है । रीजडेविड्स (बुदिस्ट इण्डिया पृ. 90) ने तत्कालीन साहित्य के आधार पर अठारह श्रेणियों का उल्लेख किया है । (1) सूती कपड़ा बनाने वाले (कार्पासिक), (2) बढ़ई (वड्ठकि) जो नाव एवं पोत निर्माण का कार्य भी करते थे । (3) इत्र बेचने वाले (गान्धिक), (4) तेल निकालने वाले (तैलिक) (5) रत्नों को दमकाने वाले (मणि प्रस्तरक) (6) धातुकर्म करने वाले मिलिन्द पन्हों में सोना, तांबा, लोहा, सीसा, टिन आदि की वस्तुएं बनाने वाले अलग–अलग वर्गों का उल्लेख आया है । (7) चमड़े का काम करने वाले (चर्मकार) जो चमड़े की रस्सियां, जूते आदि बनाते थे । (8) हाथी दांत से कलात्मक वस्तुएं बनाने वाले वर्ग का अस्तित्व भी था । काशी में हाथी दांत से कलात्मक वस्तुएं बड़े पैमाने पर बनाई जाती थी । (10) कपड़ों को नीला पीला, गुलाबी एवं लाल रंग से सुन्दर बनाने वाले रंगरेज भी समाज के महत्वपूर्ण अंग थे । (11) आभूषण बनाने वाले (सौवर्णिक–हिरण्यक) (12) चित्रकार प्रसादों एवं विहारों को विभिन्न रंगों द्वारा सौन्दर्य प्रदान करते थे । अन्य वर्गों में (13) मछुआरे (14) कसाई (15) शिकारी (16) नाई (17) मालाकार (माली) (18) नाविक हलवाई (मोदकारक) (19) डलिया बनाने वाले । इनके अतिरिक्त घी रखने का पात्र रखने वाले (घृत कुंडिक), शीरा बनाने वाले (गोलिक), दही वितरक (दधि), खंड बनाने वाले (खांड कारक), गेहूं के आटे के व्यापारी (समितकारक), जौ पीसने वाले (सक्तुकारक), फल विक्रेता (फल वणिज, किराने का सामान बेचने वाले (अत वणिज) आटा पीसने वाले (चूर्प कुट्टक) आदि श्रेणियों का भी विवरण मिलता है । तत्कालीन अभिलेखों में जुलाहों (कोटिक निकाय) अनाज के व्यापारियों धान्निक बांस का काम करने वाले (वेणकार), चरवाहों के भी उल्लेख मिलते है ।

इन श्रेणियों के मुख्या को जेटट्क कहते थे जो श्रेणि के सदस्यों पर नियंत्रण रखते थे । जेट्टकों को राजा की सभा में भी स्थान दिया जाता था । दूसरे शब्दों में श्रेणियों (गिल्डस्) का समाज में काफी महत्व था और वे बैकों के रूप में काम करते थे । तत्कालीन अभिलेखों में श्रेणियों में धन जमा करवाये जाने के कई उदाहरण मिलते है । हुविष्क्कालीन 28 वें वर्ष (119 ई.) के मथुरा अभिलेख मैं विवरण आया है कि मध्य एशिया के वकन (बलव) से आये व्यक्ति ने ब्राह्मणों के भोजन के प्रबंध हेतु आटा बनाने वाले (समितकारों) और अनाज व्यापारियों (धान्निकों) की दो श्रेणियों के पास 550 पूरण सिक्के ब्याज पर जमा करवाये थे:

"सरुकमान पुत्रेण खरासलेप पतिन वकन पतिना अक्षय–नीवि दिन्न तुतो वृ (द्धि) तो मासनुमांस शुद्धस्य चतुदिशि पुण्यशा (ला) यं ब्राह्मण शत परिविषिततव्यं दिवसे दिव (से) च पुण्य शालायें द्वार मुले धारियें सांद्य सक्तना । (प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, पृ. 253)

यहां उल्लेखनीय है कि इन्हीं श्रेणियों की गणना मेगस्थनीज ने सात जातियों में की है । शिल्प संघों के बारे में जानकारी हमें अर्थशास्त्र से भी मिलती है । इस दौर में यह भी देखा गया कि कभी कभी व्यक्ति का व्यवसाय उसकी जाति से भी भिन्न होता था जैसे क्षत्रिय तैलिकों का जिक्र आया है । और इत्र बेचने वाले (गांधिक) को माथुर जाति (माथुर जातीय वणिज) कहा है ।

प्रत्येक श्रेणि के लोग नगर के एक भाग में निवास करते थे जिससे श्रेणी के सदस्य एक साथ रह सकते थे और कार्य कर सकते थे । आम तौर पर उनमें पारिवारिक सम्बन्ध पाया जाता था । अधिकांश पुत्र अपने पिता के व्यवसाय को अपनाते थे । इस तरह हस्तशिल्प मोटे रूप में वंशानुगत था । एक जातक में काशी के एक सीमा स्थित गांव का उल्लेख है जहां भारी संख्या में बढई रहते थे और व्यापारी उस गांव में माल खरीदने हेतु जाया करते थे । अभिलेखिक साक्ष्यों के रूप में उत्तरी काली पालिश के बर्तन हस्तशिल्प के उत्तम नमूने हैं । गंगा घाटी के कुंभकारों ने इसमें विशेषज्ञता हासिल कर ली थी ।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी श्रेणियों में विभक्त थे एवं व्यापारियों की श्रेणियां शिल्पियों की श्रेणियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थीं । व्यापारियों का एक समूह किसी विशेष शिल्पि समुदाय का माल ही क्रय कर व्यापार करता था । इससे माल की उपलब्धता एवं वितरण में सुविधा रहती थी । व्यापारियों के दो वर्ग थे । "वणिक" वर्ग के लोग अपने माल का विक्रय एक स्थायी स्थान (दुकान) से ही करते थे जबकि "सार्थवाह" जिन्हें काफिलों के व्यापारी कहा जाता था, अपने माल को देश के आंतरिक भागों में तो विक्रय करते ही थे और अन्य देशों के साथ भी व्यापार करते थे। रीजडेविड्स ने बौद्धकालीन व्यापारिक काफिलों का अच्छा वर्णन किया है । व्यापारिक दल (सार्थ) को निश्चित स्थानों पर चुंगी का भुगतान करना होता था । उस समय सड़कों अथवा पुलों का अभाव था । अत : बैलगाड़ियाँ धीरे धीरे आगे बढ़ती थी । उन्हें नदियां भी पार करती होती थीं । काफिलों के व्यापारी बड़ी संख्या में एक साथ कई बैलगाड़ियों के साथ रवाना होते थे । अपने मुखिया के नेतृत्व में दूर–दूर तक व्यापारियों की चर्चा तत्कालीन साहित्य में मिलती है । व्यापारियों का मुखिया सार्थवाह जेट्टक कहलाता था । कभी कभी डाकू काफिलों के साथ लूटपाट करते थे । इसीलिए व्यापारियों को जोखिम उठाकर ही यात्रा सामुद्रिक व्यापारी अधिक साहसी कहे गये है । अपने माल सें लदे जहाजों को लेकर तूफानी समुद्रों में व्यापार पर जाने वाले व्यापारियों के कई आख्यान बौद्ध साहित्य में मिलते है। मिलिन्दपन्हों में जहाज नियंत्रकों के लिए "नियामक" शब्द आया है । तेज आंधी से क्षतिग्रस्त व्यापारियों के जहाजों को "वाताहत" कहा है समुद्री यात्रा से सकुशल वापसी किसी व्यापारी के जीवन की एक आनन्दपूर्ण घटना होती थी । यहां उल्लेखनीय है कि समुद्री यात्रा की भारी कठिनाइयां भी दूर देशों की यात्रा से व्यापारियों को रोक नहीं पाती थी ।

व्यापारियों द्वारा माल प्राप्त करने का एक तरीका शिल्पि श्रेणियों में जाकर माल का चयन था । काशी के वस्त्र बहुत प्रसिद्ध थे अत : व्यापारी यहां के वस्त्र अन्यत्र विक्रय करते थे। यह भी जानकारी मिलती है कि बन्दरगाह पर जहाज पहुंचने पर माल खरीदने के लिए व्यापारी वहां इकट्ठे हो जाते थे । कभी–कभी जहाज के माल में अपना हिस्सा सुरक्षित करवाने के लिए पेशगी भी देनी पड़ती थी । जातक कथाओं में जमानत देकर माल खरीदने तथा व्यापारियों द्वारा ऋण पत्र देकर धन उधार लेने की चर्चा मिलती है । शिल्पी संघ धरोहर के रूप में रखकर धन ब्याज पर देते थे जिसका उल्लेख मथुरा के एक लेख में आया है । श्रेणियों (साहूकारों) को धन उधार देने वाला कहा है । ऋण पर ब्याज लिया जाता था । अर्थशास्त्र ने ऋण प्रक्रिया और जमानत (प्रत्याभू देने वाले का विस्तृत विवरण दिया है । ऋण किसी के माध्यम (ऋण साधक)

से दिया जाता था । इसी सन्दर्भ में ऋण लेने वाले की दशा का वर्णन आया है जो ऋण नही चुका पाते थे ।

13.4 आन्तरिक व्यापार एवं प्रमुख मार्ग

मौर्य शासन द्वारा सुरक्षा प्रदान किये जाने के कारण आन्तरिक व्यापार तेजी से विकसित हुआ । व्यापारिक गतिविधियों में तेजी आई जिससे अनेक राजमार्गों का विकास हुआ । जल परिवहन भू–परिवहन से सस्ता था । उत्तरी भारत के प्रमुख व्यापारिक मार्ग गंगा नदी के किनारे–किनारे एवं हिमालय की तलहटी से गुजरते थे । बौद्ध काल में जिन राजपथों की शुरूआत हुई वे इस समय तक काफी महत्वपूर्ण बन गये थे । उत्तर पश्चिम स्थित तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक राजपथ सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था । यह मार्ग पाटलिपुत्र (पालिबोध) से बनारस, मथुरा, साकल (स्यालकोट) होते हुए तक्षशिला तक जाता था । कुषाण काल में यह काबुल, बामियान तथा बेबीलोन से जुड़ गया था । वर्तमान में यह राजपथ ग्रांड ट्रक रोड के नाम से ज्ञात है । समुद्री व्यापार के विकास से पूर्व यह पश्चिम से व्यापार के लिए प्रमुख स्थल मार्ग था । आन्तरिक व्यापार के लिए भी इस मार्ग का विशेष महत्व था क्योंकि गंगाघाटी में उत्तर पश्चिम के माल का काफी विक्रय होना था । पाटलिपुत्र को तक्षशिला से जोड़ने का श्रेय मौर्य सम्राटों को ही जाता है । इस मार्ग को 1500 कोस लम्बा बताया गया है ।

दूसरा मार्ग उत्तर को दक्षिण पश्चिम से जोड़ता था । यह मार्ग श्रावस्ती से मथुरा, मोजेन बरिगाजा, प्रतिष्ठान और आगे अगर तक जाता था । संभवत : इसी मार्ग की एक शाखा भडौंच (भरूकच्छ) एवं काठियावाड़ को जोड़ती थी और दक्षिणी पश्चिमी तट पर बन्दरगाहों व लंका तक समुद्री मार्ग के प्रयोग की संभावना दिखाई देती है । तीसरा एक छोटा मार्ग श्रावस्ती से ताम्रलिप्ति (वर्तमान ताम लुक) को जोड़ता था और पाटलीपुत्र इसके बीच में पड़ता था दूसरे शब्दों में ताम्रलिप्ति पूर्व में बर्मा (म्यानमार), दक्षिण में लंका (स्थल एवं जल मार्ग द्वारा तथा उत्तर पश्चिम में पाटलिपुत्र की व्यापारिक गतिविधियों से जुड़ा हुआ था ।

एक अन्य मार्ग जो पाटलीपुत्र को दक्षिण भारत से जोड़ता था । यह मार्ग पाटलिपुत्र से सोन नदी के किनारे–किनारे सहसराम, रांची और कलिंग में तोसली होते हुए कृष्णा के डेल्टा प्रदेश को पार कर तुंगभद्राधाटी में उत्तरी मैसूर तक पहुंचता था । मौर्य काल में कलिंग का सामरिक महत्व बढ़ गया था । गोदावरी व महानदी के बीच स्थित होने के कारण यहां से बंग (बंगाल) व दक्षिण के साथ समुद्री यातायात व्यवस्था पर नियंत्रण किया जा सकता था । कौटिल्य ने उत्तरी मार्गों की अपेक्षा दक्षिणी मार्गों को लाभप्रद माना है क्योंकि दक्षिण से बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार संभव था । अन्तर्देशीय व्यापार द्वारा सार्थवाह उन गांवों से वस्तुएं लेकर उन स्थानों को जाते थे जहां उनकी मांग थी । हिमालय क्षेत्र की ऊन, बंगाल की मलमल, दक्षिण के मोती, एवं सिन्ध के घोड़े उन दिनों विशेष व्यापारिक सामग्री बन गये थे । जातकों में व्यापारिक गतिविधियों के विभिन्न तरीकों के उल्लेख है । वस्तुओं का मूल्य निश्चित करने के लिए अनेक तरह की पद्धतियों का प्रचलन था जैसे हाथियों, घोड़ों और बहुमूल्य पदार्थों (मणि मणिक) जिनका प्रयोग मुख्यत : शासक वर्ग करता था के मूल्य निर्धारण राज्यसभा का एक मूल्यांकन करता था । कीमत निर्धारण हेतु किसी वस्तु के माप तोल में बेईमानी करने वालों के

लिए कड़े दण्ड का प्रावधान था । स्ट्रेबों ने कर से बचने वाले के लिए मृत्युदण्ड की सजा बताई परन्तु अर्थशास्त्र से इसकी पुष्टि नही होती । वाणिज्यिक अधिकारी यातायात के साधनों और कीमतों की वृद्धि या कमी पर नियंत्रण रखता था । रोमिला थापर (अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन पृ. 82) ने लिखा है कि "विदेशों से माल मंगाने वाले व्यापारियों पर कर नही लगता था ताकि वे इससे मुनाफा कमा सकें । संभवत व्यापारिक कर सरकारी शुल्क के बराबर था । यह महसूल का पांचवा भाग था और महसूल वस्तु के मूल्य के पांचवे भाग के बराबर था और कीमतों पर भी नियंत्रण रहता था । वाणिज्य प्रबंधक का यह कर्तव्य था कि वह व्यापारी को इतना मुनाफा न कमाने दे जिससे लोगों को हानि हो । कुछ वस्तुओं जैसे तारवाला रेशम, रेशमी वस्त्र, हरताल, मैनशिल, हींग, अगर, चन्दन आदि पर दस से पन्द्रह प्रतिशत कर (विक्रय) कर था । किन्तु कुछ वस्त्रों पर बीस से पच्चीस प्रतिशत कर वसूल किया जाता था । सरकार प्रत्येक व्यापारिक सामग्री पर कर वसूल करती थी । अत : कीमत व कर निर्धारण से पूर्व कोई सामग्री विक्रय नहीं की जा सकती थी । देश में निर्मित सामग्री पर निर्माण केन्द्र की मुहर अंकित की जाती थी तथा आयातित सामग्री पर महसूल घरों में मुहर लगाई जाती थी । महसूल नकद लिया जाता था वस्तुरूप में नहीं ।

मौर्यकाल में हुई व्यापार की प्रगति का आंकलन प्रचलित मुद्राओं से किया जा सकता है। मौर्यकाल में चांदी की अंकित मुद्राओं के साथ ढली हुई गैर अंकित मुद्राओं का भी चलन था और उत्तर मौर्य काल में मुद्राओं के प्रकार व संख्या में भारी वृद्धि हुई । डी. डी. कोसंबी (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 206) ने लिखा है कि "अशोक के सिक्कों को देखने से प्रकट होता है कि ये निष्कर्ष काल्पनिक नहीं है । चन्द्रगुप्त के बाद के चिह्नाहत मौर्य कार्षापण पूर्ववर्ती तौल के ही है, पर उनमें तांबे की मात्रा अधिक है, उनकी बनावट अधिक अपरिष्कृत है और उनके तौल में इतनी अधिक न्यूनाधिकता है कि उन्हें निश्चय ही जल्दी–जल्दी में बनाया गया होगा । मुद्रा पर इस दबाव और मुद्रा की असन्तुष्ट मांग के साथ–साथ सिक्कों की धातु में मिलावट (मुद्रा–स्फीति) और उनके पार्श्व में आहत किए जाने वाले प्राचीन व्यापारी श्रेणियों के चिंह भी नहीं देखने को मिलते है । ऐसी स्थिति में नए व्यापारी पर नियंत्रण रखना पहले से अधिक कठिन हो गया । दक्खन में तो कम सिक्कों से चांदी के हल्के सिक्कों से यहां तक कि शीशे व जस्ते के प्रतीकात्मक सिक्कों से काम लिया जाने लगा था, इससे सूचित होता है कि व्यापार में महती वृद्धि हुई थी और व्यापारी कबीलाई लोगों के साथ वस्तुओं का आदान–प्रदान करके भारी मुनाफा कमा रहे थे । धीरे–धीरे मुद्राओं पर अंकन आरम्भ हुआ तथा इनकी ढुलाई में काफी सुधार आया । ताम्र सिक्कों की ढुलाई के लिए लगभग 100 ईसा पूर्व में पुराने सांचे–खोकराकोट (जिला सेहतक), तक्षशिला, एवं सांची से बड़ी संख्या में प्राप्त हुए है । कुषाण काल में कुषाणों के समय ही शुरू हुआ था । कुषाण नरेश विम कदफिसेस द्वारा स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन अपने आप में एक महत्वपूर्ण घटना है । विद्वानों की मान्यता है कि इसका श्रेय रोम के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्धों को जाता है । रोम के साथ व्यापार के फलस्वरूप बड़ी मात्रा में रोमन स्वर्ण मुद्राओं का भारत में आगमन हुआ । रोमन साम्राज्य व भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्ध आगस्टस (ई. पू. 31 से 14 ई.) से नीरो के काल तक अपनी पराकाष्ठा पर

थे । रोमन मुद्राओं मैसूर, कोयम्बटूर, मुम्बई (बम्बई) और मध्य भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त हुई है ।

13.5 विदेशी व्यापार और प्रमुख स्थल व जल मार्ग

भारतीय वस्तुएं जैसे रेशमी वस्त्र, जवाहरात, हाथीदांत का सामान, मसाले आदि की पश्चिमी देशों में बहुत मांग थी । पश्चिमी देशों को इन वस्तुओं का निर्यात विशेषरूप से दक्षिणी भारत से किया जाता था । प्रारम्भ में व्यापार समुद्री मार्ग द्वारा होता था । अरब देशों ने ईसवी सदी के शुरू होने से पूर्व समुद्री मार्ग से भारत के साथ व्यापार करना प्रारम्भ किया था । पूरब व पश्चिम के व्यापार में अरब देशों की भौगोलिक स्थिति बहुत महत्वपूर्ण थी । उन्होंने व्यापार में बिचौलियों की एकाधिकारवादी व्यवस्था बनाली थी । व्यापार में समुद्री मार्गों की सुविधाजनक वायु प्रणालियों का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था । समुद्री व्यापार में हिन्दमहासागर की मानसूनी हवाओं की खोज का श्रेय हिपालस नाम के नाविक को था । जिससे मिस्त्र और भारत के बीच आने–जाने वाले जहाजों को एक वर्ष के स्थान पर तीन माह लगने लगे । इस तरह पार्थिया (ईरान या फारस जो इस व्यापार से लाभ उठा रहा था, समाप्त हो गया । इसके बाद भारत एवं रोम के व्यापार में भारी वृद्धि हुई । भारत को रोम से लाई जाने वाली सामग्री में उच्च कोटि का शराब, सुन्दर वस्त्र, आभूषण, सोने व चांदी के सिक्के, बर्तन और तांबा, टिन, सीसा आदि खनिज पदार्थ सम्मिलित थे । रोम को भेजी जाने वाली वस्तुओं में मूल्यवान रत्न, शंख, मोती, हाथदांत का सामान, चन्दन की लच्छी, बांस, सागवान (लकडी) तथा रंगीन सूतीवस्त्र, मलमल, रेशमीवस्त्र, नील, लाख आदि की गणना की जा सकती है । रोमन व्यापारी भारतीय माल का भुगतान सोने के रूप में करते थे । माल को मृगुकच्छ, सोपारा जैसे बन्दरगाहों तक पहुंचाने के लिए बैलगाड़ियों एवं पशुओं को उपयोग में लाया जाता था और माल को गांठे के रूप में बान्धकर उस पर मुहर अंकित की जाती थी । रोम के साथ व्यापार में दक्षिण भारत एवं दक्खन के माल की विशेष मांग थी । एक यूनानी लेखक ने रोमन स्त्रियों की बारीक मलमल धारण करने की आलोचना करते हुए लिखा है कि रोम की नारियां भारत का मलमल पहनकर अपने सौन्दर्य का प्रदर्शन करती थी । तमिल ग्रंथों से भी इस तथ्य का बोध होता है कि यूनानी लोग भारत से रेशम व मसाले मंगवाते थे । प्लिनी ने जिक्र किया है कि रोम के निवासी भारतीय वस्तुएं खरीदते है । ऐसा शायद ही कोई वर्ष हो जब भारतीय व्यापारी रोम से कम से कम साढ़े पांच करोड़ "सेस्त्र" न प्राप्त कर लेते हों ।

यूनान व मिश्र से भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे । कुषाण शासकों की अनेक मुद्रायें मिश्र से प्राप्त हुई हैं । ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत एवं मिश्र के बीच की व्यापारिक गतिविधियाँ अपनी पराकाष्ठा पर थी । पेरिप्लस ने लिखा है कि भारतीय नाविक अरब और अफ्रीका के तट पर जाते थे । शिलाजीत मिश्र से ही आयात की जाती थी । अशोक के तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होना है कि मिश्र के तुरमान (टोलेगी फिलाडेल्फस 285–247 ई. पू.) से अशोक के सम्बन्ध थे । मिश्र सम्राट ने एक शिष्टमण्डल डायोनिसस के नेतृत्व में मौर्य दरबार में भेजा था । दक्षिणी भारत के व्यापारी श्रीलंका एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों से भी व्यापार करते थे । इस व्यापार की महत्वपूर्ण वस्तुएँ मसाले, कैम्फर और चंदन की लकड़ी थी ।

दक्षिण पूर्व एशिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य तमिल व्यापारियों ने किया । श्रीलंका के व्यापारी भी तमिल हम आते थे । श्रीलंका (ईलम या ताम्रपर्णी) से आये लोगों का तमिल ब्राह्नी अक्षरों के शिलालेखों में उल्लेख है । जैसा विदित है कि अशोक ने अपने पुत्र–पुत्री महेन्द्र एवं संघमित्रा को श्रीलंका भेजा था । वहां के शासक तिस्य ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था और "देवानाम्पिय" की उपाधि धारण की थी ।

मिलिन्दपन्ह में जिक्र आया है कि भारतीय जहाज मलय प्रायद्वीप, चीन व पूर्वी समूह को जाते थे । भारत चीन से कच्चा रेशम, रेशम के धागे एवं रेशमी वस्त्र आयात करता था । चीन से कच्चा रेशम, रेशम के धागे एवं रेशमी वस्त्र आयात करता था । चीन के साथ व्यापार जल एवं स्थल दोनों मार्गों से होता रहा होगा । क्योंकि चीन के पूर्वी प्रदेशों से व्यापार के लिए जल मार्ग सुगम था और पश्चिमी प्रदेशों से व्यापार स्थल मार्ग से ही संभव था ।

स्थलमार्ग से व्यापार में प्रगति विशेषरूप से कुषाण काल में हुई । मध्य एशिया में खोतान, यारकंद, काशगर आदि प्रदेश कुषाण शासकों के अधीन थे । बैक्ट्रिया (बल्ख) में रहने वाले चीनी राजदूत ने वहां के बाजार में चीन के बांस व वस्त्र बिकते देखे थे और उससे जानकारी करने पर पता लगा कि ये वस्तुएं भारतीय व्यापारियों द्वारा अफगानिस्तान के मार्ग से वहां पहुंचाई गई थीं । चीन से भारत का सम्बन्ध दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में स्थापित हो गया था क्योंकि दूसरी शताब्दी ई. पू. की मुद्रा मैसूर से प्राप्त हुई है जो भारत चीन के निकट व्यापारिक सम्बन्धों का बोध कराती है ।

13.5 व्यापार का प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में व्यापारियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। मौर्य प्रशासन ने व्यापार के संगठन पर ध्यान दिया था । इस प्रकार के प्रशासनिक नियंत्रण से उत्पादन और व्यापार में काफी सुधार हुआ । राज्य वस्तुओं के वितरण पर नियंत्रण रखता और कुछ मामलों में राज्य स्वयं उत्पादक बना । इसके अतिरिक्त कुछ उद्योगों को लघु उद्योगों के रूप में विकसित किया जैसे अस्त्र निर्माण करने वाले, जहाज बनाने वाले और प्रस्तर शिल्पियों (पत्थर से मूर्ति आदि का निर्माण) को सीधे नियुक्त किया । इनसे सरकार कर वसूल नहीं करती थी क्योंकि इन्हें सरकार ने अनिवार्य सेवा श्रम माना था । राज्य की वस्तुओं को कभी कभी निजी व्यापारियों द्वारा भी वितरित किया जा सकता था इससे मौर्यकालीन वितरण व्यवस्था सुव्यवस्थित रही ।

मौर्य शासन ने शिल्पी संघों को प्रोत्साहित किया । शिल्पी लोग श्रेणी व्यवस्था अथवा निजी तौर पर कार्य करते थे । श्रेणियों की वृद्धि से शिल्पकारों में सौहार्द्र बना रहता था इसके अतिरिक्त वितरण व्यवस्था पर भी यथेष्ट नियंत्रण बना रहता था । इसीलिए शिल्पी अधिकांश मामलों में श्रेणी में सम्मिलित होना उचित समझते थे क्योंकि अकेले कार्य करना अधिक खर्चीला था और श्रेणियों से उनके लिए प्रतियोगिता करना भी कठिन था । इस प्रकार स्थानीय स्तर पर केन्द्रित होने और शिल्प विशेष में विशेषज्ञता हासिल करने के कारण सम्बन्धित वस्तुओं के व्यापार में काफी प्रगति हुई । श्रेणियों विशेष रूप से शहरी केन्द्रों में ही विकसित हो पायी थी तथा इनका प्रभाव उत्तर में अधिक था । दक्षिण में श्रेणियों का प्रभाव मौर्य काल के बाद तक नहीं था ।

मौर्यों के बाद उत्तर में आहत सिक्कों का निर्माण लगभग समाप्त होने को था यद्यपि ठप्पे से बने या ढाले गए नए सिक्कों के साथ पुराने सिक्के भी प्रचलन में रहे । डी. डी. कोसंबी लिखते है कि रुद्रदामन, नहपान और इनके उत्तराधिकारियों द्वारा चलाए गए अनेक किस्म के चांदी के सिक्कों में यह अन्तर स्पष्ट होता है कि उत्तर के समृद्धिशाली साम्राज्य में पण्य विनिमय केवल विलासी सामग्री का ही होता था और दक्षिण व पश्चिम के नवोदित समाज में व्यापार तथा उत्पादन अधिक उपयोगी वस्तुओं का भी होता था । कोसांबी के अनुसार कुषाण टकसालों को सिकन्दरी मुद्रा तकनीकी जानकारी थी और उन्होंने इसका इस्तेमाल भी किया (उस समय रोमन सम्राटों को भी इस तकनीक की जानकारी थी) । चांदी के सिक्कों के क्रमिक विलोप से प्रकट होता है कि उत्तर में श्रीमन्तों के इस्तेमाल की रेशम, केसर, रत्न और मदिरा जैसी अति मूल्यवान वस्तुओं का व्यापार बढ़ता जा रहा था । किसानों को स्थानीय वस्तु विनिमय से ही काम चलाना पड़ता था । कहा जा सकता है कि कुषाणकाल में सोने के सिक्कों का प्रयोग भारत का रोम के साथ व्यापार शुरू होने के बाद हुआ । रोमन सिक्कों की दक्षिण भारत से प्राप्ति से इस तथ्य की पुष्टि होती है । रोम से धन का आगमन उन वस्तुओं की खरीद में हो रहा था जो रोमन अभिजात वर्ग को प्रिय थी । रोम से व्यापार वस्तु विनिमय द्वारा न होकर सोने के सिक्कों से होता था इस तरह प्राचीन भारत में समृद्धि बढ़ी।

13.7 सारांश

इस इकाई में प्राचीन भारत के व्यापार वाणिज्य के बारे में जानकारी की है । हमने अध्ययन किया है कि उस समय किस प्रकार के शिल्प एवं व्यवसाय विकसित हो रहे थे ।

शिल्पकारों की श्रेणियों एवं व्यापारियों से उनके सम्बन्धों की भी हमने जानकारी की है। व्यापारियों द्वारा भारत के आन्तरिक भागों में किये जाने वाले व्यापार–व्यवसाय के कुछ विशेष पक्षों पर प्रकाश डाला गया है ।

विदेशी व्यापार एवं विभिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्धों का अध्ययन इस अध्याय का उद्द रहा है एवं व्यापारिक प्रगति उसके प्रभावों का आंकलन भी किया गया है।

13.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मौर्य काल के महत्वपूर्ण व्यवसाय एवं श्रेणियों की व्याख्या कीजिये। (150 शब्द)
2. आन्तरिक व्यापार एवं प्रमुख व्यापारिक मार्गों का वर्णन करें। (100 शब्द)
3. प्राचीन भारतीयों द्वारा बाह्य देशों से व्यापार एवं उसके प्रभावों के बारे में आप क्या समझते है? (500 शब्द)

13.9 संदर्भ ग्रंथ:

1. के. डी. बाजपेयी, भारतीय व्यापार का इतिहास
2. के. डी. बाजपेयी, प्राचीन भारत का विदेशों से संबंध
3. लल्लनजी गोपाल – दि इकोनोमिक लाइफ नार्दन इण्डिया
4. ए. के. सिंह – इंडो रोमन ट्रेड
5. कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, शामशास्त्री

6. डी. डी. कौशाम्बी, प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति
7. प्राचीन भारत, पी. एल. गौतम व कमलेश शर्मा

इकाई 14

मौर्य–सातवाहन काल (दक्षिण भारत)

ईकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 दक्षिण भारत में मौर्य–सातवाहन काल

14.2.1 मौर्य युग

14.2.2 आंध्र–सातवाहन युग

14.3 समकालीन उत्तर भारत में व्यापार एवं नगरीकरण

14.3.1 व्यापारिक पृष्ठभूमि

14.3.2 उत्तर भारत में नगरीकरण

14.4 दक्षिण भारत में मौर्य युग

14.4.1 व्यापार की स्थिति

14.4.2 नगरीकरण का स्वरूप

14.4.3 जीवन पर प्रभाव

14.5 सातवाहन युग

14.5.1 व्यापारिक परिस्थितियां

14.5.2 शहरीकरण का स्वरूप

14.5.3 प्रभाव

14.6 संक्षिप्तीकरण

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.8 संस्तुत अध्ययन सामग्री

14.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के उद्देश्य है –

1. मौर्य–सातवाहनकालीन दक्षिण भारत के आर्थिक इतिहास का संक्षिप्त अनुशीलन करना
2. समकालीन उत्तर भारत की व्यापार एवं नगरीकरण की स्थितियों को संक्षिप्त अवलोकन करना
3. दक्षिण भारतीय मौर्य–सातवाहनकालीन व्यापारिक दशा की चर्चा करना
4. तत्कालीन दक्षिण भारत के शहरीकरण के स्वरूप को स्थापित करना एवं
5. व्यापार एवं शहरीकरण का दक्षिण भारत की आर्थिक स्थिति पर बड़े प्रभाव को रेखांकित करना।

14.1 प्रस्तावना

वस्तुओं के क्रय–विक्रय की प्रक्रिया व्यापार कहलाती है । यह क्रय–विक्रय प्रारंभ में वस्तु विनिमय के आधार पर होता था, किन्तु सभ्यता के विकास के साथ–साथ उसका आधार मौद्रिक–प्रणाली बनती चली गयी । यद्यपि कुछ अर्थों में वस्तु–विनिमय प्रणाली भी विद्यमान रही किन्तु वह क्रमश: मौद्रिक–प्रणाली से जुड़ती चली गयी ।

व्यापार एवं नगरीकरण के सह–सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में अधिकांशत : धातुओं के आविष्कार की भूमिका रही है । तांबे और लोहे के आविष्कार एवं उनसे निर्मित उपकरणों का कृषि क्षेत्र में उपयोग होने से गहरी जुताई संभव हुई । परिणामस्वरूप अन्न व कच्चे माल का अतिरिक्त उत्पादन संभव हुआ । यह अतिरिक्त उत्पादन कृषकों या बिचौलियों द्वारा कस्बाई केन्द्रों तक पहुंचने लगा । धीरे–धीरे ऐसे कई केन्द्रों के नगरों का रूप धारण कर लिया । ऐसा नहीं है कि प्राचीन भारत में नगरीकरण का यही एक कारण रहा हो । धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक कारणों से भी अनेक नगर विकसित हुए थे, किन्तु व्यापारिक केन्द्रों ने नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ।

पूर्व की इकाई में यह प्रतिपादित किया गया था कि व्यापार एवं द्वितीय नगरीकरण की दृष्टि से उत्तर भारत में मौर्य एवं कुषाण युग अत्यंत ही महत्वपूर्ण रहा। इस काल में भारतीय व्यापार एवं उद्योग में आशातीत वृद्धि हुई थी । यातायात के साधनों का भरपूर विकास हुआ था, तथा भारतीय उत्पादनों के विश्वव्यापी व्यापार में अपना महत्वपूर्ण स्थान सुनिश्चित किया था । सहज ही था कि ऐसी व्यापारिक परिस्थितियों ने उत्तर भारत में द्वितीय शहरीकरण की प्रक्रिया तेज की थी । दक्षिण भारत भी इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं रहा । मौर्य एवं मौर्योपरांत सातवाहन काल में भारत का देशी, विदेशी एवं तटीय व्यापार अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुंचा था । इस कारण अनेक नगरों एवं बन्दरगाहों का विकास संभव हो पाया था । प्रस्तुत इकाई में इस क्षेत्र की व्यापारिक एवं शहरीकरण की परिस्थितियों का अध्ययन करना अभीष्ट हुआ है ।

14.2 दक्षिण भारत में मौर्य–सातवाहन काल

मौर्यों द्वारा एक महान् साम्राज्य स्थापित किया गया था । उसका विस्तार दक्षिण भारत में दूर–दूर तक था । साम्राज्येतर दक्षिण भारत भी उसके राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव में था । मौर्य साम्राज्य के विघटन के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में आंध्र–सातवाहन साम्राज्य का अभ्युदय हुआ। संक्षेप में इनके बारे में जान लेना कतई अन्यथा न होगा ।

14.2.1 मौर्य युग – ई. पू. छठी सदी से ही मगध जनपद का विस्तार प्रारंभ हो चुका था । नन्दों के राज्य काल में इस जनपद ने एक महान् साम्राज्य का रूप धारण कर लिया था । चन्द्रगुप्त मौर्य को यह साम्राज्य विरासत में मिला था । महान् मौर्यों ने दक्षिण भारत में दूर–दूर तक साम्राज्य विस्तार कर लिया था । चन्द्रगुप्त मौर्य का निर्धन ही एक जैन साधु के रूप में दक्षिण में श्रवण बेलगोला में हुआ था । दक्षिण भारत में मौर्यों के अधिपत्य के प्रमाण कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज के विवरण, अशोक के अभिलेखों एवं अनेक लघु गुहा–लेखों से मिलते है । प्राचीन तमिल तथा बौद्ध साहित्य भी इस विषयक प्रभूत प्रमाण प्रस्तुत करता है । अशोक के द्वितीय एवं त्रयोदश शिला–लेखों में अशोक के सांस्कृतिक प्रभाव वाले चोल,

पाण्ड्य, सतियपुत, केरलपुत, (चेर), ताम्बपण्णि (ताम्रपर्णि अथवा सिंहल) आदि का उल्लेख है । ऐसा लगता है कि शेष दक्षिण भारत मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत ही था । अशोक के राज्य काल में मौर्य साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुंचा था। उसके राज्य–काल में साम्राज्य को जिन पांच प्रान्तों में विभक्त किया गया था, उसमें एक दक्षिण–पथ भी था जिसकी राजधानी सुवर्णिगिरि थी । अशोक के उपरांत मौर्य साम्राज्य तेती से विघटन एवं पतन की ओर अग्रसर हुआ ।

14.2.2 आंध्र–सातवाहन युग – मौर्य साम्राज्य के विश्रृंखल होते ही दक्षिण में एक और भी ब्राह्मण राजवंश का अभ्युदय हुआ जो गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्य अपने राज्य की सीमाएं फैलाने में समर्थ हुआ । अभिलेखों में इसे "क्षत्रियों को वर्ष और मान का मर्दन करने वाला" कहा गया है । आंध्र–सातवाहनों को कतिपय विद्वानों ने कोई एक शक्ति न मानकर दो विभिन्न शक्तियां माना है; पर इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है । आंध्र–सातवाहनों के इतिहास के लिए हम पुराणों, नासिक और नानाघाट के अभिलेखों तथा प्राप्त सिक्कों के बड़े ऋणी है । और भी कई छोटे–मोटे प्रमाण उनके इतिहास पर प्रकाश डालते है ।

सातवाहनों की राजधानी गोदावरी तट पर प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक पैठन) थी । पुराणों के अनुसार इनका कुल राजत्व काल 460 वर्ष से लगाकर 300 वर्ष तक ठहरता है । राजाओं की संख्या के बारे में भी पर्याप्त विवाद है । सिमुक, (शिशुक अथवा सिंधुक) इस वंश का प्रथम नरेश था। ऐसा माना जाता है कि ई.पू. तीसरी सदी के उत्तरार्ध में इसमें इसने अपने राजधानी प्रतिष्ठानपुर (आधुनिक पैठन) से आगे बढ़कर उज्जैन और विदिशा पर अधिकार कर मगध की सत्ता को चुनौती दी । एक अन्य सातवाहन नरेश शातकर्णि ने दो–दो अश्वमेध यज्ञों के माध्यम से समस्त दक्षिणपथ तथा विदर्भ व आकर–अवन्ती क्षेत्र के काफी भागों पर अधिकार कर लिया।

सातवाहन वंश का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ शासक गौतमीपुत्र भी सातकर्णि था । नासिक गुहा–लेख में उसकी प्रशस्ति गायी गई है ।

पश्चिमी भारत में क्षहरात वंशी शक क्षत्रप नहपान के अभ्युदय के कारण सातवाहनों की शक्ति को बड़ी चोट पहुंची थी । उसने सातवाहनों को महाराष्ट्र और नासिक से पीछे खदेड़ दिया था तथा मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और अजमेर क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया था । नासिक अभिलेख में बताया है कि गौतमी–पुत्र सातकर्णि ने नहपान को पराजित किया । उसने नहपान के सिक्कों पर अपना चिह्न अंकित करवाया । उसका राज्य तीन समुद्रों के मध्य तक विस्तीर्ण हो गया । उसके साम्राज्य में कृष्णा और गोदावरी के मध्य का प्रदेश, सौराष्ट्र, काठियावाड़, महाराष्ट्र, निमाड़, अवन्ति तथा विदिशा के प्रदेश सम्मिलित थे ।

गौतमी–पुत्र के उपरांत उसका पुत्र वाशिष्ठीपुत्र श्री पुलुमावी राजा बना । इसके राज्य काल में दक्षिण में सातवाहन शक्ति का विस्तार हुआ । अमरावती के बौद्ध स्तूप का विस्तार करवाया गया तथा उसे संगमरमर की ईंटों से सुसज्जित कर दिया गया । समुद्री तट मिल जाने से विदेशी व्यापार में सहसा वृद्धि हो गयी ।

इसी समय मालवा और पश्चिमी भारत में पुन : शक–शक्ति का विकास हो गया । काठियावाड़, गुजरात, मालवा, सौराष्ट्र आदि सातवाहनों के हाथ से निकल कर शक क्षत्रप

रुद्रामन के अधिकार में चले गये । संभवत : रुद्रदामन ने वाशिष्ठीपुत्र को दो बार पराजित भी किया किन्तु सातवाहन राजा उसका दामाद होने के कारण उसके राज्य का हरण नहीं किया ।

अन्तिम सातवाहन राजाओं में सबसे प्रतापी राजा यज्ञ–श्री सातकर्णि था । उसे इस बात का यश दिया जाता है कि उसने उन समस्त प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया जो सातवाहनों से शकों ने छीने थे । आंध्र और महाराष्ट्र के दूर–दूर के भागों पर उसका अधिकार था । उसके सिक्कों पर जलयान अंकित है जो इस बात का प्रतीक है कि उसके शासन काल में जल मार्ग द्वारा विदेशी व्यापार बहुत बढ़ गया ।

14.3 समकालीन उत्तर भारत में व्यापार एवं नगरीकरण

मौर्य–सातवाहन युग में दक्षिण भारत की व्यापारिक दशा एवं नगरीकरण के स्वरूप के विवेचन के पूर्व इस काल में विद्यमान उत्तर भारतीय स्थितियों का अवलोकन करना उचित होगा ।

14.3.1 व्यापारिक पृष्ठभूमि – मौर्य काल में लोह उपकरण आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन ला चुके थे । कृषि क्षेत्रों में सघन कृषि का युग प्रारंभ हो चुका था । इस कारण राज्य की आय में पर्याप्त वृद्धि हो गई थी । राजा को सारी भूमि का स्वामी माना गया था । ऐसी दशा में राजा कृषि, खनिज, ग्राम व नगर निर्माण के प्रति योजनाएं बनाता और उन्हें कार्यान्वित करता था । कृषकों को भूमि देने व उनसे वापिस लेने के निश्चित नियम थे । सिंचाई के साधनों का विकास करना राज्य का अपना दायित्व था । उपज का 1/8 से 1/4 भाग राज्य द्वारा भूमि–कर के रूप मे वसूल किया जाता था। कृषि–जन्य पदार्थों के अधिशेष ने व्यापार–व्यवसाय व उद्योगों को पर्याप्त विकसित एवं उन्नत कर दिया था । वर्धित व्यापार के कारण वस्तु–विनिमय प्रणाली की सीमा का अनुभव होने लगा था । इस कारण बड़ी तेजी से मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था उसका स्थान ग्रहण करती चली जा रही थी । इन परिस्थितियों में राज्य एक मूक दर्शक बना बैठा न रहा । उसने व्यापार, उद्योग एवं सम्बन्धित समस्त क्षेत्रों का समुचित नियमन, निर्देशन एवं नियंत्रण किया था ।

मौर्य काल में उद्योग–धंधों की भरमान थी । सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का निर्माण देश में बहुतायत से होता था। वन की उपजों से भी कई उद्योग–धंधे पनप रहे थे; जैसे काष्ठ–कला, हाथी दांत का काम, चंदन से बनी सुगंधित सामग्रियां आदि । खानों से सोना, चांदी, कीमती रत्न, टिन, नमक, तांबा, सीसा, लोहा तथा पत्थर खोदे जाते थे । इनके विभिन्न प्रकार के उद्योग देश के विभिन्न भागों में पनप रहे थे ।

यातायात के साधन प्रचुर मात्रा में थे । वन के जल और थल मार्गों की सुरक्षा का पूरा प्रबंध था । देशी व्यापार सड़कों और नावों द्वारा होता था । विदेशी व्यापार राज–मार्गों और समुद्री मार्गों से होता था । प्रशुल्क, आवागमन व्यय तथा आयात–निर्यात के निश्चित नियम बने हुए थे । विदेश व्यापार खूब होता था । भुगतान का संतुलन मौर्य साम्राज्य के पक्ष में था ।

मौर्योत्तर काल में उत्तर भारत में अनेक देशी–विदेशी राज–शक्तियां अस्तित्व में आईं। भारतीय–यवन, शक–पहलव, कुषाण आदि विदेशी शक्तियों ने पश्चिमात्तर भारत में दूर–दूर तक अपने राज्य कायम कर लिये थे । इन शासकों का मध्य एवं पश्चिमी एशिया से पर्याप्त

राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संबंध था । इस सम्पर्क का प्रभाव भारत के विदेशी व्यापार पर अत्यंत अनुकूल रूप में पड़ा था । विदेशों में भारतीय माल की खपत भारी मात्रा में होने लगी थी । चूंकि इन विदेशी शक्तियों का तेजी से भारतीयकरण हो गया था, अत : विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ सीधे–सीधे भारत को मिल रहा था। इस दृष्टि से कुषाण युग को उत्तर भारत के आर्थिक जीवन के लिए एक स्वर्ण युग ही सिद्ध हुआ था । भारत की इस आर्थिक समृद्धि का भारत की विनिमय प्रणाली पर भी पड़ा था । इस कारण भारत की मौद्रिक व्यवस्था को अनेक नवीन विधाएं व तकनीकें प्राप्त हुई थीं । इससे भी भारतीय व्यापार एवं उद्योग को पल्लवित होने का पर्याप्त अवसर मिला था ।

14.3.2 उत्तर भारत में नगरीकरण – लोह युग के आगमन, समृद्ध व्यापारिक परिवेश, मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था, औद्योगिक विकास एवं यातायात के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्तर भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया में तेजी आ गयी थी । भारतीय इतिहास में इसे द्वितीय नगरीकरण की संज्ञा दी गई है । इस प्रक्रिया का प्रारंभ यद्यपि ई. पू. छठी सदी में हो चुका था, किन्तु उसे मौर्य–काल में पर्याप्त गति मिली थी । मौर्य काल तक चम्पा, वैशाली, राजगृह, पाटलीपुत्र, काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, उज्जैन, माहिष्मती, विदिशा, प्रयाग, मथुरा, तक्षशिला, अहिच्छत्रा काम्पिल्य, कान्यकुब्ज जैसे उल्लेखनीय नगरों का विकास उत्तर भारत में हो चुका था । मौर्योत्तर काल में शहरीकरण की प्रक्रिया ने और तेजी पा ली थी । परिणामस्वरूप उत्तर भारत में अनेक पूर्ववर्ती नगर तो बने ही रहे, सागल, पुरुषपुर, पदावली, विदिशा, एरण, भागिल, श्रीमाल, कलिंगनगर जैसे नवीन नगर भी अस्तित्व में आ गये थे ।

उत्तर भारत की इन व्यापारिक एवं नगरीय परिस्थितियों का प्रभाव दक्षिण भारत में भी दूर–दूर तक परिलक्षित हुआ, जैसा कि आगे देखा जा रहा है ।

14.4 दक्षिण भारत में मौर्य युग

14.4.1 व्यापार की स्थिति – व्यापार एवं उद्योग की दृष्टि से मौर्यकालीन दक्षिण भारत की व्यापारिक परिस्थितियाँ कुछ विशिष्ट स्थानीयकरण एवं भौगोलिक आधारों को छोड़कर उत्तर भारत की ही भांति थी । मौर्य साम्राज्य प्रशासकीय एवं आर्थिक दृष्टि से सुनियोजित एवं सुप्रशासित था । इस कारण उसके उत्तरी एवं दक्षिणी क्षेत्र की आर्थिक एवं व्यापारिक स्थितियों में अधिक अन्तर नहीं था । इस विषय पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासकार के.ए. नीलकंठशास्त्री कहते हैं -

"मौर्य साम्राज्य के प्रारंभिक काल में उत्तर और दक्षिण के बीच व्यापार का क्या महत्व था, इस संबंध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से कुछ जानकारी मिलती है । स्थल–भागों के संबंध में कौटिल्य कहते है कि मेरे आचार्य का विचार है कि हिमालय तक जाने वाला मार्ग दक्षिण पथ तक जाने वाले मार्ग से उत्तम है क्योंकि उसमें हाथी, घोड़े, मसाले, हाथी–दांत, जानवर के चमड़े, चांदी और सोने की वस्तुएं आदि सब कुछ मिलते है । फिर वे उस संबंध में अपना बिल्कुल भिन्न मत देते हैं । वे कहते हैं कि यद्यपि दक्षिण–पथ जाने वाले मार्ग में ऊनी सामान, जानवर के चमड़े और घोड़े नहीं मिलते पर शंख, हीरे, अनन्य कीमती पत्थर, मोती और

सोने की वस्तुएं मिलती है । यही नहीं, दक्षिण–पथ से गुजरने वाला दक्षिणी व्यापार–मार्ग वैसे क्षेत्र से होकर निकलता है जिसमें खानें है और मूल्यवान व्यापार–वस्तुएं बड़े परिमाण में मिलती है तथा वहां अनेक व्यापारी भी अक्सर आया करते है तथा यात्रा की सुविधा भी है । वही उत्तर मार्ग है ।" इस उद्धरण में हमारे समक्ष नन्द और मौर्य साम्राज्यों की स्थापना के बाद से दक्षिण के साथ बड़े पैमाने पर व्यापार शुरु होने की घटना स्पष्ट होती है । कौटिल्य के आचार्य ने जो विचार प्रगट किया था, वह नई स्थितियां उत्पन्न हो जाने के कारण पुराना पड़ता जा रहा था और उनके शिष्य (कौटिल्य) ने इस बात की पुष्टि की है कि उनके समय में दक्षिण में धन और व्यापार की सुविधाएं प्रचुर परिमाण में थी । सोना, हीरा और अन्य कीमती पत्थरों तथा मोतियों की चर्चा उल्लेखनीय है और यह भी कि उन स्थल–मार्गों से अनेक लोग आते–जाते थे तथा यात्रा की सुविधा थी । शाही कोषागार में जिन वस्तुओं के पहुंचने का उन्होंने अपने वर्णन में उल्लेख किया है उनमें पांड्य देश में तामृपर्णी नदी, पांड्यकावात (जो टीका में उसी क्षेत्र के मलयकोटि पर्वत के रूप में वर्णित है) और केरल में चूर्ण नदी से आने वाले अनेक किस्म के मोती भी शामिल थे । उन्होंने मदुरा से आने वाले अच्छे सूती कपड़ों और दक्षिण से ही पहुंचने वाले अनेक रंगों के वैश्यों (हरित मणि) और विभिन्न प्रकार के चंदन का भी उल्लेख किया है।"

14.4.2 नगरीकरण का स्वरूप – दक्षिण भारत में मौर्य काल के पूर्व भी अनेक प्राचीन नगरों की विद्यमानता के उल्लेख प्राप्त होते है । महाकाव्यों, जातककथाओं तथा विदेशी विवरणों में ऐसे अनेक नगरों का उल्लेख प्राप्त होता है । "रामायण" में दंडकारण्य के दक्षिण में जयंतपुर का उल्लेख आता है । एक अन्य प्राचीन नगर मुरचीपट्टन (संभवत : आधुनिक क्रंगनूर) का उल्लेख भी इस महाकाव्य में मिलता है । "महाभारत" में दक्षिण भारत के शूर्पारक रामतीर्थ, संजयिनी, करहाटक, पोतन, दंतकूर आदि नगरों का उल्लेख मिलता है । सोलह जनपदों के अंतर्गत आने वाले दक्षिण भारतीय जनपद अश्वक की राजधानी पोतलि थी, ऐसा जातकों में उल्लेख है । दक्षिण भारतीय विदर्भ में विदर्भ व भोगवर्धक नामक नगर थे । इसी प्रकार मध्य कलिंग में भोगिपुर नामक एक नगर का उल्लेख मिलता है । अशोक के दक्षिणी भारतीय प्रान्त की राजधानी सुवर्णगिरि थी । इन नगरों में से अनेक की आधुनिक पहिचान कठिन ही है । यह कहना भी कठिन है कि इनका विकास व्यापार–केन्द्रों के रूप में हुआ था अथवा नहीं? इसका उत्तर होगा – संभवत : नहीं ।

14.4.3 जीवन पर प्रभाव – मौर्यकालीन व्यापार एवं नगरीकरण का दक्षिण भारत के जीवन पर बहुविध प्रभाव पड़ा । उत्तर और दक्षिण भारत विभिन्न मार्गों से जुड़े जिनसे होकर उत्तर भारत का बहुत सा माल दक्षिण भारतीय बन्दरगाहों के द्वारा विदेशों को जाने लगा । बौद्ध जातक कथाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मौजूद है जिनके द्वारा यह सिद्ध होता है कि साहसी भारतीय व्यापारी जल–मार्गों द्वारा दूर–दूर तक व्यापार करने जाते थे । वे उत्तर भारत तो ठीक, चीन से "रेशम मार्ग" (सिल्क रूट) से आये चीनांशुक तक को विदेशों में विक्रयार्थ ले जाते थे । उत्तर भारत के लिए वांछित बहुत सी विदेशी वस्तुएं दक्षिणी बन्दरगाहों के रास्ते उत्तर भारत के विभिन्न व्यापार–केन्द्रों तक पहुंचता था । पश्चिमी तट पर स्थित भृगुकच्छ (भड़ौच), शूर्पारक (सुप्पारा) आदि इसके प्रमुख केन्द्र थे । दक्षिण भारत में स्थित

प्रतिष्ठानपुर (पैठन) से एक उल्लेखनीय प्राचीन व्यापार मार्ग माहिष्मती होते हुए उज्जैन आता था । उज्जैन में ही भृगुकच्छ से एक मार्ग आता था । उज्जैन से मथुरा तक और विदिशा होते हुए थल–मार्ग कौसाम्बी तक जाते थे । मथुरा और कौशाम्बी से ये उत्तर भारत के अन्य केन्द्रों से विशाल सड़कों से जुड़े होते थे । इस प्रकार व्यापार के माध्यम से उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य एक घनीभूत संबंध स्थापित हो चुका था । इस संबंध के कारण भारत में एक सांस्कृतिक एकता का निर्माण संभव हो रहा था । भाग्य से महान् मौर्य साम्राज्य के दक्षिण तक फैले होने के कारण उत्तर और दक्षिण के मध्य एक व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क को राजनीतिक सम्पर्क एवं प्रशासकीय संरक्षण दे रहे थे ।

इस प्रकार के सम्पर्क का एक लाभ और भी हुआ । दक्षिण भारत को भी उद्योग एवं व्यापार विषयक तकनीकी कौशल प्राप्त हुआ । वहां भी अनेक उद्योग पनपे । धीरे–धीरे दक्षिण भारत का जल–मार्गों द्वारा विदेशों से संबंध स्थापित हुआ । इस कारण दक्षिण भारतीय जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन आया । वहां के उत्साही एवं जोखिम झेलने वाले नाविक तत्कालीन सभ्य विश्व के हर कोने में पहुंचने लगे । उन्होंने भारतीय माल को विदेशों में बहुत लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार जो समृद्धि दक्षिण भारत में आई उसका चरम परिपाक सातवाहन काल में देखने को मिलता है, जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है ।

14.5 सातवाहन युग

पूर्व में यह देखा जा चुका है कि मौर्य साम्राज्य के पतन के उपरांत दक्षिण भारत में आंध्र–सातवाहन शासकों ने धीरे–धीरे एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। इस साम्राज्य का आर्थिक पक्ष अत्यंत प्रबल था जो उसकी व्यापारिक गतिविधियों एवं नगरीकरण की परिस्थितियों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रकट होता है ।

14.5.1 व्यापार – सातवाहनकालीन व्यापार विषयक अनेक महत्वपूर्ण संदर्भ हमें तमिल ग्रंथ "शिलापदिकारम्" व "मणिमेखलाई", प्राकृत साहित्य ग्रंथ "गाथासप्तशती", विदेशी विवरणों, अनेक अभिलेखों एवं उपलब्ध सहस्त्रों सिक्कों से प्राप्त होते हैं । यह युग दक्षिण भारत के लिए आर्थिक समृद्धि का रहा जिसका सबसे बड़ा कारण था – रोम साम्राज्य से आशातीत व्यापार । इस काल में भरुच क्षेत्र में चावल, गेहूं, ज्वार, बाजरा, गन्ना, तिलहन, कपास आदि फसलें वहां की आवश्यकता से अधिक उगाई जाती थी । इस कारण वहां कच्चे माल तथा सूती वस्त्र, चीनी, तेल आदि पक्के माल की पर्याप्त संभावना थी । सुदूर दक्षिण के एक महत्वपूर्ण उत्पादन मोती व काली मिर्च की तो विश्व–व्यापी मांग थी । इस काल में भारत के अनेक भागों में कीमती मलमल निर्मित होती थी तथा चीन से आयातित रेशमी वस्त्र भारत में आते थे । वे चीजें दक्षिण भारत से भारी मात्रा में विदेशों को जाती थी । इनके अतिरिक्त चमड़ों से बना सामान, मसाले, सुगंधित द्रव्य, कीमती पत्थर, रत्न–जटित आभूषण, अन्न आदि भी निर्यात की प्रमुख वस्तुएं थी । दक्षिण भारत में आयात होने वाली प्रमुख वस्तुओं में मदिरा, मेवे, तांबा–सीसा–रांगा आदि धातुएं, मरहम आदि थी । व्यापार–संतुलन भारत के पक्ष में होने से जैसा कि तत्कालीन रोमन लेखक प्लिनी रुदन करता है, विदेशों, खासकर रोम से भारी मात्रा में स्वर्ण एवं स्वर्ण–मुद्राएं दक्षिण भारत में आ जाती थी । चांदी का उत्पादन भारत में लगभग नगण्य था ।

इस कारण वह काफी महंगी थी । अन्य देशों में सोने और चांदी के मध्य जो अनुपात था, वह भारत में चांदी के पक्ष में काफी अधिक था । टकसालों द्वारा चांदी की भारी मांग भी इसका एक कारण रही ।

14.5.2 नगरीकरण – इस युग में दक्षिण भारत में शहरीकरण के अनेक कारण थे । पूर्व में विद्यमान अनेक राजनीतिक व धार्मिक केन्द्र धीरे–धीरे व्यापार–केन्द्र बनकर नगरों में परिवर्तित हो गये थे । कुछ नगर प्रमुख व्यापार–मार्गों एवं व्यापारिक दृष्टि से सुरक्षित विराम–स्थलों पर विकसित हो गये थे । ऐसे नगरों में माल की अदला–बदली, सौदे, पेकिंग एवं गोदाम आदि की सुविधाएं होती थी । आजीविका की तलाश में अनेक कुशल शिल्पी एवं अकुशल श्रमिक इन नगरों में आ बसे थे । भारतीय विदेश व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से जल–मार्गों से आयात, निर्यात व तटीय व्यापार होने लगा था । इस कारण दक्षिणी समुद्री तट पर अनेक बन्दरगाहों का निर्माण हो गया था । समय के साथ इनमें से अनेक बन्दरगाहों ने नगरों का रूप धारण कर लिया था ।

कतिपय प्रमुख सातवाहनकालीन नगरों का परिचय लेना आवश्यक है । सबसे पहले गोदावरी तट पर स्थित नासिक को लें । नासिक की बस्ती मौर्य काल के पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी । सातवाहन शासकों ने नासिक से लगभग 10 किलोमीटर दूर गोवर्धन नामक स्थल को अपना राजनीतिक मुख्यालय बनाया । शीघ्र ही नासिक एक विशाल व्यापारिक नगर भी बन गया । वर्धित व्यापार के कारण यहां कई व्यापार–श्रेणियां संगठित हो गई जिन्होंने सातवाहन राज्य में उपयोगी व्यापार, उद्योग एवं बैकिंग भूमिका अदा की । ये श्रेणियां सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में भी पीछे नहीं रही ।

गोदावरी तट पर स्थित एक अन्य नगर प्रतिष्ठानपुर, जो अब पैठन कहलाता है, एक उल्लेखनीय यातायात केन्द्र था । यह एक ओर तो समुद्री मार्गों से जुड़ा था तो दूसरी ओर माहिष्मती उज्जैन, विदिशा और कौशाम्बी के सड़क मार्ग से उत्तर भारत के प्रमुख राज–केन्द्रों एवं व्यापारिक व औद्योगिक नगरों से जुड़ा था ।

एक और नगर था – शुर्पारक जो सुप्पारा नाम से विख्यात रहा है । इस नगर से पूर्वी व पश्चिमी देशों से पर्याप्त व्यापार होता था । सुवर्णभूमि से तो इसके विशेष व्यापारिक रिश्ते थे । सुप्पारा के निकट ही कल्याण नामक एक बस्ती थी जो धीरे–धीरे एक व्यापार–केन्द्र बन कर एक नगर का रूप धारण कर चुकी थी । तगर (आधुनिक तेर) नामक नगर भड़ौच व पैठन से व्यापारिक संबंध बनाये हुए था और पर्याप्त समृद्ध हो रहा था । कलिंग खाखेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस काल में कृष्ण नदी के तट पर असिक एवं पीथुण्ड नामक नगर स्थित थे । खाखेल ने तो पीथुण्ड जीतकर उसका सम्पूर्ण ध्वंस कर दिया था । प्रो. हेमचन्द्र रामचौधरी ने अपने एक लेख (देखिये याजदानी संपादित–दकल का प्राचीन इतिहास, पृ.49) में लिखा है कि सातकर्णि और उसके उत्तराधिकारी सातवाहन राजाओं के साम्राज्य के बड़े–बड़े नगरों के बारे में जानकारी तो परवर्ती अभिलेखों में ही मिलती है । पश्चिम भारत के अनेक गुफालेखों में ऐसे बहुत से नगरों के उल्लेख है जिनका संबंध इस वंश के शासकों से था, जैसे बेनाकतट और नवनगर । इनके अलावा "अमात्यों" या जिलाधिकारीयों के मुख्यालयों के रूप

में गोवर्धन (नासिक) में और मामला (पूना जिले में मावल "तालुक") के उल्लेख हैं । कटक का अर्थ "कैप" या "शही नगर" है । अत : बेनाकटक का तात्पर्य संभवत: बेना के किनारे के "कैप" या शहर से है । चूंकि इस स्थान का संबंध गोवर्धन से था जो नासिक जिले में है, यह नदी करबेन होनी चाहिए जिसका उल्लेख अभिलेखों में मिलता है । वर्तमान अंबिका नदी ही पुरानी करबेना है । यह नदी बासंद की पहाड़ियों से निकलकर सूरत और दमण के बीच समुद्र में गिरती है । नवनगर संभवत: नवानगर है, जो ठाणा जिले में कल्याण का पुराना नाम था । इस काल में सातवाहनों की प्रमुख राजधानी गोदावरी के तट पर पैठण में थी । सातवाहन साम्राज्य के दो अन्य बड़े नगर वैजयंती–वनवासी (उत्तरी कनारा) और धान्यकटक – अमरावती (मद्रास के गुटूंर जिले में) थे । दूसरे नगर कुदूर और वेंगीपुर थे जहां सातकर्णियों के खंडहरों पर अन्य राजवंशों ने अपना राज्य बनाया।" तत्कालीन मिश्र के एक भूगोलवेत्ता टालेमी की पुस्तक एवं मिश्र के एक अज्ञात यूनानी निवासी द्वारा लिखित "इरथ्र की परिक्रमा" (पेरीप्लस) में अनेक दक्षिण भारतीय नगरों एवं बन्दरगाहों का विवरण दिया गया है । इन विवरणों से ज्ञात होता है कि ईसा की निकट शताब्दियों में विद्यमान इन नगरों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –

1. प्रायद्वीप के आंतरिक नगर – ऐसे नगरों में पैठन, तगर, नासिक, बनवासी आदि व्यापारिक बस्तियां आती थी । टोलेमी ने ऐसे नगरों में हिप्पोकूर (आधुनिक हिप्पर्गि या कोल्हापुर), मोदोगुल्ला (रायचूर के निकट मुद्गल), वर्दमान (वर्धनपेट), कोरूकल (वारंगल का एक निकटवर्ती क्षेत्र) आदि का परिगणन किया है ।

2. पश्चिमी तटीय नगर – समकालीन विदेशी स्रोत दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर जिन नगरों और बन्दरगाहों का उल्लेख करते है, उत्तर से दक्षिण की ओर जाते हुए क्रम से बेरीगाज (भृगुकच्छ या भरुच), सुप्पारा, (शूर्पारक), कैलियाना (कल्याण), दूंग, सेर्मोल्ला (संभवत : मुंबई के निकट चोल), मंदगोर (रत्नगिरी जिले में मंदरगढ़), हिप्पोकूर (कोलावा के निकट कोई बन्दर–स्थल), पलैपटने (बेलियपट्टम), मैलिजीगर (जंजीरा या जयगढ़), बाईजंतियम (चिपलूण), तोगरम् (देवगढ़) आदि बन्दर–नगर आते थे । इनके अतिरिक्त नीलकांत, कोचीन व कुमारी का उल्लेख भी आया है । ये स्थल आज भी प्रसिद्ध है ।

3. पूर्वी तटीय नगर – ऐसे नगर मुख्यतया कृष्णा, गोदावरी, लांगुलिनी, वंशधरा आदि नदियों के मुहानों पर अवस्थित थे । दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हुए मसलिया (आधुनिक मछुरीपट्टनम् पांडिचेरी (प्राचीन वेदपुरी), मामल्लपुरम् ताम्रलिप्ति (तामलुक) आदि महत्वपूर्ण व्यापार–केन्द्र आते थे । प्राचीन तमिल साहित्य के अध्ययन से इन नगरों की पहिचान से पर्याप्त सहायता मिली है ।

इन नगरों का अरब, रोम, यूनान और दक्षिण पूर्वी एशिया संबंध बना हुआ था । पश्चिमी देशों के भी अनेक जहाज माल लाने व ले जाने व ले जाने के लिए इन बन्दरगाहों पर लंगर डाले खड़े रहते थे ।

14.5.3 जीवन का प्रभाव – सातवाहनकालीन व्यापार एवं द्वितीय नगरीकरण ने भी दक्षिण भारत के निवासियों के आर्थिक जीवन पर अनेक प्रकार से प्रभाव डाला। व्यापार की मात्रा व विदेशों में दक्षिण भारतीय वस्तुओं की मांग में भारी वृद्धि का एक परिणाम व्यापार–श्रेणियों का अभ्युदय रहा । विभिन्न अभिलेखों में धनिकों (अन्न–व्यापारी), गन्धिकों (इत्र–फरोश आदि), सुवर्णकारों, मालाकारों, वढ्ढकियों (शिल्पकारों), ओढ़यत्रिकों (उदय–यांत्रिकों), तेलियों, कोलिकों (बुनकरों), वंशकारों (बांस का काम करने वालों), कुम्हारों आदि का उल्लेख प्राप्त होता है । कई बार एक ही नगर में एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वालों का एकाधिक श्रेणियां होती थीं । इन श्रेणियों के मामलों में सामान्यतया राजकीय हस्तक्षेप नहीं होता था । इन श्रेणियों के सदस्यों को श्रेणी के नियमों, निर्णयों एवं नियंत्रणों का पालन करना अनिवार्य होता था । व्यापारिक श्रेणियों एंव सार्थों के अपने रक्षक दल भी होते थे ।

इस काल में पल्लवित व्यापार एंव उद्योग द्वारा कमाये गये लाभ को कुछ अंश श्रेणियों के पास एकत्रित हो जाता था। इस धन को वे पुंजी में परिवर्तित कर लाभ के व्यवसायों में विनियोजित कर देती थी । वे बैंकिंग कार्य भी सम्पन्न करती थी । साधारणतया ब्याज की दरें 9 से 12 प्रतिशत तक रहा करती थी । जोखिम–भरे ऋणों की ब्याज दरें जोखिम के अनुसार इससे अधिक रहा करती थी । इन श्रेणियों, द्वारा कभी–कभी अपनी मुद्राएं भी स्थानीय रूप से निर्गमित की जाती थी । वे विनिमय के माध्यम के रूप में मान्य होती थीं क्योंकि उन पर जनता का बड़ा विश्वास रहा करता था । कई बार किसी विशेष उद्देश्य की परिपूर्ति के लिए दानदाता–जन एकमुश्त राशि इन श्रेणियों का पास इस अपेक्षा से जमा करते थे कि उससे प्राप्त ब्याज से वे दाना–दाता के अभीष्ट की पूर्ति कर सकें । इस पद्धति को "अक्षयनीति" कहा जाता था, क्योंकि इसमें मूल जमाराशि अक्षय अर्थात यथावत् ही रहती थी ।

विभिन्न श्रेणियों एवं राज्य के कोष में अधिक धनराशि एकत्रित होने के कारण अनेक धार्मिक कार्य सम्पादित हुए । भिक्षुओं व ब्राह्मणों को दान–दक्षिणा दी जाती रहीं व अनेक धर्म–स्थल निर्मित हुए । नासिक, कार्ले, कान्हेरी, भाजा, जुन्नार, पीतलखोरा आदि के गुहा चैत्य एवं विहार इसके प्रमाण है ।

सामान्य–जन की आर्थिक स्थिति पूर्वापेक्ष पर्याप्त अच्छी थी । मौद्रिक विनिमय प्रणाली अपने चरम परिपाक पर थी । इस कारण विभिन्न धातुओं व आकार–प्रकार के सिक्के प्रचलन में थे । अनेक सिक्कों पर जलयानों का अंकन यह सिद्ध करता है कि इस काल में दक्षिण भारत का विदेश व्यापार काफी बढ़ा–चढ़ा था । आप पढ़ चुके होंगे कि इस काल में जिन राजवंशों ने अपने सिक्के जारी किये, उनमें आंध्र–सातवाहन प्रमुख थे । सातवाहन राजाओं के सिक्के आंध्र के कृष्णा–गोदावरी क्षेत्र, कनार्टक, महाराष्ट्र, गुजरात व मालवा के कुछ प्रमुख पुरास्थलों से प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुए । ये सिक्के स्थानीय तकनीक से विकसित एवं कलात्मक थे । ये चांदी, तांबे, शीशे व पुटीन धातुओं से निर्मित किये गये और उन पर हाथी, सिंह, अश्व, चैत्य में वृक्ष आदि चिह्न–मय राजाओं के नाम के अंकित किये गये । कई सातवाहन सिक्कों परे जहाज का चिह्न अंकित मिलने पर हमें आंध्र–सातवाहनों की नौ–सैनिक शक्ति एवं समुद्री मार्ग द्वारा किये जाने वाले अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का परिज्ञान मिलता है । सातवाहन सिक्कों के पृष्ठ भाग

पर साधारणत: उज्जयिनी का चिह्न मिलता है । इस सिक्कों में अधिकांशत : पुराण, कार्षापण, अर्थ या पाद कार्षापण आदि रहे है ।

व्यापारिक विकास एवं नगरीकरण की परिस्थितियों ने इस क्षेत्र में विदेशी शक्तियों को भी ललचाया । परिणामस्वरूप पश्चिमी शकों ने काफी उतार–चढ़ाव का सामना करते हुए अपने राज्य स्थापित कर लिये । इस प्रकार जो राजनीतिक एवं सैनिक प्रतिद्वंद्विता प्रारंभ हुई वह कुछ शताब्दियों तक जारी रही । इस कारण दोनों ही शक्तियां धीरे–धीरे निर्बल पड़ती चली गई।

14.6 संक्षिप्तीकरण

मौर्य–सातवाहन काल में दक्षिण भारत में व्यापार की आशातीत प्रगति हुई थी । अनेक अभिलेखों, प्राप्त सिक्कों, बौद्ध ग्रंथों, विशेषकर जातक कथाओं में भारत के थल व जल–मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार के भरपूर उल्लेख प्राप्त होते है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कुछ तमिल ग्रंथों से भी इस संबंध में काफी जानकारी मिलती है । प्राचीन काल के यूनानी, मिश्री तथा रोमन यात्रियों व लेखकों ने भारत के विदेशी व्यापार की महत्ता पर भरपूर प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में भारत के आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुएं इस प्रकार रहीं –

आयात – कीमती धातुएं, टीन, शीशा, घोड़े, अंजीर, अंगूर की मदिरा, मवनियां, चीन पट्ट (चीन का रेशम), अगरु आदि ।

निर्यात – मलमल, विचित्र पशु–पक्षी औषधियां, काली मिर्च एवं मसाले, अस्त्र–शस्त्र, रत्न एवं उनसे बने आभूषण, रेशमी वस्त्र, हाथी दांत का सामान, सुगंधित द्रव्य आदि ।

भारत का निर्यात उसके आयात की अपेक्षा बहुत अधिक था । भारतीय माल की विदेशों में बहुत मांग होने से वह वहां ऊँचें दामों पर मिलता था । व्यापार–सन्तुलन भारत में होने से विदेशों के सोने के सिक्के व कीमती धातुएं भारत में बहुत आते थे । दक्षिण भारत में कई स्थानों पर उस काल के रोमन सिक्कों के जखीरे मिले है । भारत कीक ओर रोमन धन का यह प्रवाह देख रोमन लेखक प्लिनी ने भारी विलाप किया था । ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारतीयों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अपने उपनिवेश बसा लिये थे । इस कारण भी भारत के विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई । विदेश व्यापार का यह वैभव केवल गुप्त काल तक ही विद्यमान रहा। उसके बाद वह अनेक कारणों से धीरे–धीरे क्षीण होता चला गया।

व्यापार का सीधा–सीधा प्रभाव व्यापारिक जल व थल मार्गों के विकास के रूप में सामने आया । साथ ही शहरी करण की प्रक्रिया ने घनीभूत स्वरूप धारण कर लिया दक्षिण भारत में इस काल के नगरों एवं बन्दरगाहों को निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:–

1. आंतरिक नगर – इनमें वैजेयंतपुर, मुरचीपट्टन, करहाटक, शूर्पारक, पोतन या पातलि, भोगिपुर, सुवर्णगिरी, नासिक, पैठन, कल्याण, तगर, धान्यकटक, अश्वक आदि नगरों का उल्लेख किया जा सकता है ।

2. तटीय नगर – ऐसे नगरों में प्रमुख भृगुकच्छ, सुप्पारा, दूंग, सेमील्ला, बाईजंतियम, कोचीन, नीलकान्त, कुमारी, मसलिया, मामल्लपुरम, ताम्रलिप्ति आदि प्रमुख रहे है ।

इन नगरों का अरब, रोम, यूनान, मिश्र तथा दक्षिण–पूर्वी ऐशिया से व्यापारिक संबंध बना रहा । परिणामस्वरूप यातायात के अनेक साधन व मार्ग विकसित हुए । नये बाजार खोजे गये जिसने कालान्तर में "वृहत्तर भारत" की कल्पना साकार की ।

14.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मौर्य काल में दक्षिण भारत की व्यापारिक स्थिति का वर्णन कीजिए । उसने उस क्षेत्र के शहरीकरण को कैसे प्रोत्साहित किया? (150 शब्द)
2. दक्षिण भारत में मौर्य–सातवाहन युग में व्यापार के विकास एवं नगरीकरण के अभ्युदय की पृष्ठभूमि बताइये । (150 शब्द)
3. सातवाहन काल में दक्षिण भारत में हुई व्यापारिक प्रगति का उल्लेख कीजिए । (150 शब्द)
4. "आंध्र–सातवाहन युग दक्षिण भारत में नगरीकरण का काल था ।" इस कथन पर टिप्पणी दीजिए । (200 शब्द)
5. संक्षिप्त टिप्पणियां दीजिए – (100 शब्द)

   अ. आंध्र–सातवाहनकालीन भारतीय बन्दरगाह

   ब. द्वितीय नगरीकरण का दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव

   स. मौर्य–सातवाहन युग में दक्षिण भारत का आयात–निर्यात

14.8 संस्तुति अध्ययन सामग्री

1. शास्त्री के.ए. नीलकण्ठ : दक्षिण भारत का इतिहास
2. याजदानी जी. (सं.) : दकन का प्राचीन इतिहास सार्थवाह
3. मोतीचन्द्र : सार्थवाह
4. वाजपेयी कृष्णादत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास
5. शास्त्री के.ए. नीलकण्ठ : नन्द–मार्य युगीन भारत
6. विद्यालंकार सत्यकेतु : मौर्य साम्राज्य का इतिहास
7. गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत

इकाई – 15
गुप्तकाल में आर्थिक जीवन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भूमि–व्यवस्था

15.2.1 भूस्वामित्व

15.2.2 भूमिकर

15.2.3 भूमि–भागावधि

15.2.4 भूमि की नाप–जोख

15.3 कृषि–विधि

15.4 पशुपालन

15.5 उद्योग और शिल्प

15.6 उद्योग–संगठन और श्रम

15.6.1 संगठन

15.6.2 श्रम

15.6.3 दास

15.6.4 बेगार

15.7 व्यापार और वाणिज्य

15.7.1 आन्तरिक व्यापार

15.7.2 सार्थवाह

15.7.3 व्यापार के मार्ग

15.7.4 व्यापार की सामग्री

15.7.5 व्यापारिक संगठन

15.7.6 व्यापार नियंत्रन

15.7.7 विदेशी व्यापार

15.7.8 पश्चिम से व्यापार

15.7.9 पूर्व के साथ व्यापार

15.7.10 बन्दरगाह और माल

15.8 सिक्के और ऋण–व्यवस्था

15.8.1 सिक्के

15.8.2 ऋण और बैंकिंग व्यवस्था

15.9 गुप्त काल के आर्थिक जीवन का ऐतिहासिक मूल्यांकन

15.9.1 मूल्य और जीवन–निर्वाह

15.9.2 गुप्तकाल स्वर्णयुग
15.9.3 गुप्तकाल में विपन्नता
15.9.4 गुप्तकाल का आर्थिक दृष्टि से मूल्यांकन
15.9.5 सामन्तवादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ
15.10 सारांश
15.11 शब्दावली
15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न
15.13 प्रारंभिक पठनीय सामग्री

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है गुप्त–काल के आर्थिक जीवन को सही रूप में समझना । प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन में आर्थिक जीवन के सच्चे स्वरूप को पिछले कुछ दशकों से ही समझने का सही प्रयास हुआ है । आर्थिक इतिहास को राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की तुलना में उपेक्षित सा रहना पड़ा है । इसका कारण संबद्ध सामग्री का अत्यल्प होना तो था ही, इसके साथ ही इस शताब्दी के चौथे दशक से पूर्व आर्थिक इतिहास के सही मुद्दों की पहचान करके उन्हें परिवर्तन और विकास के रूप में प्रस्तुत करने के अनेक उल्लेखनीय उदाहरण नहीं मिलते हैं । आर्थिक इतिहास की प्रस्तुति में प्राय : तथ्यों की निरर्थक पुनरावृत्ति की जाती रही है । विभिन्न कालों में परिवर्तन और विकास के सही रूप को समझ कर उन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है ।

गुप्त–काल के संदर्भ में इस विवेचन का और अधिक महत्व हो जाता है । गुप्त–काल को प्राचीन भारत के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट विकास का काल माना जाता है । प्रश्न यह उठता है कि क्या पूर्ववर्ती कुछ इतिहासकारों द्वारा प्रचारित मत कि आर्थिक क्षेत्र में भारतीय उदासीन और पिछड़े थे, तथ्यों से गुप्तकाल के लिये भी समर्थित होता है अथवा यह कहा जाय कि गुप्त–काल ने अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप आर्थिक क्षेत्र में भी विकास किया था ।

इस इकाई में हम यह देखेंगे कि आर्थिक जीवन के प्रमुख क्षेत्रों में विकास की स्थिति क्या थी । इसके लिये हम भूमि–व्यवस्था, कृषि की विधि, प्रमुख उद्योगों में संगठन और श्रम का रूप, आन्तरिक और विदेशी व्यापार व सिक्कों और ऋण–व्यवस्था की भूमिका अध्ययन करेंगे । अन्त में हम यह देखना होगा कि प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में गुप्तकाल का क्या स्थान है, क्या यह वास्तव में आर्थिक संपन्नता का काल था, क्या इसे स्वर्ण युग की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है ।

15.1 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल का विशिष्ट स्थान है । सांस्कृतिक विकास की पूर्ववर्ती प्रवृतियों को अपने में समेट कर इसने जो उपलब्धियों की वह आगे के युगों के लिये आदर्श और मार्गदर्शक बनी । समाज, धर्म, साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्रों में अपनी कृतियों और

व्यवस्थाओं के कारण इसे भारतीय इतिहास का प्रशस्त युग (क्लेसिकल एज) कहा जाता है । इसी आधार पर इसे भारतीय इतिहास के स्वर्ण–युग की संज्ञा दी जाती है ।

उस काल के सांस्कृतिक विकास के सहायक कारणों में आर्थिक समृद्धि की पृष्ठभूमि की भूमिका प्रमुख है । राजनीतिक शान्ति और प्रशासनिक स्थिरता के चलते लोगों को अवसर मिला कि वे विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में उच्चस्तरीय योगदान दे सकें ।

इस काल के आर्थिक जीवन के मूल्यांकन में दो बिन्दु विशेष उजागर हुए हैं । प्रथम, कृषि, उद्योग और व्यापार में प्रगति के कारण आर्थिक संपन्नता फैली । दूसरी, इस काल के अन्तिम भाग में सामन्तवादी अर्थव्यवस्था को जन्म देने वाली कुछ प्रवृत्तियां उभरी ।

15.2 भूमि–व्यवस्था

15.2.1 भू–स्वामित्व

शबरस्वामिन् ने जैमिनि के मीमांसा–सूत्र (6, 7, 3) पर अपने भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि साधारण मनुष्य खेत के स्वामी होते हैं और राजा भी अपनी निजी भूमि का ही स्वामी होता है, राज्य की पूरी भूमि का नहीं । राजा पृथ्वी से उत्पन्न होने वाली व्रीहि आदि की रक्षा करने के कारण उसके एक भाग का अधिकारी होता है, भ्रम का नहीं । इससे प्रतीत होता है कि उस काल में भी भूमि के स्वामित्व का प्रश्न विवाद का विषय था, यद्यपि मीमांसा के विद्वानों का प्रामाणिक मत राजा के स्वामित्व का विरोधी था ।

कात्यायन ने एक स्थल पर राजा को भूस्वामी कहा है, किन्तु यह उल्लेख राजा के उपज के षड्भाग के अधिकार के समर्थन में उसके अधिपति होने का तर्क मात्र है, यह राजा के स्वामित्व की स्थापना नहीं करता । बृहस्पति ने भी इसी प्रकार राजा को सब का अधिपति कहा है फाहियान ने कहा है कि केवल वही लोग जो राजकीय भूमि पर खेती करते हैं, उपज का एक भाग देते है । यद्यपि कुछ विद्वान इस कथन को चीनी यात्री की भूल समझते हैं, यह संभव है कि उसको यह सूचना उन लोगों से मिली थी जो राजा के भूस्वामित्व के पक्षधर थे ।

इस काल की स्मृतियों से यह स्पष्ट है कि किसान को अपने खेत पर स्वामित्व के अधिकार के सभी तत्व प्राप्य थे । बृहस्पति ने स्पष्ट किया है कि यदि राजा किसी की भूमि लेकर किसी दूसरे को दे देता है तो वह न्यायपूर्ण नही है । नारद का कथन है कि गृह और क्षेत्र किसी गृहस्थ के मूल हैं, अत : राजा को चाहिये कि इनमें से किसी को भी विचलित न करे । इस काल में कृषक के स्वामित्व के अधिकार के प्रति जागरूकता स्मृतियों में परिलक्षित होती है। स्वामित्व की स्थापना करने वाले दो तत्व – भोग (संपत्ति का वास्तव में उपयोग करना) और आगम (अधिकार का प्रमाण) के सापेक्षिक महत्व के विषय में विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । अभिलेखों में गांवों और खेतों के दान से राजा का स्वामित्व सिद्ध नहीं होता । अभिलेखों के साक्ष्य की युक्तिसंगत व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि राजा के द्वारा गाँव का दान गाँव से प्राप्त होने वाली आय, कर आदि का ही दान था । इसका तात्पर्य गाँव के खेतों का दान नहीं थी । राजा जब खेतों का दान करता था तो वह उन्हीं खेतों को देता था जो उसके

निजी स्वामित्व में थे । यही कारण है कि कुछ अभिलेखों में एकत्रीभूत खेत का दान न कर के वह एक या एक से अधिक गांवों में बिखरे हुये कई खेतों को दान में देता था ।

15.2.2 भूमिकर

नारद ने पारंपरिक मत को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि कर प्रजा की सुरक्षा करने के लिये राजा को प्राप्य पारिश्रमिक था । कर की नीति को कालिदास ने अभिव्यक्त किया है । जैसे सूर्य पृथ्वी से जल लेकर उसे सहस्त्रगुना करके बरसाता है, वैसे ही राजा कर लेकर लोगों को सहस्त्रगुना लाभ के रूप में लौटाता है । कामन्दक ने कर के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । राजा की नीति वही होनी चाहिये जो माली और ग्वाले की पुष्प और गायों के लिये होती है। वह प्रजा को अतिशय कर के द्वारा नष्ट नहीं करता; वह उनका पालन–पोषण करता है और उचित समय पर ही उनसे कर लेता है ।

राजा के द्वारा लिये जाने वाले कर के लिये अभिलेखों में प्राय: "भाग भोगकर" पद का उल्लेख मिलता है । इसमें सम्मिलित शब्दों के विशिष्ट अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ अभिलेखों में इस पद के स्थान पर "धान्य" शब्द प्रयुक्त हुआ है । अत: यह स्थूल रूप से माल के रूप में देव लगान का वाचक प्रतीत होता है । अमरकोश में "भाग," ' "बलि" और "कर" को लगान के अर्थ में पर्यायवाची माना गया है । भाग, भोग और कर को तीन पृथक शब्द मानने पर भाग उपज का राजकीय अंश होगा, भोग, फल–फुल, काष्ठ आदि के रूप में राजा को समय–समय पर देय होगा, और कर भूमि, पशु आदि संपत्ति के आधार पर निश्चित किया हुआ देय होगा, जो लगान के अतिरिक्त था जो निश्चित समय पर लिया जाता था । कुछ अभिलेखों में "उद्रंग" और "उपरिकर" साथ साथ उल्लिखित हुये है । वाकाटकों के कुछ अभिलेखों में 'क्लृप्त' और 'उपक्लृप्त' इसी प्रकार मिलते है । ये दोनों ही द्वन्द्व समानार्थक प्रतीत होते है। उपरिकर और उपक्लृप्त निर्धारित लगान के अतिरिक्त देय था । क्लृप्त और उद्रंग एक निश्चित देय था जो संभवत: प्रचलित लगान का ही द्योतक था । इस प्रकार कदाचित ये दोनों की शब्द–द्वन्द्व प्रचलित भाग और भोग के ही पर्याय थे । दान–पत्रों के लेखकों ने दाता और प्रतिग्रहीता के अधिकारों की संपूर्णता को व्यक्त करने के लिये कभी–कभी इन सभी शब्दों को, समानार्थक होने पर भी, एक साथ प्रयुक्त किया है । तथापि इस संभावना को पूर्णतया त्यागा नहीं जा सकता कि उदंग और उपरिकार और क्लृप्त और उपक्लृप्त विशिष्ट देय थे जिनके वास्तविक रूप ज्ञात नहीं है ।

लगान के रूप में उपज का छठा भाग परंपरा से प्रचलित था । नारद ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । यह व्यवस्था कृषकों के हित में थी, विशेष–रूप से फसल बुरी होने की स्थिति में । लगान किस प्रकार निर्धारित किया जाता था और किस प्रकार वसूला जाता था, इसके स्पष्ट उल्लेख प्राप्य नही है ।

साहित्य में ग्रामीणों के द्वारा राजा को उपहार देने के उल्लेख मिलते है । रघुवंश में उल्लेख है कि ग्रामीणों ने अज को वस्त्र, धान्य आदि दिये थे । अन्यत्र घोष (ग्वालों की बस्ती) के वृद्धों के द्वारा राजा को ताजा घी देने का उल्लेख है । वाकाटक अभिलेखों के अनुसार गांव

के लोग पुष्प, दूध आदि देय भी देते थे । ग्रामीणों को बेगार (विष्टि) भी करना होता था, विशेष रूप से राजकीय अधिकारियों के आगमन पर । राजकीय चर को वे आसन के रूप में खाल और ईंधन देते थे । आने वाले अधिकारियों को वे गाय और बैल अपनी बारी आने पर देते थे । चाट और भट जैसे छोटे अधिकारी भी उनसे वसूली करते थे ।

ग्रामीणों के द्वारा देय के सूचक शब्दों में से "हिरण्य" कुछ अभिलेखों में मिलता है । यह कदाचित पूरे गांव के द्वारा देय था जो सुनिश्चित था और जिसका निर्धारण नगद रकम के रूप में होता था । शर्वनाथ के खोह अभिलेख में "हलिराकर" शब्द आया है । यह कदाचित कृषक के द्वारा उपयोग किया जाने वाले हलों की संख्या के आधार पर लगाया जाता था ।

"शुल्क" शब्द चुंगी और आयात–कर के अर्थ में उल्लिखित हुआ है । नारद ने इस संबन्ध में नियमों का निर्देश किया है । मैत्रकों के अभिलेखों में "सभूतवात–प्रत्याय" और उसके अन्य पाठ "वानभूतप्रत्याय", "आवाताय" और "संभृतोपान्तप्रत्याय" मिलते है । यह कदाचित गांव में उत्पादित और बाहर से आयात सामग्री पर लगाया कर था । इस प्रकार यह शुल्क का ही पर्याय प्रतीत होता है ।

अपराधों पर लगाया गया दण्ड भी राज्य की आय का स्रोत था । स्मृतियों में इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है । मैत्रक अभिलेखों में "सदशापराध" पद आता है । इससे ज्ञात होता है कि कुछ प्रतिग्रहीताओं को ग्रामीणों पद दश अपराधों के लिये लगाये गये जुर्माने की राशि भी प्राप्य होती थी ।

15.2.3 भूमि–भोगवधि

अभिलेखों में भूमि के हस्तान्तरण के सन्दर्भ में भूमि के भोगावधि (tenure) के स्वरूप को व्यक्त करने के लिये अनेक प्रकार के पदों का प्रयोग हुआ हैं । इनके सही अर्थ के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है । किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां भोगावधि के दो पक्षों को सूचित किया गया है । इसके लिये प्रयुक्त पद है नीविधर्म और भूमिच्छिद्र न्याय । नीवि का अर्थ है मूलधन । कुछ अभिलेखों में नीवि का प्रयोग उस दान के लिए किया गया है जो स्थायी था; उसके ब्याज को कुछ कार्यों के लिये व्यय किया जाता था, किन्तु मूलधन में कोई हास नहीं किया जा सकता था । नीविधर्म के अनुसार दी गई भूमि में भी यही विशेषतायें होती थी । ग्रहीता ऐसी भूमि का उपभोग करता था, किन्तु वह उसे विक्रय या अन्य किसी विधि से समाप्त नहीं कर सकता था । नीवि शब्द से युक्त पदों में भागावधि के इन्हीं लक्षणों को स्पष्ट किया गया है । इनमें "अक्षय" और "अप्रदा" शब्द नीवि शब्द के अर्थ को ही व्यक्त करते है । अप्रदा से सूचित होता है कि भूमि को हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता और अक्षय से इसके स्थायी होने को स्पष्ट किया गया है । नीवि के लिये प्रयुक्त अन्य पद है – "अक्षयनीवि", "अक्षयनीविधर्म", "अप्रदा–क्षयनीवि–धर्म", "अप्रदाक्षयनीविमर्यादा" और "अप्रदा–धर्म" । कुमारगुप्त प्रथम के घनेदह ताम्रपत्र में दो व्यक्तियों की भूमि को "नीविधर्म–क्षय" के द्वारा एक तीसरे व्यक्ति को देने का उल्लेख है । कदाचित जिन व्यक्तियों को यह भूमि नीवि के रूप में मिली थी, उनसे भूमि, संतानहीन होने या अन्य किसी कारण से, ले ली गई थी और इस प्रकार नीविधर्म का क्षय हुआ था ।

"भूमिच्छिद्रन्याय" की व्यवस्था के बारे में विद्वान एकमत नहीं है । रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार इसके द्वारा दिया गया दान अपरिवर्तनीय या शाश्वत होता था, किन्तु वह "भूमिच्छिद्र" पद का समुचित अर्थ नही लगा सके थे । ब्यूलर ने इसका अर्थ लगाया है कि दान में भूमि के साथ उसकी सब उपज सम्मिलित थी । देवदत्त भण्डारकर का मत है कि खानों और निधियों पर राजा का अधिकार बना रहता था । बार्नेट ने यादव प्रकाश और अर्थशास्त्र के आधार पर भूमिच्छिद्र न्याय का सही रूप नहीं सुझा सके है । यू. एन. घोषाल का सुझाव है कि इसके द्वारा व्यक्ति को स्वामित्व का पूर्ण अधिकार उसी प्रकार प्राप्य होता था जैसा परती भूमि पर पहली बार कृषि करने वाले का होता था । यह तो स्पष्ट है कि अभिलेखों के अनुसार ही इस नियम के द्वारा भूमि पर शाश्वत स्वामित्व मिलता था जो पुत्र, पौत्र और अन्वय क्रम से भोग्य था ।

15.2.4 भूमि की नाप–जोख

भूमि का महत्व और उसकी मांग बढ़ने का सीधा प्रभाव यह हुआ कि झूम की नाप–जोख और उसके विषय में सही सूचना की प्राप्ति को राज्य और व्यक्ति दोनों ही ध्यान देने लगे । अभिलेखों से प्रतीत होता है कि भूमि के सर्वेक्षण के कार्य में महत्तरों की विशेष भूमिका होती थी, किन्तु भूमि का लेखा–जोखा पुस्तपाल के पास रहता था । भूमि के संबंध में किसी भी कार्यवाही में पुस्तपाल ही उसकी स्थिति और स्वामित्व आदि के बारे में सही सूचना देता था।

समकालीन स्रोतों में भूमि की नाप की इकाई और पैमानों की तालिका नहीं मिलती है । एक वाकाटक अभिलेख में "भूमि" शब्द नाप की इकाई के रूप में उल्लिखित है, किन्तु इसके आकार का निर्धारण नहीं हो पाया है । इसी प्रकार वाकाटक और मैत्रक ताम्रपत्रों में 'पादव्रत" माप की इकाई के रूप में उल्लिखित है । एक पद 9 इंच लंबा होता था । "पादव्रत" पद के आधार पर ही नापा जाता था, किन्तु वह कितने पद लंबा और कितने पद चौड़ा होता था इसके निर्धारण में सहायक कोई सूचना प्राप्य नहीं है । गुप्त अभिलेखों में अष्टक और नवक नलों के क्षरा भूमि की नाप के उल्लेख मिलते है । नल की लंबाई निश्चित ज्ञात नही है । संभवत: खेतों की नाप 8X9 नलों के आयतों की इकाई के अनुसार की जाती थी ।

लगान और भोगावधि के निर्धारण के लिये खेतों और गांवों की सीमाओं का अंकन आवश्यक था । प्राय: प्राकृतिक चिह्न जैसे नदी, वृक्ष आदि और मानव–निर्मित विशिष्ट संकेत यथा मन्दिर, नहर आदि का उपयोग किया जाता था । कभी–कभी सीमा–स्तंभ और कीलक जैसे कृत्रिम चिह्न भी स्थापित किये जाते थे । स्मृतियों में भूसा, कोयला और गड्ढों आदि के द्वारा सीमा–रेखा बनाने का विधान है । अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सीमा बतलाने में सीमा पर स्थित खेतों के स्वामी के नामों के उल्लेख किये गये है ।

बृहस्पति और नारद की स्मृतियों में सीमा के निर्धारण के लिये चिह्नों के सुझाव के साथ ही सीमा के विवाद के विभिन्न मुद्दों का निर्णय करने के लिये विस्तार के साथ नियम दिये गये हैं ।

15.3 कृषि–विधि

कृषि पारंपरिक विधि से होती थी । पूर्वकाल में प्रचलित विधि में किसी उल्लेखनीय परिवर्तन या सुधार का संकेत नहीं मिलता । फिर भी अमरकोश और बृहत्संहिता में कृषि–संबंधी ज्ञान को व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया गया है । कॉसमस ने गैंडे की खाल से बने हल के फलों का उल्लेख किया है, जो संभवत: किसी पिछड़े हुये प्रदेश में प्रयुक्त होते थे । लोहे के फाल वाले हलों का प्रचलन था । अमरकोश में हल के विभिन्न भागों के लिये सुनिश्चित शब्दावली मिलती है । बैलों को हल में जोतने से पहले प्रशिक्षित किया जाता था, जिससे वे दाँये और बाँये दोनों ओर चल सकें । जो बैल हल में जुतते थे इन्हें हालिक या सैरिक कहते थे। जोते हुए खेत की मिट्टी को समतल करने और ढेलों को फोड़ने के लिये होगा और कोटिश नाम के उपकरणों का उपयोग होता था । कृषिकर्म की विभिन्न अवस्थाओं और प्रक्रियाओं और उनमें प्रयुक्त उपकरणों के लिए अमरकोश में विशिष्ट शब्दावली मिलती है । इन उपकरणों के महत्व को देखते हुए ही बृहस्पति और नारद ने इनका विनाश करने या इन्हें क्षति पहुंचाने वाले के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की । हल के महत्व के कारण उसके सम्मान में "सीर–यज्ञ" नाम के पूजनोत्सव का आयोजन होता था । कात्यायन के अनुसार हल जोतने से पूर्व पृथक श्राद्ध करना चाहिये । अच्छी उपज के लिए खेतों को एक से अधिक बार जोता जाता था जिनके लिये विशिष्ट शब्द प्रयुक्त होते थे । हल से जुते हुये खेतों का आर्थिक महत्व समझा जाता था और उन्हें पवित्र माना जाता था ।

खेतों के लिये बीज की आवश्यकता को भलीभांति समझा जाता था । कुछ अभिलेखों में खेतों का उल्लेख बोये जाने वाले बीज की मात्रा के आधार पर हुआ है । अच्छे बीज के गुणों की पहचान थी । बृहत्संहिता में बीजों की गुणवत्ता बढ़ाने की अनेक विधियां उल्लिखित हैं, किन्तु स्पष्ट है कि इनका उपयोग धनी लोग अपने उद्यानों में बहुमूल्य पेड़ों और पौधों के लिए करते थे । साधारण किसान के द्वारा इनके उपयोग की संभावना नहीं होती । खेतों की उर्वरता बढ़ाने की आवश्यकतायें भलीभांति समझी जाती थीं । किन्तु साधारण किसान कूड़ा–करकट और गोबर से आगे नहीं बढ़ सकता रहा होगा । वराहमिहिर ने स्थल की उर्वरता बढ़ाने की कई विधियाँ लिखी इनमें हरी खाद, भेड़–बकरी का मल और मांस के उपयोग के सुझाव हैं । कदाचित इनमे से व्ययसाध्य सुझाव उद्यानों में ही प्रयुक्त होते रहे होगें । सिंचाई के लिये वर्षा उस समय भी प्रमुख साधन थी । यही कारण है कि मेघ और संबंधित प्राकृतिक विषयों का ज्ञान साधारणयन को भी था । बृहत्संहिता में ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर सुवृष्टि, अतिवृष्टि और अनावृष्टि की संभावनाओं का विस्तार के साथ विवरण मिलता है । सिंचाई के लिये मानव–निर्मित साधनों के द्वारा जल की व्यवस्था करने के प्रयासों का परिचय मिलता है । बृहत्संहिता में "दकार्गलाध्याय" नाम का एक पूरा अध्याय है जिसमें पृथ्वी के नीचे छिपी जल की धाराओं की स्थिति को अनेक चिह्नों के आधार पर पता लगाने की विधि दी गई है । इस ज्ञान का उपयोग कुओं और तालाबों के खोदने में होता था । अमरकोश में विभिन्न प्रकार के जलाशयों और कुओं से जल निकालने की विधि से संबंधित अनेक शब्द दिये गये है । अमरकोश में घटीयंत्र का उल्लेख मिलता है अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि गुप्तकाल तक कुएं से जल

निकालने की "पर्शियन ह्वील" के समनि की विधि का उपयोग होने लगा था । इसके लिये पारिभाषिक शब्द "अरघट" (आधुनिक काल का रहट) अधिक प्रचलित न होने के कारण अमरकोश में उल्लिखित नहीं है ।

सिंचाई के लिये जल उपलब्ध कराने के लिये स्मृतिकारों ने नये कूप और जलाशय के निर्माण और पुरानों के जीर्णोद्वार को पुण्य कार्य के रूप में स्थापित किया । इनकी सुरक्षा के लिये इनको क्षतिग्रस्त करने और नष्ट करने वालों को गहरे अर्थदण्ड का विधान था । रघुवंश में धर्मात्मा राजा के लक्षणों में सिंचाई के साधनों की समुचित व्यवस्था करना प्रमुख रूप से उल्लिखित हें । सिंचाई के साधनों के प्रति राज्य की जागरूकता का सब से उत्कृष्ट उदाहरण स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख है । सुदर्शन झील, जो स्कन्दगुप्त के राज्य काल में बांध के टूट जाने के कारण, समस्या बन गई । स्कन्दगुप्त के स्थानीय कुशल अधिकारियों ने इसका पुनर्निर्माण कराया ।

15.4 पशुपालन

भारतीय आर्थिक व्यवस्था में कृषि के लिये गाय और बैलों की अत्यधिक उपयोगिता के कारण पशुपालन भी कृषि के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ था । किन्तु इसके साथ ही कुछ ऐसे वर्ग और व्यक्ति थे जो प्रधानत: पशुपालन में ही लगे हुये थे । कामन्दक ने "वार्ता" के अन्तर्गत पशुपालन को कृषि के साथ ही एक स्वतंत्र व्यवसाय कहा है । वराहमिहिर ने पशुओं की समृद्धि और प्राकृतिक विपत्ति की सूचक दशाओं का अनेकश: उल्लेख किया है, जो पशुपालन के उद्योग के महत्व का सूचक है ।

अमरकोश में पशुओं की लम्बी शब्दावली दी गई है । इसी में जलजीवों और पक्षियों के भी नाम हैं । पशुओं को वन्य और ग्राम्य दो वर्गों में बांटा गया है । वनवासी और दूसरे पिछड़े वर्ग वन्य जीवों और पक्षियों के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे । मछुहारों की जीविका मछली और दूसरे जल–जीवों के माध्यम से थी । पशुओं और पक्षियों के मांस, हड्डी, सींग, खुर, दांत, पंख, चर्म, बाल आदि की आर्थिक उपयोगिता थी ।

ग्राम्य पशुओं के पालन की विधि के विषय में समकालीन साक्ष्यों में कोई सार्थक उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु अमरकोश में गाय के बच्चा देने के सामर्थ्य और दूध देने के गुण और बैल के हल और गाड़ी खींचने की शक्ति और प्रजनन के लिये इसकी उपयोगिता की सूचक शब्दावली से यह स्पष्ट है कि पशुओं के गुणों को विधीवत देखा और समझा जाता था ।

गाय और बैल की आर्थिक उपयोगिता के कारण उनको पवित्र मानने के विचारों को समर्थन मिला । रघुवंश में दिलीप और उनकी रानी सुदक्षिणा के द्वारा नन्दिनी की पूजा की कथा में इसका पालन हुआ है । गाय और बैल का दान पुण्य समझा जाता था । प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के लिये कहा गया है कि उसने अनेक सहस्त्र गायों का दान दिया था । गाय की हत्या ब्राह्मण की हत्या के समान पाप माना जाता था । गाय और बैल के साथ दुर्व्यवहार करने पर दण्ड का विधान था ।

सांड छोड़ना धार्मिक कृत्य समझा जाता था । मत्स्य पुराण और बृहत्संहिता दोनों ही में ऐसे पशु के स्वस्थ और गुण–संपन्न होने का निर्देश मिलता है । स्पष्ट है कि इस नियम के पीछे पशुओं की नस्ल को सुधारने का विचार था ।

कुछ व्यक्तियों के पास पशु इतनी अधिक संख्या में होते थे कि वे उनके लिये चरवाहे रखते थे । दोनों ही पक्षों के हितों की रक्षा करने के लिये विस्तार के साथ स्मृतियों में नियम बनाये गये । ये "स्वामिपाल–विवाद" के नाम से उल्लिखित हैं । पशुओं की सुरक्षा के लिये चरवाहा उत्तरदायी । था । नारद के अनुसार उसे पारिश्रमिक के रूप में सभी पशुओं का दूध प्रति आठवें दिन, और प्रति वर्ष 100 पशुओं के लिये एक बछिया और 200 पशुओं के लिए एक दुधार गाय देय थे । चरवाहे की यह स्थिति आर्थिक दृष्टि से सर्वथा लाभकारी थी ।

हाथी और घोड़े का सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व था । घोड़ों की अच्छी नस्ल पर ध्यान दिया जाता था । रघुवंश से पता चलता है कि काम्बोज और वनायु के घोड़े श्रेष्ठ माने जाते थे । हाथी दांत का आर्थिक उपयोग था । घोड़े गाड़ी खींचने और समान ले जाने के काम में भी प्रयुक्त होते थे ।

अन्य पशुओं में गधे, खच्चर और ऊंट सवारी और समान ढोने के काम में आते थे । भेड़ और बकरी को खाने, और ऊनी वस्त्र बनाने के अतिरिक्त, मरने पर उनके शरीर के विभिन्न भागों से अनेक उपयोगी सामान बनाये जाते थे ।

फाहियान का कथन है कि मध्यदेश में लोग सुअर और मुर्गा–मुर्गी का पालन नहीं करते थे और न जीवित पशुओं को बेचते थे । बाजार में भी मांस बेचने वालों की दुकानें नहीं थी । कुछ विद्वान इस साक्ष्य को एकपक्षीय और अतिरंजित मानते है । यह सत्य है कि मांसाहार का प्रचलन अहिंसा के आदर्श के कारण प्रभावित हुआ था, किन्तु यह इतना नगण्य नहीं था जैसा फाहियान कहता है । फिर भी स्पष्ट है कि मांसाहारी की दृष्टि से पशुपालन बहुत सम्मानजनक नहीं था ।

15.5 उद्योग और शिल्प

इस काल की आर्थिक संपन्नता उद्योग और शिल्प के विकास से प्रमाणित होती है । साहित्यिक उल्लेखों के साथ ही उस काल की कृतियाँ, जो पुरातत्व के माध्यम से उपलब्ध हुई है, अपनी उत्कृष्टता के लिये प्रसिद्ध है । इस काल का औद्योगिक विकास तीन प्रमुख कारणों से संभव हुआ था । प्रथम, खनिज पदार्थो और दूसरे कच्चे माल की दृष्टि से भारत का संपन्न होना, द्वितीय, तकनीकी और कौशल का विकास और तृतीय, पारंपरिक कौशल को पीढ़ियों और शताब्दियों के प्रवाह में सुरक्षित रखना ।

कच्चे माल के सभी स्त्रोत–स्थानों का सीधा उल्लेख इस काल के ग्रंथों में नहीं मिलता है, किन्तु पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ग्रंथों के आधार पर उनकी पहचान हो सकती है । बृहत्संहिता और अमरकोश से भी कुछ स्त्रोत–स्थानों के नाम ज्ञात होते हैं ।

धातुओं पर आधारित उद्योग और शिल्प इस काल में विकसित थे । अमरकोश से स्पष्ट है कि खान और उनसे प्राप्त होने वाली धातुओं का परिचय लोगों को था । अमरकोश में प्रमुख धातुओं के नाम दिये गये है । कामसूत्र में धातुवाद को 64 कलाओं में से एक के रूप में गिनाया गया है । अमरकोश में सवर्णकार, लौहकार और ताम्रकार का नामोल्लेख है । बृहस्पति ने भी सोने, चांदी और दूसरी धातुओं से समान बनाने वालों का उल्लेख किया है ।

लौहकार अनेक उपयोगी अस्त्र–शस्त्र, उपकरण और वस्तुओं को बनाता था । रघुवंश में लौह को गर्म करके अयोधन से पीटने का उल्लेख है मेहरौली का लौह स्तम्भ उस काल के लौहकारों के कौशल और तकनीक का मुखर उदाहरण है । शताब्दियों के हवा और धूप के प्रभाव से भी इसमें खरोंच नहीं लगा है । इतने बड़े आकार का लोहा कैसे ढाला गया होगा यह भी विचारणीय है । ताँबे और कांसे का उपयोग बर्तन, मूर्तियों, और सिक्कों को बनाने में होता था। उस काल के अनेक बर्तन और मूर्तियां प्राप्त हुई हैं । ये बर्तन अनेक आकार के हैं । कई मूर्तियां बृहदाकार हैं । ये सभी कलात्मक और सुरूचिपूर्ण है । इनमें से अधिकांश ढाली गई है और कुछ पत्तर को पीट कर बनाई गई है । बड़े आकार की मूर्तियों से सिद्ध होता है कि कारीगरों की धमनियां बहुत बड़ी थी । अजन्ता के चित्रों के आधार पर यह कहा गया है कि उस काल में तांबे और कांसे पर अत्यन्त चमकदार पालिश करके उनका दर्पण के रूप में उपयोग किया जाता था ।

साहित्य और कला में आभूषणों का प्रचलन स्त्री और पुरूष दोनों में ही प्रमाणित होता है । उत्खनन से भी कुछ स्वर्ण आभूषण मिले है । स्वर्णकार की कला की उत्कृष्टता उस काल के सोने के सिक्कों में देखने को मिलती है । सोनार ही जौहरी का भी कार्य करता था । मृच्छकटिक में सोनारों के द्वारा अनेक प्रकार के आभूषण बनाने, उनमें रत्नों को जडने, उनको चमकाने और माला में गूंथने का बड़ा सजीव चित्रण है । कामसूत्र में 64 कलाओं में से दो का संबंध रत्नों और उनके उपयोग से संबंधित है – "रूपरत्नपरीक्षा" और "मणिरागकरज्ञानम् । बृहत्संहिता में "रत्नपरीक्षा" नाम का एक पृथक अध्याय है, वराहमिहिर ने 22 प्रकार के रत्नों को गिनाया है । रत्नों में सबसे अधिक उपयोग मोती का था । बृहत्संहिता में एक लड़ से लेकर 1008 लड़ों वाली मोती की मालाओं के विशिष्ट नाम दिये गये है । इन नामों में से कुछ अमरकोश और साहित्यिक ग्रन्थों में भी मिलते हैं । इनमें से कुछ को अजन्ता के चित्रों में भी खोजा गया है । रत्नों का उपयोग आभूषणों के अतिरिक्त पात्र, अस्त्र–शस्त्र, शय्या और आसन आदि को अलंकृत करने में भी होता था।

साधारण व्यक्ति बहुमूल्य रत्नों के स्थान पर कीमती पत्थरों से अलंकरण करते थे । भारत में इनसे मनके बनाने का उद्योग अत्यन्त प्राचीन है । इस काल में भी इसका प्रचलन उत्खनन से समर्थित होता है ।

पत्थर पर काम करने का शिल्प इस काल में और फैला । भवन और मन्दिरों के निर्माण के अतिरिक्त प्रस्तर–शिल्पी मूर्तियों की रचना में अपने बहुसंख्यक सहायकों के साथ व्यस्त रहते थे । गुप्त–काल की प्रस्तर–मूर्तियां अपनी कलात्मकता में अद्वितीय है ।

कुम्हार का कार्य एक व्यस्त उद्योग था । मिट्टी के बर्तन का अत्यधिक प्रचलन था । उत्खनन से ये बड़ी संख्या में प्रात होते है । ये प्राय: चाक पर बनाये जाते थे, किन्तु कुछ सांचों से भी ढाले गये है । इनके बनाने, पकाने और रंगने में उत्कृष्ट कौशल का परिचय मिलता है । कुम्हार अनेक प्रकार के बर्तन बनाते थे और उनको अलंकृत भी करते थे । कुछ पीने के बर्तनों में पकड़ने के लिये विविध प्रकार के हत्थे भी लगाये जाते थे । मिट्टी के अनेक प्रकार के खिलौने बनते थे । मृच्छकटिक और शाकुन्तलम् में उनके उल्लेख है । उस काल की अनेक सुन्दर मूर्तियां मिलती है । ये मानव और पशु–आकृतियों के अतिरिक्त और कई वस्तुओं के रूप

में है । कुम्हार मिट्टी की पक्की ईंट भी बनाते थे । निर्धन लोगों के उपयोग के लिए मिट्टी के मनके भी बनते थे ।

बढ़ई का कार्य भी आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था । अमरकोश में बढ़ई के औजारों के नाम के साथ ही प्रमुख बढ़ई के लिये विशिष्ट शब्द दिये गये है । कामसूत्र में तक्षण को 64 कलाओं में उल्लिखित किया गया है । खेती के उपकरण, वाहन और मकान के दरवाजे और दूसरे सामान के अतिरिक्त बढ़ई कलात्मक मूर्तियां भी बनाता था ।

कामसूत्र में बांस और सिरकण्डे से सामान बनाने को भी 64 कलाओं में सम्मिलित किया गया है । साहित्य में भी वेत्रांसन का उल्लेख है ।

वस्त्रोद्योग प्रमुख उद्योगों में से एक था । अमरकोश में जुलाहे और उसके उपकरणों का उल्लेख है । वस्त्र मुख्यत: कपास से ही बनते थे । साधारण वस्त्र के साथ ही अत्यन्त महीन वस्त्र भी बनाये जाते थे । कुछ तो इतने हल्के होते थे कि वे फूंकने से उड़ जाते थे । वस्त्रों की रंगाई और कढ़ाई का शिल्प अत्यन्त विकसित था । अजन्ता के चित्रों के आधार पर इनकी कई विधियां बतलाई गई है– ताने–बाने को पहले ही रंगना, बंधून विधि, पेशकारी और कढ़ाई । अमरकोश में रेशम के वस्त्रों की बुनाई की विधि के विभिन्न चरणों के लिये शब्दावली दी गई है । ऊन, खाल और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों के उपयोग के भी उल्लेख मिलते है ।

चर्मकार का उद्योग भी उपयोगी था । अमरकोश में उसके अनेक उपकरणों और बनाई हुई चीजों के नाम दिये गये है । वाकाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मरे पशुओं की खाल (चर्म) पर राज्य का एकाधिकार था । राज्य उत्पादन के कार्य के लिये चर्म का कैसे उपयोग करता था इसकी कोई सूचना नही मिलती ।

हाथी दांत का उद्योग संपन्न जीवन से संबंधित था । धनी व्यक्ति के घर में आसन, वीणा टांगने की खूंटी और मोहरें हाथी दांत की बनती थी । ये कलात्मक –होती थीं ।

साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सुरापान स्त्रियों में भी प्रचलित था । यह सरलता से सोचा जा सकता है कि उस काल में मद्य बनाने का उद्योग फैला हुआ था ।

शहर का उपयोग चिकित्सा के अतिरिक्त भी प्रचलित था । संभवत: जनजातियों और वन में रहने वाले लोग शहद और मोम निकालने का काम करते थे ।

उस काल की संपन्नता के अनुकूल श्रृंगार की सामग्री और सुगंधित पदार्थो और लेपों का उद्योग भी विकसित था । बृहत्संहिता में एक पूरा अध्याय सुगंधित पदार्थों और तेलों के विषय में है । ऋतुसंहार से इन पदार्थों के उपयोग का प्रचलन प्रमाणित है । विभिन्न प्रकार के धूप, आवलक, कुंकुम, सुगंधित चूर्ण, आलेप और तेल बनाने के उद्योग की उपयोगिता थी ।

तेल के उद्योग की समृद्धि इन्दौर के अभिलेख से प्रमाणित होती है । तेल का उपयोग खाने, सिर और शरीर में लगाने, दीपक जलाने और चिकित्सा के लिये होता था। सरसों के अतिरिक्त तिल, अलसी और इगुंदी के बीजों से भी तेल बनता था ।

नमक बनाना भी एक व्यस्त उद्योग था । अमरकोश में दो प्रकार के नमक का उल्लेख है– समुद्र के जल से बना और चट्टानों से निकाला गया । वाकाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि नमक बनाना राज्य का एकाधिकार था ।

15.6 उद्योग–संगठन और श्रम

15.6.1 संगठन

उद्योगों और शिल्पों में उत्पादन के कार्य में पूंजी और श्रम के स्वरूप को देखते हुये हम चार प्रकार की व्यवस्था की पहचान कर सकते है । मुख्यत: इसका स्वरूप पारिवारिक था, जिसमें परिवार के ही व्यक्ति पूंजी, उपकरण और श्रम का योगदान करते थे । कभी–कभी आवश्यकता और सामर्थ्य के अनुसार कुछ श्रमिकों की सहायता। ली जाती थी । कुछ ऐसे भी उत्पादनकर्त्ता थे जो बड़े पैमाने पर उत्पादन करते थे । उनके सहायकों की संख्या अधिक होती थी । इस प्रकार की दूसरी व्यवस्था को आधुनिक काल में प्रचलित पूंजीवादी व्यवस्था का नाम नहीं दिया जा सकता । तीसरी प्रकार की व्यवस्था में कुछ लोग साझीदारी में उत्पादन का कार्य करते थे । इनका यह संगठन स्थायी नहीं होता था । सीमित उद्देश्य के लिये सीमित काल के लिये लोग सहयोग का समझौता करते थे । चौथी प्रकार की व्यवस्था श्रेणियों की थी । यह व्यवस्था अधिक संगठित और स्थायी होती थी । प्राचीन काल में प्रथम और चतुर्थ व्यवस्था का ही अधिक प्रचलन था ।

साहित्य और अभिलेखों से ज्ञात होता है कि प्राय: कारीगर अपने घरों में या कर्मशाला में उत्पादन का कार्य करते थे । वैशाली से प्राप्त मुहरों से पता चलता है कि उस काल के आर्थिक संगठन में "कुलिक" एक महत्वपूर्ण अंग थे । कुलिक का अर्थ है कारीगर था । कदाचित् वह कुलिकों की श्रेणी का प्रमुख था । अधिक संभव यह है कि वह अपने प्रभाव, समृद्धि और कौशल कें कारण राज्य के द्वारा प्रथम–कुलिक के रूप में सम्मानित होता था । उसका पद संघटनात्मक न होकर राज्य में सम्मान का सूचक था । यह तो सर्वथा सिद्ध है कि कारीगरों में से कुछ अपने कार्य के विस्तार के कारण अधिक समृद्ध थे ।

साझेदारी में काम करने के लिये स्मृतियों में 'संभूय–समुत्थानम् शब्द आता है । इसकी सफलता के लिये विधिवत नियम बनाये गये थे । इसमें सम्मिलित व्यक्तियों की समान रूप से भागीदारी थी, उनके समान अधिकार और समान उत्तरदायित्व थे । नारद और बृहस्पति ने वणिकों के सन्दर्भ में इसका विशेष उल्लेख किया है । किन्तु विभिन्न उद्योग और शिल्पों के लोग भी इस प्रकार कार्य करते थे । साझेदारी केवल पूंजी पर ही नहीं कौशल और तकनीकी ज्ञान पर निर्भर थी । बृहस्पति के अनुसार जब स्वर्णकार और चांदी, धागे, ऊन, पत्थर या चमड़े का कार्य करने वाले साझोदारी में काम करें तो उनका भाग उनके कार्य के अनुसार होना चाहिये।

श्रेणियों के संगठन और कार्यविधि के विषय में भी गुप्तकालीन स्मृतियों ने ही सर्वप्रथम विस्तार के साथ नियम बनाये हैं । विभिन्न उद्योगों और शिल्पों की अपनी–अपनी श्रेणी होती थी । श्रेणी के सदस्यों के परस्पर इकरारनामें को "संविद" या "समय" कहते थे । श्रेणियों के अपने नियम होते थे । राजा से यह अपेक्षित था कि वह इनके निर्वाह के लिये समुचित समर्थन दे । इनकी कार्यशैली प्रजातंत्रात्मक थी । इनका एक "प्रमुख" होता था । कार्य को सुचारू रूप से संपादित करने के लिये "कार्यचिन्तक" नाम के अधिकारी होते थे ।

स्मृतियों के साक्ष्य का समर्थन समकालीन साहित्य और अभिलेखों से होता है । वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में श्रेणियों और उनके प्रमुखों की समृद्धि और विभिन्न अवस्था की सूचक दशाओं का उल्लेख किया है । मुद्राराक्षस में चन्दनदास को रत्नाकारों की श्रेणी का प्रमुख कहा गया है । अभिलेखों में हमें इस काल के तैलिक (तेली) और पट्टवाय (रेशमी वस्त्र बनाने वाले) लोगों की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है । इन्दौर और गढ़वा के अभिलेखों में श्रेणी के प्रमुख के नाम दिये गये है । मन्दसौर के अभिलेख से हमें श्रेणियों के संगठन और उनके कार्य–विधि का परिचय मिलता है । पट्टवाय श्रेणी के लोग अपने उद्योग में कुशल होने के साथ ही अनेक सांस्कृतिक कार्यों में भी दक्ष थे । संगठन की स्थिरता इसी बात से स्पष्ट है कि किन्हीं कारणों से लाट छोडकर इस श्रेणी को मालव जाकर बसना पड़ा, किन्तु इसका कार्य और इसका स्वरूप इसके कारण प्रभावित नहीं हुये । अभिलेखों से ज्ञात होता है कि श्रेणियों में लोग धन जमा करते थे और ब्याज के रूप में श्रेणियां कुछ धार्मिक कार्य संपादित करने का उत्तरदायित्व लेती थी । यह व्यवस्था श्रेणियों की आर्थिक समृद्धि, उनकी स्थिरता और उनमें समाज के विश्वास का मुखर प्रमाण हैं ।

15.6.2 श्रम

इस काल की स्मृतियों में स्वामी और मृतक के संबंधों को सुनियमित करने का विधान मिलता है । मृतक को भुगतान नगद या भोजन या दोनों ही रूप में किया जाता था । वे प्राय: अकुशल श्रमिक होते थे और उनका कोई अपना संगठन नहीं होता था । वे प्राय: धनवान स्वामी की कृपा पर ही निर्भर होते थे । उस काल में वस्तुओं के मूल्य में कमी को देखते हुये कम मजदूरी में भी निर्वाह कठिन नहीं रहा होगा । बृहस्पति ने सेवकों के कई वर्ग बतलाये हैं, जो उच्च, मध्यम या लघु मजदूरी पाते थे । स्मृति नियमों से ज्ञात होता है कि ये श्रमिक निश्चित काल के लिये और निर्धारित कार्य को पूरा करने के लिये नियुक्त होते थे । नारद ने मजदूरी के संदर्भ में व्यापारी के सेवक, चरवाहा और किसान के मजदूरों के ही उदाहरण दिये है । अन्यत्र भी खेतों में काम करने वाले मजदूरों का ही उल्लेख है । इससे यह प्रतीत होता है कि औद्योगिक उत्पादन में श्रमिकों के उपयोग का चलन कदाचित सीमित था । नारद ने मृतकों को अपने कार्य के लिये दिये गये उपकरणों की समुचित सुरक्षा करने का विधान किया है । इससे ज्ञात होता है कि उत्पादन में भी उनका उपयोग होता था । स्मृतियों में मालिक और सेवक–श्रमिक दोनों ही पक्षों की सुरक्षा की दृष्टि से संतुलन बनाये रखने के लिये "वेतनस्यानपाकर्म" (वेतन न देना) और "अभ्यूधेत्याशुश्रूषा" (स्वीकार करके भी सेवा न करना) के अन्तर्गत नियम बनाये गये ।

15.6.3 दास

श्रमिकों की दो कोटियां और थी – दास और बेगार करने वाले । नारद ने दास–प्रथा के विषय में अत्यन्त विस्तार के साथ व्यवस्था दी है । उसने पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है । नारद का विवरण दास–प्रथा के अधिक प्रचलन का सूचक है अथवा उसने विधि–शास्त्रीय परंपरा का पालन करते हुये व्यवस्था की सभी संभावनाओं का सैद्धान्तिक विचार करने

का प्रयास किया है, यह प्रश्न विवादित है । अन्य किसी प्रमाण से यह नहीं ज्ञात होता कि इस काल में दासों की संख्या में वृद्धि हुई या दास–प्रथा को अधिक विस्तृत आधार मिला था । भारत में दासों को बेचने और खरीदने के अलग बाजार का उल्लेख नहीं है । नारद ने विभिन्न प्रकार के दासों को दासता से मुक्ति मिलने की संभावनाओं का उल्लेख किया है । मुक्ति देने की एक सुनिश्चित विधि बतलाई गई है । दासों के साथ निर्मम व्यवहार के प्रमाण हैं । उदास स्वामी के द्वारा उनके साथ अच्छे व्यवहार का भी उल्लेख है । समकालीन पाश्चात्य समाज में दासों की स्थिति की तुलना में भारतीय दासों की स्थिति कुछ अच्छी थी । प्रमाणों से यह नहीं ज्ञात होता कि दास–प्रथा आर्थिक जीवन का आधार थी । दासों का अन्तर दूसरे प्रकार के श्रमिकों से यह था कि गृहद्वार, मार्ग और कूड़े के स्थान को साफ करना, गुह्यांगों की मालिश करना, उच्छिष्ट, विष्टा और मूत्र को उठा कर फेंकना और स्वामी की इच्छा पर उसके अंगों को दवाना आदि अशुभ कर्म दास ही करते थे । दास स्वामी के सेवक थे जो परिवार के कार्यों को करते थे यह सहज की कल्पना की जा सकती है कि आवश्यकता पड़ने पर स्वामी के आर्थिक कार्य भी उसे करने होते थे ।

15.6.4 बेगार

गुप्तकाल में भी राज्य को बेगार (विष्टि) लेने का अधिकार था । यह राज्य के नियमित करों की सूची में अभिलेखों में उल्लिखित हुआ है । गांवों के दान में प्रतिग्रहीता को राज्य के अन्य आय के स्त्रोतों के साथ ही विष्टि का भी अधिकार मिलता था । ब्राह्मणों को भूमि का दान देते समय उनको विष्टि से मुक्त कर दिया जाता था । राज्य इस प्रकार के बेगार का उपयोग संभवत: सार्वजनिक निर्माण और सुविधा के कार्यों के लिये करता था । स्मृतियों से ज्ञात होता है कि विभिन्न शिल्पों और उद्योगों के कारीगरों को कर के रूप में कुछ निश्चित काल के लिये अपनी सेवायें देनी होती थी । ये संभवत: राज–परिवार की सुविधा के लिये विशेष अवसरों पर उपयोग में आती थी । इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य औद्योगिक उत्पादन के लिये बेगार का नियमित लाभ उठाता था

15.7 व्यापार और वाणिज्य

गुप्तकाल में विदेशी आक्रमणों से मुक्ति, लम्बे भू–भाग की राजनीतिक एकता और प्रशासनिक व्यवस्था की कुशलता के कारण जो शान्ति स्थापित हुई उसने वाणिज्य और व्यापार के विकास के लिये अनुकूल वातावरण बनाया।

15.7.1 आन्तरिक व्यापार

गांवों की आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था में वाणिज्य को सीमित अवसर ही मिलता था । कृषि पर आधारित व्यवस्था में किसान को अपनी आवश्यकता की वस्तुयें सीधे विनिमय से या जजमानी के अन्तर्गत फसलों के उत्पादन के समय में निश्चित अंश देने से मिलती थी । गांव की कुछ दुकानों के अतिरिक्त निश्चित अवधि के अन्तराल पर हाट भी लगते थे ।

नगरों की व्यवस्था की भूमिका मूलभूत महत्व की थी । नगर का मुख्य बाजार (विपणि) आपण–मार्ग के दोनों और रहता था जिसमें दुकानें रहती थी । भीटा के उत्खनन से इस साहित्यिक विवरण का समर्थन होता है ।

बड़े–बड़े नगर अन्तर्देशी व्यापार के केन्द्र थे जहां देश के विभिन्न भागों से व्यापारी आते थे । इनमें स्थानीय सामग्री ही नहीं दूर के स्थानों का माल भी बिकता था।

15.7.2 सार्थवाह

अन्तर्देशी व्यापार में सब से बड़ी बाधा मार्ग की असुरक्षा और डाकुओं का भय था । कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् में विदिशा से विदर्भ जाने वाले व्यापारियों के एक समूह और उनके काफिले को मार्ग में दस्युओं के आक्रमण से होने वाले कष्ट का वर्णन है । किन्तु अन्य कालों की तुलना में इस प्रकार की विपत्ति अधिक नहीं थी । रघुवंश में उल्लेख है कि सार्थवाह पर्वतों के ऊपर इस प्रकार सुरक्षित यात्रा करते थे जैसे उनके अपने घर हों, नदियां जैसे कुएं हों और वन जैसे उद्यान हों । यह कवि की कल्पना मात्र नहीं थी । फाहियान को अपनी भारत यात्रा में कहीं भी इस प्रकार की विपत्ति का सामना नहीं करना पड़ा जो उस काल की आन्तरिक सुरक्षा का प्रमाण है ।

मार्ग के कष्ट और बाधाओं का सामूहिक रूप में सामना करना सरल होगा, इसलिये व्यापारी काफिले के रूप में अपने को संगठित करते थे । सार्थवाह काफिले का प्रमुख था । उसका व्यापारी वर्ग में महत्वपूर्ण स्थान था । वैशाली की मोहरों में सार्थवाह का उल्लेख इसी रूप में आता है । बंगाल के अभिलेखों में भी अधिकरण के गठन में सार्थवाह की प्रमुख भूमिका होती थी । अन्तर्देशी व्यापार में लगे यात्रियों के हितों की रक्षा को ध्यान दिया जाता था । नारद का कहना है कि यदि यात्रा करने वाला व्यापारी माल के साथ अपने देश लौटता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तो राजा को चाहिये कि उसके माल को तब तक सुरक्षित रखे जब तक उसके उत्तराधिकारी नहीं आते ।

15.7.3 व्यापार के मार्ग

उस काल में सड़कों के साथ नदियां भी आवागमन का साधन थी । बंगाल में नदियों का उपयोग अधिक होने के कारण वहां के लोग कुशल नाविक के रूप में प्रसिद्ध थे ।

समकालीन साक्ष्यों में अन्तर्देशी व्यापार के मार्गों का विवरण नहीं दिया गया । रघु की विजय का मार्ग कदाचित पश्चिमोत्तर प्रदेश के लिये प्रमुख मार्ग का संकेत करता है । समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ विजय का मार्ग दक्षिण कोसल से उड़ीसा होकर पूर्वी समुद्र तट के सहारे कांची तक जाता था । इसी प्रकार एक प्रमुख मार्ग चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के गुजरात विजय का था जो सांची होकर जाता था । फाहियान की भारत यात्रा भी उस काल के प्रचलित स्थल मार्ग का परिचायक है ।

15.7.4 व्यापार की सामग्री

अन्तर्देशी व्यापार में प्रमुख माल विभिन्न स्थानों की विशिष्ट उपज और औद्योगिक वस्तुयें ही थे । ये अपने स्त्रोत के नामों में प्रसिद्ध थे । आर्थिक लाभ की दृष्टि से इनमें कम

भार और अधिक मूल्य की विलासिता की सामग्री अधिक महत्वपूर्ण थी । किसी भी माल का विक्रय वहां अधिक लाभकारी था जहां वह दुर्लभ हो । व्यापारी ऐसी परिस्थितियों का लाभ उठाते थे । स्मृतियों में आपद्धर्म के रूप में व्यापार करने वाले ब्राह्मण को कहा गया है कि वह कुछ वस्तुओं का व्यापार न करे । नारद ने धर्मसूत्रों की सूची में कुछ नाम जोड़े हैं । इसके साथ ही नारद ने उन वस्तुओं के भी नाम गिनाये हैं जिनका व्यापार ब्राह्मण कर सकता था । ये हैं सूखी लकड़ी और घास, कपास, जड़ें, कुश, अपने से फटने वाले ऊन, बदर और इगुद के फल और बिना रंगे हुये कपास की रस्सी और धागे । स्पष्ट है कि यह सूची उस काल के व्यापारिक माल की पूरी सूची नहीं है । इसमें उन वस्तुओं को भी सम्मिलित करना होगा जिनका व्यापार ब्राह्मण के लिये विहित था । बृहत्संहिता में मूल्यों में वृद्धि और कमी का संकेत करने वाली दशाओं का विवरण देते समय उस काल में प्रयुक्त प्रमुख व्यापार–सामग्री के नामों का उल्लेख हुआ है ।

15.7.5 व्यापारिक संगठन

व्यापार का प्रसार और आर्थिक जीवन में व्यापार का महत्व इसी से स्पष्ट होता है कि समाज और शासन में व्यापारियों के विभिन्न वर्गों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था । मृच्छकटिक में न्यायाधिकरण में भी सम्मिलित थे । इसी प्रकार बंगाल के अभिलेखों में अधिकरण में नगरश्रेष्टि, सार्थवाह और प्रथम–कुलिक होते थे । वैशाली से प्राप्त मोहरों में श्रेष्ठी लोगों के पृथक संगठन थे । कभी–कभी कई वर्ग (श्रेष्ठी, सार्थवाह और कुलिक) मिल कर संगठन बनाते थे । ऊपर हम उद्योगों में साझेदारी और श्रेणी के विषय में जो कुछ देखें हैं वह व्यापारियों के बारे में भी लागू होता है । स्मृतियों में व्यापारियों के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख है ।

व्यापारियों के संगठन इतने प्रभावशाली थे कि वे राज्य को अपने हितों में व्यवस्था बनाने के लिये बाध्य कर देते थे । स्मृतियों में व्यापारियों के समूहों के विधान और नियमों को मान्यता दी गई है । इस संदर्भ में 592 ई. का विष्णुषेण के राज्यकाल का अभिलेख उल्लेखनीय है यह एक स्थितिपत्र है जिसमें राजा के द्वारा व्यापारियों के नियमों को स्वीकृति प्रदान की गई थी ।

व्यापारी अपने कार्य में अनेक सेवकों को लगाते थे । ये स्थानीय दुकान तक ही सीमित नहीं थे । ये दूर–दूर तक व्यापार करने जाते थे । स्मृतियों में स्वामी और सेवक के संबंधों के लिये जो नियम बने हैं वे व्यापारियों के सेवकों के बारे में लागू होते हैं । कुछ स्मृतियों में तो इनको मिलने वाली भृत्ति या अंश का स्पष्ट उल्लेख है ।

15.7.6 व्यापार नियंत्रण

बढ़ते हुये व्यापार के कारण बेइमानी की संभावना भी बड़ी । मृच्छकटिक में उल्लेख है कि ऐसा वणिक जो धोखेबाज न हो, पाना संभव नहीं है । व्यापारियों और ग्राहकों के बीच संबंधों को व्यवस्थित करने और व्यापारियों और ग्राहकों के बीच संबंधों को व्यवस्थित करने और व्यापारियों के द्वारा लोगों के शोषण को रोकने के लिये स्मृतियों में नये नियम बनाये गये । ये छोटी से छोटी संभावनाओं और छोटे–से–छोटे अवसरों के बारे में विधान करते है । स्मृतियों में

ये विवाद के दो प्रमुख मुद्दों के रूप में स्वीकृति है– "अस्वामिविक्रय" में विचार है कि यदि कोई ऐसी वस्तु का विक्रय करता है जिसका वह स्वामी नहीं है तो वह निरस्त हो जायेगा और "क्रयविक्रयानुशय: में विधान है कि किन परिस्थितियों और किस अवधि तक क्रय–विक्रय की वस्तु लौटाई जा सकती है ।

पूर्वकाल की तुलना में इस काल में सब से अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन यह था कि जहां पहले राज्य मूल्य–निर्धारण करने के अधिकार का उपयोग करने के लिये तत्पर रहता था इस काल मैं एक उदार और उन्मुक्त नीति अपनाई गई थी । कात्यायन का कहना है कि जो मूल्य विज्ञ और ईमानदारी पड़ोसी निश्चित करते है वही उचित मूल्य है; इसके आठवें भाग से अधिक या कम होने पर मूल्य अनुचित है और ऐसे क्रय–विक्रय को सौ वर्षों के बाद भी निरस्त किया जा सकता है ।

15.7.7 विदेशी व्यापार

गुप्तकाल में भारत के समुद्री व्यापार में कोई कमी नही हुई । समुद्री यात्रा में रूचि देश के भीतरी भागों में रहने वालों को भी थी । शाकुन्तलम् में हस्तिनापुर के एक व्यापारी के जहाज के भग्न होने को उल्लेख है । इस काल की समृद्धि के कारक तत्वों में समुद्री व्यापार प्रमुख था । मृच्छकटिक में विदूषक बसन्तसेना के राजकीय वैभव को देखकर प्रश्न करता है कि क्या इसके पास समुद्री व्यापार में लगे जहाज है । वैशाली की एक मिट्टी की मोहर की व्याख्या डा. मोतीचन्द ने इस प्रकार की है इसमें लक्ष्मी को जहाज से संबंधित किया है जो इस अवधारणा को प्रतिबिम्बित करता है कि धन समुद्री व्यापार में ही है ।

15.7.8 पश्चिम से व्यापार

गुप्तकाल में प्रारंभिक काल सै ही सोने के सिक्के बनाये गये । कुषाण साम्राज्य के उत्तराधिकारी होना ही गुप्तवंश के राजाओं के लिये इतने अधिक मूल्य वाले सिक्कों को बनाने का पर्याप्त कारण नहीं थी । स्पष्ट है कि समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में गुप्त साम्राज्य की भूमिका बनी रही । प्रारंभ में यह व्यापार मुख्यत: स्थल मार्ग से ही थी । चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गुजराज के पश्चिमी क्षत्रपों को पराजित करके पश्चिमी समुद्र की ओर एक द्वार पा लिया । इस क्षेत्र के लिये चन्द्रगुप्त ने क्षत्रपों का स्थान तो पा लिया, किन्तु इस मार्ग में विदेशी व्यापार में उनकी भूमिका की कुछ सीमायें थी ।

सेवल के अनुसार रोम और भारत के बीच व्यापार का हास नीरो (68 ई.) के बाद शुरू हुआ और कारासल्ला (217 ई.) के बाद यह समाप्तप्राय हो गया, किन्तु बाइजेण्टियम सम्राटों के समय में यक पुनर्जीवित हुआ । दूसरे विद्वानों ने इस मत का विरोध किया है । रोम और भारत के बीच व्यापार गुप्तकाल में भी समाप्त नहीं हुआ था । जो परिवर्तन हुआ वह यह था कि अनेक कारणों दोनों क्षेत्रों के बीच होने वाला सीधा व्यापार अब मध्यस्थों के माध्यम से होने लगा ।

रोम साम्राज्य की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा, रोम साम्राज्य का 364 ई. में विभाजन और हूणों के आक्रमण से यह व्यापार प्रभावित हुआ । 280 ई. में अलेक्जेण्ड्रिया का अघ: पतन इस

व्यापार के हास का प्रतीक है । भारत और भारतीय वस्तुओं में रोम की रूचि का द्योतक है कराह के आर्केलाओस (278 ई.) और सेण्ट जेरोम (340 ई.) के द्वारा भारत के विषय में विवरण । कुछ ब्राह्मणों के (407 ई. में अलेकजेण्ड्रिया पहुंचने का उल्लेख मिलता है । वराहमिहिर ने रोमक नगर की खगोलीय विशेषताओं का उल्लेख किया है । भारत से रोम को दूतमण्डल ओरेलिआन (270– 275), कान्सटैण्टाइन (323 – 353) और जूलियन (361 – 363) के काल में भी गये थे । भारत से मिर्च इतनी अधिक यात्रा में रोम आ रही थी कि अलरिक ने 408 ई. में रोम को विध्वंस करने के लिए 3000 पौण्ड मिर्च और रेशम के 4000 वस्त्र वसूल किये थे । रोम साम्राज्य के 476 ई0 में पतन के उपरान्त रोम का स्थान बाइजेण्डिटयम के साम्राज्य को मिला । अपनी व्यवस्था के द्वारा उसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली । भारत के साथ व्यापार में इसके कारण फिर से वृद्धि हुई ।

किन्तु अब यह व्यापार इथियोपिया के बन्दरगाह एदूलिस के माध्यम से होने लगा । रोम के जहाज इससे आगे नहीं जाते थे और भारतीय भी कदाचित यही तक की यात्रा करते थे । कॉस्मस ने भी भारत और पाश्चात्य जगत के बीच व्यापार में इथियोपिया के मध्यस्थ होने का उल्लेख है । प्रोकोपियस ने जस्टीनियन के द्वारा 531 ई. में आक्सम को एक दूतमंडल भेजा । इससे उस काल के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सच्ची स्थिति का पता चलता है । भारत और इथियोपिया में बहुत अधिक सीधा संबंध नहीं था । श्रीलंका के माध्यम से इथियोपिया के व्यापारी रोम साम्राज्य को जाने वाले भारत के माल को अपने हाथ में लिये हुये थे । भारत से रोम जाने वाले कुछ माल, जैसे रेशम, पर फारस का एकाधिकार था । इथियोपिया चाहकर भी फारस से इसे छीन नहीं सकता था । ससानी राजवंश के अधीन फारस की शक्ति का जो अभ्युदय हुआ उसके कारण स्थाल–मार्ग से होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर फारस का एकाधिकार तो बना ही, समुद्री मार्ग से व्यापार पर भी उसका प्रभुत्व स्थापित हुआ । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जो परिवर्तन हुये उसने भारत में उद्योगों को प्रभावित किया होगा । कुछ विद्वान मन्दसोर अभिलेख में पटवाय श्रेणी की स्थिति में जो परिवर्तन हुआ और उन्हें लाट विषय को छोड़ कर पश्चिमी मालवा में आकर बसना पड़ा उसे रेशम के व्यापार में उतार से जोड़ते हैं ।

अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण पूर्व और पश्चिम के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में श्रीलंका की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण थी । कॉस्मस ने उसके इस व्यापारिक महत्व का उल्लेख किया है । पूर्व के देशों से ही नहीं भारत के अनेक बन्दरगाहों से व्यापारिक माल श्रीलंका आता था और वहां से फारस और इथियोपिया के माध्यम से पश्चिम की ओर जाता था । फाहियान की समुद्री यात्रा के विवरण से भी ज्ञात होता है कि दक्षिणपूर्वी एशिया होकर चीन जाने के लिये लोग पहले ताम्रलिप्ति से श्रीलंका पहुंचते थे ।

15.7.9 पूर्व के साथ व्यापार

इस काल में भारत का व्यापार दक्षिण–पूर्वी एशिया के देशों और चीन के साथ बढ़ा । दक्षिण–पूर्वी एशिया के साथ सांस्कृतिक संबंधों का जो इतिहास वहां के अभिलेखों और कलावशेषों से ज्ञात होता है उसमें व्यापकता और गहरापन दोनों ही देखने को मिलता है ।

इसकी पृष्ठभूमि में भारत के साथ इन देशों के समुद्री संबंधों और व्यापार की मात्रा में वृद्धि प्रधान कारण था । कालिदास के उल्लेख "द्वीपान्तरानीतलवगंपुष्पै:" से ज्ञात होता है कि इन द्वीप–समूहों से गरम मसाले बहुत अधिक मात्रा में आते थे । कदाचित इन संबंधों के चलते ही प्रयाग प्रशस्ति में सर्वद्वीपवासियों के द्वारा समुद्रगुप्त की अनेक प्रकार से सेवा करने का उल्लेख हुआ है । फू–नान के राजा रूद्रवर्मन ने चीनी सम्राट को भारतीय चन्दन की बनी जो बुद्ध की प्रतिमा भेजी वह भारतीय सामग्री के महत्व का सूचक है । फाहियान ने ताम्रलिप्ति से श्रीलंका होते हुये चीन की यात्रा एक बड़े समुद्री जहाज में की थी जिसमें 200 अन्य व्यापारी और यात्री थे । चीन के साथ व्यापार स्थल और जल दोनों ही मार्गों से होता था । भारत से चीन जाने वाले कई स्थल–मार्ग थे । एक मार्ग सुलेमान पहाड़ी के दर्रो से मध्यएशिया होता हुआ चीन पहुंचता था दूसरा कराकोरम पहाड़ी और काश्मीर के मार्ग से चीन जाता था । तीसरा मार्ग मगध, पुण्ड्रवर्धन से कामसूत्र होकर टोन्किन पहुंचता था ।

15.7.10 बन्दरगाह और माल

कॉस्मस ने भारतवर्ष के प्रमुख बन्दरगाहों और वहां से निर्यात होने वाले माल का उल्लेख किया है । इनके नाम है– सिन्धु, ओरहथ (गुजरात), केलियाना (कल्याण) सिबोर (चौल, बम्बई के पास) और माले (मालावार) । तम्रलिप्ति (तामलुक, पश्चिमी बंगाल) के महत्व का उल्लेख कई स्त्रोतों से मिलता है । मालाबार से रेशम, आरू, लौंग, चन्दन आदि के साथ ही मिर्च आती थी; सिन्धु से कस्तूरी, रेंडी का तेल और एक विशेष प्रकार की सुगंधित लकड़ी आती थी । श्रीलंका अन्य देशों से प्राप्त माल के अतिरिक्त मोती, कपड़े और संभवत: चांदी का निर्यात करता था । सुड् ग–चू नामक चीनी ग्रंथ से ज्ञात होता है कि भारत वर्ष से अनेक प्रकार की मूल्यवान वस्तुयें चीन जाती थी, जिनमें गैडे की सींग, मणिमुक्ता, मुस्लिम, केसर और विभिन्न प्रकार के सुगंधित पदार्थ मुख्य थे । चीन से भारत में आयात होने वाला प्रमुख माल रेशम था जो भारतीय साहित्य में चीनांशुक नाम से अनेकश: उल्लिखित हुआ है ।

बाइजेण्टियम साम्राज्य के स्त्रोतों से भारत से आने वाले माल की सूची तैयार हो सकती है । सिमियन से के चिकित्सा शास्त्रीय ग्रंथ से यह स्पष्ट है कि भारत का लौग, जायफल और पान की जड़ बाइजेण्टियम में सरलता से प्राप्य थे । जस्टिनियम के विधि–संग्रहों में चुंगी के नियमों के संदर्भ में भारत की अनेक सामग्रियों का नामोल्लेख हुआ है । इनमें प्रमुख है बाल (कश्मीरी बकरी का), जंग से मुक्त लोहा, सुगन्धित पदार्थ, मोती, हीरा आदि बहुमूल्य रत्न, अनेक भारतीय नशीली वस्तुयें, कच्चा रेशम, रेशम, अर्धरेशम, रेशम के सूत, खोजे, कई प्रकार के तेन्दुए दालचीनी, लम्बी मिर्च, सफेद मिर्च, कई प्रकार के सुगंधित पौधे, अदरख, सुपारी, इलायची जटामासी, हाथीदांत और कपास । सबसे अधिक खपत रेशम और गरम मसालों की थी।

15.8 सिक्के और ऋण–व्यवस्था

15.8.1 सिक्के

इस काल के सिक्के उस काल की आर्थिक स्थिति के विषय में उपयोगी प्रमाण हैं ।

गुप्तवंश के सिक्कों का आरंभ किस सम्राट ने किया इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है । अल्तेकर के अनुसार चन्द्रगुप्त–कुमारदेवी प्रकार के सिक्कों को चन्द्रगुप्त ने अपने माता और पिता के विवाह के स्मारक के रूप में इन सिक्कों को प्रचलित किया था । यह विवाद आर्थिक इतिहास के लिये विशेष प्रासंगिक नहीं है । इस पर किसी निश्चयात्मक मत की प्रस्तुति संप्रति संभव नहीं है।

गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्के कुषाणों के स्वर्ण सिक्कों का अनुसारण करते हैं और कुषाणकालीन आर्थिक आवश्यकताओं के समान आर्थिक संभावनाओं की ओर संकेत करते हैं । गुप्तवंश के स्वर्ण सिक्के अन्य कालों की तुलना में इतने अधिक है कि वे गुप्त–काल के लिये स्वर्ण युग की संज्ञा को शब्दश: चरितार्थ करते हैं । अभिलेखों में इन सिक्कों के लिये दीनार शब्द बड़े लेन–देनों में ही प्रयुक्त होते थे । इन सिक्कों सै यह प्रतीत होता है कि उस काल में व्यापार बड़े पैमाने पर होता था ।

सिक्कों की निधियां उत्तर प्रदेश से ही अधिक संख्या में मिली हैं । यदि ये निधियां सिक्कों के उपयोग की सूचक है तो यह प्रतीत होता है कि गुप्त साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में संपन्नता अधिक थी ।

इन सिक्कों की तौल को क्रमश: बढ़ाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है । प्रारंभ में ये कुषाण सिक्कों की तौल 123 ग्रेन का अनुसरण करते हैं । चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में तौल बढ़ कर 124 और 127 ग्रेन हो गई । कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों में 127 ग्रेन की तौल अधिक प्रचलित थी । स्कन्दगुप्त ने इसे बढ़ा कर 132 और फिर 144 ग्रेन कर दिया । भारतीय परंपरा में सुवर्ण की तौल 144 ग्रेन होती है । कुछ विद्वानों के अनुसार तौल में वृद्धि इसी तौल मान को प्राप्त करने के प्रयास का फल था । किन्तु यह व्याख्या यथेष्ट नहीं है । यह क्यों कई पीढ़ियों तक चला; यह परिवर्तन कभी भी एक ही समय में किया जा सकता था । अभी तक इस तथ्य की सर्वमान्य व्याख्या नहीं हो पाई है । फिर भी यह संभव है कि प्रारंभिक सम्राटों के काल में वृद्धि स्थिरता और समृद्धि के कारण हुई थी ।

कुछ विद्वानों के मत के अनुसार स्कन्दगुप्त ने शासन काल के उत्तरवर्ती भाग के सिक्कों में स्वर्ण के अनुपात में कमी हूण आक्रमण के कारण जनित आर्थिक हास के कारण थी। फिर भी इन सिक्कों में स्वर्ण की वास्तविक मात्रा में कमी नही हुई थी । परवर्ती गुप्त राजाओं के सिक्के घटिया प्रकार के हैं और उनमें स्वर्ण का अनुपात भी घटता गया है । यह अघ :तन के काल में आर्थिक विपन्नता को परिलक्षित करता है ।

कुमारगुप्त प्रथम के शासन के अन्त की ओर और स्कन्दगुप्त के काल में आर्थिक स्थिति हूणों के आक्रमण के कारण विपन्न हो गई थी, यह इन सम्राटों के रजत–मंडित तांबे के सिक्कों से भी सूचित होती है । ये सिक्के उसी क्षेत्र में प्रचलित थे जो हूणों के आक्रमण से प्रभावित था ।

रजत सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा चलाये गये थे और कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त और बुधगुप्त ने इसका अनुसरण किया था । तांबे के सिक्के केवल समुद्रगुप्त, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम के ही प्राप्य है । परवर्ती शासकों के काल के

चांदी और तांबे के सिक्कों का अभाव, मुद्राहीन सामन्तवादी अर्थव्यवस्था की ओर परिवर्तन की प्रवृति का परिचायक है । किन्तु इसके साथ ही यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि विनिमय प्रथा का सहज प्रचलन भी था । फाहियान का प्रमाण है कि साधारण दैनिक कार्यों के लिये कौड़ी ही विनिमय का साधन थी । मूल्यों की नीची दरों के कारण चांदी और सोने के सिक्कों का उपयोग दैनिक जीवन में सीमित था ।

15.8.2 ऋण और बैकिंग व्यवस्था

इस काल के स्मृतिग्रंथों में पूर्वकालीन स्मृतियों में प्राप्त ऋण–संबंधी नियमों और व्यवस्थाओं का ही निर्वाह हुआ है । इनमें कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं देखने को मिलता । स्मृतियों की दृष्टि विभिन्न वर्गों में संतुलन की है । वही कार्य वे ऋण लेने वाले और ऋण देने वाले दोनों के हितों की रक्षा की व्यवस्था के विषय में करते है । इस काल की स्मृतियों में इन नियमों का विवेचन और अधिक विस्तार के साथ हुआ है । यह विस्तार स्मृतिकारों के शास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षाओं के कारण था अथवा तत्कालीन समाज में ऋण–व्यवस्था की बढ़ती हुई आवश्यकता के कारण, इसका निर्णय करना सरल नहीं है । इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि उद्योग–धन्धों और व्यापार के विस्तार के साथ ऋण की आवश्यकता पहले की तुलना में बढ़ी होगी ।

यद्यपि स्मृतियों ने ब्याज कर्म को प्रशस्त नहीं माना है फिर भी उन्होंने उसने विषय में विस्तृत नियम बनाये है । इनमें उधार लेने–देने को इकरारनामें पर आधारित करके उसके विविध प्रश्नों को विधि के नियमों में बांधा गया है । बृहस्पति से ज्ञात होता है कि ऋण देने और वसूलने में स्थानीय व्यवहार मान्य होते थे । नारद ने भी अधिकतम ब्याज के मामले में स्थानीय प्रचलन के अन्तर का उल्लेख किया है । स्मृतिकारों ने ऋण देने वाले के हितों की सुरक्षा के लिये रेहने (आधि) और जमानतदार (प्रतिभू) के विषय में व्यापक नियम बनाये हैं । सभी प्रकार के ऋणों के लिए लिखित इकरारनामा होता था और ऋण देने वाला भी ब्याज और सभी भुगतान के लिये रसीद देता था । नारद और बृहस्पति ने कई प्रकार के प्रमाणिक और अप्रमाणिक पत्रों के विषय में नियम बनायें है । इसी प्रकार बृहस्पति ने उधार के लिये प्रतिभू (जमानतदारों) की सूची दी है । स्मृतियों में उधार देने वाले को अपना धन वसूल करने में बहुत अधिक अधिकार दिये गये है । राजा साधारणतया उसके मार्ग में बाधक नही हो सकता था ।

नारद से ज्ञात होता है कि कुछ लोग उधार देने का ही व्यवसाय करते थे । उस काल में क्या ऋण विपत्ति आने पर या अनुत्पादक कार्यो के लिये ही लिया जाता था और यह किस सीमा तक उद्योग और व्यापार की वृद्धि के लिये लिया जाता था, इन प्रश्नों का उत्तर नही दिया जा सकता । नारद के नियम से यह स्पष्ट है कि व्यापारिक कार्यो के लिये उधार लिया जाता था । नारद और बृहस्पति के द्वारा ब्याज की ऊंची दरों को स्वीकार करने के पीछे उधार लेने वाले की संभावना भी कारण रहा होगी । नारद ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ऋण लेने वालों के लिये प्रतिमास, 2, 3, 4 और 5 प्रतिशत ब्याज की दर स्वीकृति की है । उच्चवर्ग वालों के मामले में ऋण के सुरक्षित रहने की बात के साथ ही वैश्य और शूद्रों के अर्थोत्पादन में

लगा होना भी दरों में अन्तर का एक तर्क रहा होगा । स्पष्ट है कि इस प्रकार का नियम आर्थिक उत्पादन में ऋणों के उपयोग के प्रतिकूल था ।

इस काल के स्त्रोतों में श्रेष्ठिन शब्द मिलता है । इसी से आधुनिक काल का सेठ शब्द निकला है । सेठ लेन–देन का काम भी करते हैं । इस आधार यह कहा गया है उस काल में भी वह ये कार्य करते थे । आधुनिक काल के बैकों के विविध प्रकार के कार्यो को संपादित करने वाली किसी संस्था की प्राचीन काल में उपस्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकती । किन्तु यह अवश्य है कि बृहस्पति ने कई महाजनों के द्वारा सामूहिक रूप में उधार देने और सामूहिक रूप में ही उसे वसूलने के संबंध में नियम बनाये हैं । पूर्वकाल की भांति इस काल में भी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कुछ श्रेणियां लोगों से अक्षयनीवी के रूप में धन स्वीकार करती थी और उससे प्राप्य ब्याज के रूप में अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों के संपादन का उत्तरदायित्व लेती थी । यह विशेष परिस्थिति की विशेष व्यवस्था थी । साधारण जन अपना धन इन श्रेणियों के पास रख कर बदले में ब्याज की अपेक्षा नहीं कर सकते थे ।

15.9 गुप्तकाल में आर्थिक जीवन का ऐतिहासिक मूल्यांकन

15.9.1 मूल्य और जीवन–निर्वाह

गुप्तकाल के आर्थिक जीवन का आकलन करने के लिये विभिन्न वर्गों और स्तरों की आय और पारिश्रमिक और वस्तुओं के मूल्य का ज्ञान अपेक्षित है । किन्तु समकालीन साक्ष्यों में इस प्रकार की सामग्री का सर्वथा अभाव है । इसी कारण इतिहासकारों ने जीवन–स्तर के निर्धारण के लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किया है । अकेला अपवाद डा. अल्तेकर का है । उन्होंने एक अभिलेख में अक्षय–नीवी रूप में जमा की गई धन–राशि पर 12 प्रतिशत ब्याज की दर का अनुमान करके यह निष्कर्ष निकाला है कि एक दीनसर या 3/4 तोला सोना एक भिक्षु को वर्ष पर्यन्त खिलाने के लिये पर्याप्त था । इस प्रकार एक व्यक्ति को भलीभांति भोजन कराने में 2 रूपये प्रतिमास लगता था । इसके आधार पर यह कहा गया है कि गुप्तकाल में जीवन–निर्वाह सस्ता था ।

15.9.2 गुप्तकाल स्वर्णयुग

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास में स्वर्ण युग और क्लेसिकल युग की संज्ञा दी जाती है। प्राय: विद्वान इसे निर्विवाद स्वीकार करते हैं । नवीनतम ग्रंथों में यह विचार रमेश चन्द्र मजूमदार, के. एम. मुंशी, आर. एन. दण्डेकर और मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित भगवत शरण उपाध्याय के द्वारा समर्थित हुआ है । क्लेसिकल युग की अवधारणा का लक्षण है परवर्ती युगों के लिये अनुकरणीय सांस्कृतिक मानदण्डों का स्थरीकरण । गुप्त काल को उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण "सृजनात्मक गतिविधियों के पल्लवन के काल" के रूप में क्लेसिकल युग माना गया है । स्वर्ण स्थिति के कारण पूर्वकालीन इतिहासकार स्वर्णयुग की कल्पना के आर्थिक धरातल का विवेचन नहीं करते थे ।

15.9.3 गुप्तकाल में विपन्नता

एस. के. मैती ने वराहमिहिर के द्वारा विनाशकारी दुर्भिक्ष, सूखा, बाढ़, फसल का विनाश और अन्य प्राकृतिक विपदा के अनेक उल्लेखों की ओर ध्यान आकर्षित किया है । इस आधार पर उन्होंने यह कहा है कि निर्धन श्रमिक वर्ग समान रूप से समृद्ध नहीं थे । दरिद्रता, व्यापारिक असफलता, कुल का अध: पतन आदि के अनेक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि अनेक लोगों की आर्थिक दशा अत्यन्त क्षीण थी । वैभव, चमक और विलास समाज के एक सीमित वर्ग के लिये ही थे । सच्चे अर्थों में स्वर्णयुग कहलाने के लिये पूरे समाज के लिये – कृषक और सामन्त दोनों के लिये – बेहतर परिस्थिति, आर्थिक स्वतंत्रता और सम्पन्नता अपेक्षित है । ए. एल. वैशम ने भी मेती के मत का समर्थन किया है ।

सभी वर्गों के लिये समान रूप से सर्वथा और सर्वदा आर्थिक संपन्नता की स्थिति की अपेक्षा करना वास्तविकता से विमुख होना है । यह तो कल्पनाओं का स्वर्ण है । किसी भी समाज या देश के इतिहास में कभी भी ऐसा अवसर नहीं ज्ञात है । सच्चा स्वर्ण युग तो सदा समाज की आकांक्षाओं के अनुरूप भविष्य में ही होगा । वह अतीत की गोद में नहीं भविष्य के गर्भ में रहता है । समाजवादी देशों में योजनाबद्ध रूप से प्रयास करने पर भी सर्व के लिये समान, सर्वथा और सर्वदा संपन्नता का युग अवतरित नहीं हो पाया है । यह वह आदर्श है जिसके लिये सतत प्रयास की ही सच्ची सार्थकता है ।

इतिहास में स्वर्णयुग की कल्पना दुर्दान्त राष्ट्रीयता के द्वारा वर्तमान से दु:खी होकर अतीत में स्वप्निल संसार की रचना के प्रयास ही का परिणाम नहीं है । इतिहास में स्वर्णयुग की पहचान विभिनन कालों की स्थितियों के तुलनात्मक आंकलन पर आधारित है । यूनान के इतिहास में पेरीक्लीज का काल, रोम के इतिहास में आगस्टस का काल, और इंगलैण्ड के इतिहास में एलिजाबेथ और विक्टोरिया के काल इसी अर्थ में स्वर्ण युग कहे जाते हैं इस मानदण्ड पर गुप्त–काल भी आर्थिक दृष्टि से स्वर्ण युग कहलाने का अधिकारी है ।

15.9.4 गुप्तकाल का आर्थिक दृष्टि से मूल्यांकन

मैती और बैशम की चेतावनी गुप्तकाल के आर्थिक जीवन की वास्तविकता को समझने में सहायक हुई है । इसी आलोचना को आगे बढ़ाते हुये यह कहा गया है कि समृद्धि की अट्टालिका पिसते हुये लोगों के ऊपर ही बनती है । यह आलोचना तथ्य–परक नहीं है । अमीर और गरीब का अन्तर अनेक कारणों से उत्पन्न होता है । उसे अमीर के द्वारा शोषण और दोहन के द्वारा ही प्रस्तुत होने का अनुमान नही किया जा सकता । यह तो स्वीकार करना होगा कि गुप्त काल में व्यवस्थित और व्यापक रूप में इसके समर्थक प्रमाण नहीं मिलते है ।

गुप्त काल को स्वर्णयुग की संज्ञा नकारने के प्रयास में सांस्कृतिक उपलब्धियों का अवमूल्यन करते हुये डी. एन. झा ने गुप्त काल के अशोभनीय तत्वों की तालिका बनाई है । आर्थिक क्षेत्र में यह कहा गया कि किसानों की स्थिति कृषिदास अथवा अर्ध–कालीदास की हो गई, वे कठपुतलियों जैसे हो गये, और वे बेगार और अन्य उगाहियो और लगानों से जर्जरित हो गये है । व्यापार की शिथिलता के कारण शहरी केन्द्रों का हास हुआ ।

ऐसा मत पूर्वाग्रहों से ग्रसित है । इसमें तथ्यों की व्याख्या तोड़–मरोड़कर दी गई है । प्रतिकूल तथ्यों को दबा कर आंशिक तथ्यों के आधार पर मत के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है । तथ्यों को उनकी समग्रता में लेकर पूर्वाग्रह–रहित व्याख्या में कृषक की स्थिति में गिरावट के उदाहरण इतने अधिक और व्यापक हुये कि वे क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारक बने, इस संभावना के समर्थन में समुचित प्रमाण का अभाव है । इसी प्रकार, जैसा हमने ऊपर देखा है, व्यापार में हास की बात कौन कहे व्यापार के समृद्ध होने के प्रमाण हैं ।

उत्खनन के साक्ष्य के आधार पर यह कहा गया है कि गुप्तकाल में नगरों में हास हुआ। यदि गुप्त काल के स्तरों में पूर्वकाल की ईंटों का उपयोग मिलता है तो यह हास का पर्याप्त प्रमाण नहीं है; यह तो सहज और स्वाभाविक प्रकृति है । गुप्तकालीन भवनों से अध: पतन का विचार समर्थित नही होता । समकालीन साहित्य में नगरों की समृद्धि के प्रमाण मिलते है । कामसूत्र तो नगरीय संस्कृति का प्रतिबिंब है । इस प्रकार का जीवन–दर्शन समृद्ध नगरीय आर्थिक व्यवस्था पर ही आधारित है । रोमिला थापर का मत है कि इस काल में संपन्नता नगरों तक ही सीमित नहीं थी, यह गांवों में भी दिखलाई पड़ती है ।

गुप्त–काल की सुख और शान्ति उस काल के साहित्य और कला में स्पष्ट झलकती है। जूनागढ़ लेख का रचयिता जब यह कहता है कि स्कन्दगुप्त के शासन काल में कोई धर्म–विमुख, आर्त, दरिद्री, व्यसनी था कदर्य नहीं था तो इसे आश्रयदाता का यशोगान कहा जा सकता है । किन्तु इसी से मिलती–जुलती धारणा चीनी बौद्ध यात्री फाहियान की है उसने भी मध्यदेश के लोगों के सुखी होने का प्रमाण–पत्र दिया है ।

15.9.5 सामन्तवादी प्रवृत्तियों का प्रारंभ

बेनी प्रसाद ने गुप्त साम्राज्य के स्वरूप को सामन्तीय संघात्मक (फ्यूडल–फेडेरल) कहा था । रामशरण शर्मा के अनुसार गुप्त–काल के परवर्ती भाग में ब्राह्मणों को जो भूमिदान दिये गये उससे एक सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ । परवर्ती काल में राजकीय अधिकारियों को भूमि–दान इन्हीं के अनुकरण पर दिये गये । प्राय: विद्वान मध्यकाल से पूर्व ही सामन्ती व्यवस्था का आरंभ मानते है । यह काल 600–700 ई. से 1200 ई. के बीच रखा जाता है और पूर्वमध्यकाल कहलाता है ।

विद्वानों में सामन्तवाद के स्वरूप और उसके आरंभ होने के काल के विषय में विवाद शुरू हुआ जो आज भी शान्त नहीं हुआ है । सामन्तवाद के दो रूप है – राजकीय व्यवस्था के रूप में और सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था के रूप में । कुछ विद्वान बलपूर्वक यह कहते है कि प्राचीन भारत में आधिपत्य और राजनीतिक सत्ता के विभिन्न स्तरों के क्रम में उपस्थिति के ही प्रमाण मिलते हैं । राजकीय व्यवस्था के रूप में भी सामन्तवाद के सभी लक्षण प्रमाणित नहीं होते । आर्थिक क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था के लक्षणों को कई विद्वान नकारते हैं ।

सामन्ती व्यवस्था के आरंभ के विषय में भी इसी प्रकार का मतभेद है । जहां कई विद्वान इसे परवर्ती गुप्त काल और हर्ष के काल में रखते है, कुछ इसे वाकाटकों के साम्राज्य

में और कुछ शक–कुषाण राज्य में खोजते हैं । कुछ एक विद्वानों ने तो इसे मौर्यकाल में भी उपस्थित माना है ।

गुप्तकाल के उत्तरार्ध में आर्थिक व्यवस्था में विपन्नता के कुछ संकेतों के मिलने पर भी सामन्ती व्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों की उपस्थिति प्रमाणित नहीं होती । यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ बनने लगी थीं जो पूर्व–मध्यकाल में सामन्ती व्यवस्था के उद्भव में सहायक हुई । रामशरण शर्मा ने खेतों के दान, आत्म–निर्भर स्थानीय अर्थ–व्यवस्था का उद्भव, सिक्कों की अल्पता, व्यापार का ह्रास, ब्राह्मणों और बाद में अधिकारियों को लगान का दान, सामन्तवाद की कुछ मोटी पहचान बतलाया है । वास्तव में ये सामन्तवाद के स्वरूप के लक्षण नहीं हैं; ये सामन्तवाद के विकास के लिये सहायक कारक बने । ये सभी तत्व गुप्तोत्तर काल में ही उभरते है । गुप्तकाल में इनको प्रभावपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में निश्चय के साथ नहीं रखा जा सकता ।

15.10 सारांश

ऊपर के विवेचन से हमने देखा कि यद्यपि आर्थिक जीवन के किसी क्षेत्र में ऐसा कोई विकास नहीं हुआ जिससे क्रान्तिकारी प्रभाव की संभावना हुई हो, फिर भी सभी स्त्रोतों में विकास इस स्तर का था कि समृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो सके । भूमि–स्वामित्व सामन्तवादी व्यवस्था से दबा नहीं था । कृषि–विधि का ज्ञान व्यवस्थित किया गया था । जोताई, बीज और सिंचाई की आवश्यकता को समझा जाता था और उनके लिये राज्य भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता था । कई उद्योगों में तकनीकी ज्ञान समुन्नत था । वंश–परंपरा से किसी उद्योग को अपनाने और श्रेणियों के संगठित जीवन के कारण उद्योगों और उनमें लगे लोगों की स्थिति अच्छी थी । अन्तर्देशी व्यापार समुन्नत था । अनेक नगर व्यापार के केन्द्र के रूप में समृद्ध थे। राजनीतिक सुरक्षा और शांति, व्यापारिक संगठन, काफिलों का गठन, सिक्कों के प्रचलन और सहायक ऋण–व्यवस्था के कारण व्यापारिक, गतिविधियों को सहायता मिलती थी । रोम के साथ सीधे व्यापार में कमी आई थी, किन्तु व्यापार की मात्रा में कोई विशेष कमी नहीं हुई थी । पूर्वी और दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों के साथ व्यापार समुन्नत था ।

गुप्तकाल की आर्थिक समृद्धि अनेकश: सिद्ध होती है । किन्तु यह समृद्धि सभी वर्गो को सदैव सर्वथा प्राप्त नहीं थी । उस काल में आर्थिक विपन्नता के कुछ उल्लेख मिलते है । ऐसा अन्तर तो सभी देशों में सभी कालों में मिलता है । सच्चा स्वर्णयुग तो सदैव भविष्य में होता है जिसके लिये सत्त प्रयास अपेक्षित है । अतीत में स्वर्णयुग अन्य कालों और देशों से तुलना के आधार पर होता है । इस दृष्टि से गुप्त–काल स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है ।

15.11 शब्दावली

सार्थवाह	–	मार्ग की असुविधा का सामना करने के लिए व्यापारी साथ–साथ काफिले के रूप में यात्रा करते थे । इनका प्रमुख सार्थवाह कहलाता था ।
दाता	–	दान देने वाला
प्रतिग्रहीता	–	दान लेने वाला

विष्टि – बेगार। यह भी एक प्रकार का कर था । व्यक्ति को राज्य के लिये कुछ सेवायें करनी होती थीं, जिसके लिये उसे कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था ।

भोगावधि - भूमि पर अधिकार का स्वरूप और पूर्वज जजमानी, आत्मनिर्भर

ग्रामीण अर्थ – व्यवस्था में सभी व्यवसाय के लोग किसान को अपनी सेवायें समय–समय पर देते है और पैदावार होने पर उसमें से निश्चित अंश प्राप्त करते हैं । सामाजशास्त्र में यह जजमानी प्रथा के नाम से प्रसिद्ध है।

15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुप्त–काल में भूमि–स्वामित्व और भूमि–भोगावधि के विषय में आप क्या जानते हैं? (150 शब्द)
2. गुप्तकाल में ग्रामीणों से लिये जाने वाले विभिन्न करों का संक्षिप्त परिचय दीजिये । (150 शब्द)
3. गुप्त काल के प्रमुख उद्योगों और शिल्पों का संक्षिप्त विवरण दीजिये । (200 शब्द)
4. गुप्त–काल में उद्योगों के संगठन और श्रम की स्थिति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये । (150 शब्द)
5. गुप्त काल में आन्तरिक व्यापार का संक्षिप्त परिचय दीजिये । (150 शब्द)
6. गुप्त काल में पश्चिम के साथ भारत के व्यापार के विषय में आप क्या जानते है? (150 शब्द)
7. गुप्त काल में आर्थिक जीवन में सिक्कों और ऋण–व्यवस्था की भूमिका को स्पष्ट कीजिये । (150 शब्द)
8. क्या गुप्तकाल को आर्थिक दृष्टि से स्वर्णकाल कहा जा सकता है? (200 शब्द)

15.13 प्रारंभिक पठनीय सामग्री

1. Miaity. S. K. : Economic Life in Northern India in the Gupta period, 2nd edition, 1970
2. Dikshitar. R. V. L. : The Gupta Polity, Madras, 1952
3. Majumdar.R. C. &
4. Pusalkar. A. D. (Ed) : The Classical age, Bombay, 1954.pp. 590–607
5. Majumdar. R. C. History of Bengal, Vol. I. Dacca, 1943, : pp. 642–669 (Economic conditions by P. C. Chakravarti)
6. Majumdar. R. C. &
7.
8. K. Dasgupta : A Comprehensive history of India, vol. iii,

part.i, pp. 282–286 (Economic conditions by R . N. Dandekar)

9. Saletore. R. N. : Life in the Gupta age, Bombay, 1943

10. Sharma. R. S. : Indian Feudalism (C. 300–1200A. D.) calcutta, 1965

11. Sharma. R. S. Urban decay in India (C. 300– C.100) Delhi, 1987.

12. Ghoshal. U. N. : Agrarian system in ancient India

13. Gopal. L. : Aspect of history of agriculture in ancient India. Varanasi.

इकाई 16

परवर्ती– गुप्त– वाकाटक युग (उत्तर भारत)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 पृष्ठ भूमि
16.3 उत्तर भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया
16.4 समकालीन व्यापारिक स्थितियाँ
अ. आंतरिक व्यापार
ब. विदेशी व्यापार
16.5 सारांश
16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.7 संस्तुत पाठ्य–सामग्री

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के निम्न अभीष्ट हैं–

1. उत्तर भारत में परवर्ती गुप्त–वाकाटक युग का कालमान एवं क्षेत्र निरूपित करना ।
2. तत्कालीन आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना ।
3. युगीन आंतरिक एवं परराष्ट्रीय व्यापारिक स्थितियों का निर्धारण करना ।
4. नगरीकरण की स्थिति का मूल्यांकन करना, एवं
5. व्यापार एवं नगरीकरण के पतनशीलता के कारणों का विवेचन करना ।

16.1 प्रस्तावना

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गुप्त काल में भारतीय जीवन के सर्वांगीण विकास के अनेक तत्वों को पल्लवित होने का अवसर मिला । व्यापार एवं व्यवसाय का क्षेत्र भी उसका अपवाद नहीं रहा । व्यापार एवं उद्योग जगत् का निकट संबन्ध शहरी करण की प्रक्रिया से रहा है । तत्कालीन इतिहास के साहित्यिक एवं पुरातत्वीय साधनों का सम्यक अध्ययन करने पर यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि इस काल में उत्तरी भारत में व्यापार एवं नगरीकरण अपने चरम परिपाक पर पहुँच कर थम से गये थे । अनेक ऐसे आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से उनके पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी जो परवती गुप्त–वाकाटक युग में अधिकाधिक तीव्र होती चली गई । प्रस्तुत इकाई में इस स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

16.2 पृष्ठभूमि

गुप्त काल सामान्यतया शान्ति एवं व्यवस्था का काल रहा । 'इस कारण वाणिज्य एवं उद्योग को पनपने एवं विकसित होने का पर्याप्त अवसर उत्तरी भारत को मिल पाया । इस काल में उत्तरी भारत में अनेक औद्योगिक एवं व्यापारिक केन्द्र अपना अस्तित्व प्रदर्शन कर रहे थे । ऐसे नगरों में पाटलिपुत्र, वैशाली, प्रयाग, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्रा, पुरूषपुर, श्रीमाल,

मृगुकच्छ, वलभी, उज्जैन विदिशा, दशपुर आदि नगर थे । ये नगर परस्पर व्यापार–मार्गों से जुड़े थे । ताम्रलिप्ति, भृगुकच्छ, पैठन आदि नगर जल–मार्गों से विदेशी व्यापार करते थे । कतिपय नदी–मार्गों से आंतरिक एवं तटीय व्यापार भी होता था । ऐसे मार्ग गंगा, ब्रह्मपुत्र, हुगली, नर्मदा, महानदी आदि नदियों पर तैरती छोटी–बड़ी नावों के लिये थे । व्यापारी लोग अन्न, वस्त्र, मसाले, नमक, खनिज धातु एवं अन्य वस्तुओं का व्यापार करते थे । स्थल मार्गों के द्वारा गाड़ी तथा पशुओं की पीठ पर माल लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था । कभी–कभी व्यापारिक माल बहुत–सी गाडियों पर एक साथ ढोया जाता था । जिसका प्रमुख सार्थवाह होता था । बड़े–बड़े व्यापारिक नगरों में वाणिज्य करने वाले श्रेष्ठियों (सेठ) व व्यापारियों के संघ "श्रेष्ठी कुलिक निगम" और "श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम" होते थे । ये निगम बैंकों का भी कार्य करते थे । इन निगमों में "अक्षय निधियां" भी न्यास के रूप में रखी जाती थीं बसाद (बेसाली) के व्यापारियों, परिवहन–कर्ताओं व वाणिज्य–कर्ताओं तथा साहूकारों के एक सम्मिलित संघ की 274 मुहरें मिली हे जिनकी सदस्यता उत्तरी भारत के अनेक नगरों में फेली हुई थीं । गुप्त–वाकाटक काल तक आते–आते अनेक कारणों से पश्चिमी देशों से होने वाले विदेशी व्यापार में भारी कमी आ गई थी । सैनिक अभियानों एवं राजनीतिक परिवर्तनों के चलते भारत के मिश्र व रोम से होने वाले सदियों पुराने व्यापारिक सम्बन्ध लगभग टूट चुके थे । अलबत्ता ईरान से व्यापार इस समय बरकरार था । पश्चिमी देशों से होने वाले उत्तर भारतीय विदेशी व्यापार की इस अनचाही कमी की पूर्ति पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी देशों से होने वाले व्यापार ने कर दी थी जहां के विदेशी व्यापार पर एक प्रकार से भारतीयों का ही एकाधिकार था ।

इस प्रकार हम गुप्त–वाकाटक युग में जहां एक ओर नगरीकरण के पतन के कारण कई देशी मण्डियों का तथा रोम व पार्थियन साम्राज्यों के कारण भारतीय माल की अनेक विपणियो की समाप्ति हो रही थी, वहीं व्यापार के नये देशी–विदेशी केन्द्रों की संभावना भी बलवती होती चली जा रही थी ।

16.3 उत्तर भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया

उत्तर भारत में लोह युग के आगमन के साथ द्वितीय नगरीकरण की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, कुषाण काल में वह अपने चरम परिपाक पर पहुँच गयी । प्रारंभिक गुप्त काल में भी यही स्थिति बड़ी सीमा तक बनी रही । मगध की राजधानी पाटलिपुत्र निश्चित ही एक विशाल राजकेन्द्र था । अन्य महत्वपूर्ण उत्तर भारतीय नगरों में प्रयाग, चम्पा, डवाक, वैशाली, वाराणसी, अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुन्ज, पुरूषपुर, पद्मावती, उज्जैन, वत्सगुल्य आदि थे । अनेक कारणों से स्थितियों में परिवर्तन आ गया । प्रारंभिक गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी सैन्य अभियानों के फलस्वरूप अनेक क्षेत्रीय शक्तियाँ उन्मूलित अथवा अस्तित्वहीन हो गई । आर्यावर्त क्षेत्र के नाग शासक पराजित कर दिये गये । उनका राज्य क्षेत्र गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत चला गया । इस कारण अहिच्छत्रा, पद्मावती, क्रान्तिपुरी जैसे नगरों का अस्तित्व समाप्त हो गया । उत्तर भारत में मालव, योधेय,

आभीर, मद, अर्जुनायन, सन कानीक, काक, खर्परिक जैसे गणराज्य उन्मूलित कर दिये गये । परिणाम यह हुआ कि गणराज्यों की राजधानियाँ भी अपना अस्तित्व खो बैठीं ।

हूणों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप रोम साम्राज्य का पतन हो गया । पार्थिया का विशाल साम्राज्य भी अन्तिम हिचकियां लेने लगा । स्वयं उत्तर भारत में हूणों ने सारे पश्चिमोत्तर भारत को भयाक्रान्त कर दिया । इन बर्बर जातियों का भारत और पश्चिमी राष्ट्रों को मिलाने वाले व्यापार–मार्गों पर अधिकार हो गया । परिणामस्वरूप भारत के थलमार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार को भारी आघात पहुँचा । इस कारण पश्चिमोत्तर भारत के अनेक व्यापारिक नगर पतनोन्मुख हो गये ।

गुप्तों सम्राटों ने उत्तर भारत के अनेक लघु व सीमान्त राज्यों व गणराज्यों का मानमर्दन या उन्मूलन तो किया किन्तु उपराजाओं, सेनापतियों या पुरोहितों को भूमि–अनुदान देकर सामन्तीय प्रथा को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया । ये सामन्त अपने क्षेत्रों तक ही सीमित रहे । उनसे व्यापार एवं उद्योग को बढ़ावा देने एवं नगरों को विकसित कर पाने की अपेक्षा व्यर्थ ही था ।

इतना होने पर भी अनेक नवीन नगरी का उद्भव गुप्त काल में हुआ । मालवा क्षेत्र मे ऐरण समुद्रगुप्त का स्वभोग नगर तथा विदिशा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रशासनिक केन्द्र बना । उज्जयिनी इस काल में राजधानी तो नहीं थी किन्तु उसका व्यापारिक एवं औद्योगिक महत्व बरकरार रहा । गुप्तों के प्रांतीय शासकों एवं सामन्तों के अनेक केन्द्र–स्थल भी नगरों का रूप ग्रहण कर रहे थे । ऐसे स्थानों में दशपुर, कन्नौज, थानेश्वर, वलभी आदि को परिगणित किया जा सकता है । पूर्वी एशियाई देशों से व्यापार बढ़ जाने से ताम्रलिप्ति जैसे बन्दरगाहों का महत्व भी एक नगर के रूप में बढ़ गया था ।

उत्तर भारत में गुप्तों के उपरांत दूसरी बड़ी शक्ति वाकाटक राजवंश की थी । इस वंश का प्रथम शासक विंध्यशक्ति था जिसने 225 ई. के लगभग विंध्य पर्वत के बाहरी क्षेत्र मे वाकाटक राज्य का प्रारंभ किया । इस वंश के प्रमुख शासकों में प्रवरसेन प्रथम व रूद्रसेन प्रथम व पृथ्वीषेण प्रथम हुए । पृथ्वीषेण प्रथम के समय वाकाटकों का प्रसार कुन्तल तक हो गया था । पृथ्वीषेण प्रभावी राजा था । इसी कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसके पुत्र रूदसेन द्वितीय के साथ अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह किया था । कुछ समय राज्य कर सन् 390 ई. में रूद्रसेन द्वितीय की मृत्यु हो गयी । ऐसी स्थिति मे चन्द्रगुप्त द्वितीय के सहयोग से प्रभावती गुप्ता ने अपने दो अल्पवयस्क पुत्रों दिवाकरसेन और दामोदरसेन की संरक्षिका के रूप मे शासन किया । दिवाकरसेन भी अल्पवयस्क मर गया । इस कारण सन् 410 ई. में दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय के नाम से वाकाटक नरेश बना । प्रभावती गुप्ता के राज–माता रहने तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का वाकाटकों को सहयोग मिलने से वाकाटकों पर गुप्तों का पर्याप्त राजनैतिक प्रभाव पड़ा होगा ।

प्रवरसेन द्वितीय के उपरांत नरेन्द्रसेन तथा पृथ्वीषेण द्वितीय क्रमश: शासक बने । इसके उपरांत मूल वाकाटक राज्य बसीम शाखा के अन्तर्गत चला गया ।

बसीम शाखा का सर्वाधिक प्रभावी शासक हरिषेण था । यह सन् 475 ई. मे गद्दी पर बैठा । सन् 480 ई. पृथ्वीषेण के नि :संतान मरने पर प्रमुख वाकाटक राज्य भी इसके अधिकार

में आ गया । इस प्रकार इसका राज्य मध्यप्रदेश में मालवा के कुछ भाग, विदर्भ, आंध्र तथा महाराष्ट्र तक फैल गया ।

छठी शताब्दी के लगते ही वाकाटक शक्ति का सहसा पतन हो जाता है और उसके स्थान पर मलचुरि, चालुक्य, नल, कदम्ब आदि शक्तियों का उदय हो जाता है ।

गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरांत भी पाटलिपुत्र का महत्व बना रहा क्योंकि वहां एक नवीन परवर्ती गुप्त राज्य कायम हो गया था । इसी समय कन्नौज का महत्व भी बढ़ गया था क्योंकि वह मौखरी वंश की राजधानी बन गया था । दशपुर (आधुनिक मन्दसौर) औलिकर वंश के शासकों की राजधानी होने से एक महत्वपूर्ण राजनीतिक एवं औद्योगिक केन्द्र के रूप में सामने आया था । मंदसौर के अभिलेख के अनुसार वहां शक्तिशाली यशोधर्मन–विष्णुवर्धन का शासन था । एक अन्य अभिलेख के अनुसार उस समय वह लाट देश से आये रेशमी वस्त्रों के कुशल व सम्पन्न बुनकरों का श्रेणीबद्ध केन्द्र था । गुप्त साम्राज्य के पतन के उपरांत गुजरात में मैत्रक वंश के वलभी ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी । वलभी व्यापार और संस्कृति का महान् केन्द्र था । समुद्री मार्ग से दूर–दूर के देशों से उसका व्यापारिक सम्बन्ध था । उसके बाजार अनेक बहुमूल्य और दुर्लभ पदार्थो से भरे पड़े थे । इस कारण राज्य और व्यापारियों के पास वैभव और सम्पदा की कमी नहीं थीं । किन्तु राजाओं और धन कुबेरों ने अपने धन का पूरा–पूरा उपयोग किया । उन्होंने सदियों तक वलभी के महान् विश्वविद्यालय को अनुदान देकर चलाया । इस शिक्षा–केन्द्र में सैंकडों छात्र भांति– भांति की विद्याओं का अध्ययन करते थे तथा विद्याध्यायन के उपरांत राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त होते थे ।

इसी प्रकार छठी सदी के प्रारंभ में थानेश्वर में पुष्यभूति वंश का उदय हो चुका था । इस वंश में प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन व हर्षवर्धन जैसे उल्लेखनीय शासक हुए । गुप्तों के पतन के उपरांत हर्ष के शासन काल में कन्नोज– थानेश्वर धुरी ने उत्तर भारत के इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा की । पाटलिपुत्र की अपेक्षा इस कारण कन्नौज का राजनीतिक सांस्कृतिक एवं व्यापारिक महत्व बढ़ गया था ।

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत भी कन्नौज का काफी लम्बे समय तक महत्व बना रहा किन्तु राजनीतिक दृष्टि से भारत का तेजी से विघटन हो रहा था । उत्तर भारत में अनेक राजपूत राज्यों का उदय हो चुका था । परिणामस्वरूप अनेक नवीन राज–केन्द्र तेजी से विकसित हो गये थे । इनमें अणहिल पाटन, सिद्धपुर, अजमेर, श्रीमाल (भिन्नमाल) नडोल, शांकभरी, रणथम्भौर, पैशावर, अच्छ, भटिण्डा, दिल्ली, कालंजर, महोबा, धार, भिलसा, त्रिपुरी, जाजगीर, नादिया, लखनौती आदि का उल्लेख आवश्यक है । यहां यह कहना समीचीन होगा कि उत्तर भारत के ये राजपूत राज्य अधिकांशत: सैनिक या राजनीतिक केन्द्र थे । इन राज्यों की आंतरिक जड़ें सामन्तीय व्यवस्था के कारण दिन–प्रतिदिन निर्बल होती जा रही थी । अरबों और तुर्कों के उपरांत आक्रमणों तथा पारस्परिक युद्धों व विग्रहों ने स्थिति को और भी दयनीय बना दिया था । ऐसी स्थिति में उत्तर भारत में कोई उल्लेखनीय व्यापारिक या औद्योगिक केन्द्र विकसित नहीं हो पा रहे थे । दस्तकार व व्यापारी क्रमश: दुर्दशाग्रस्त होते जा रहे थे और नगरों से ग्रामों की ओर आजीविका की तलाश में पलायन कर रहे थे जिससे कृषि व भूमि पर

जनसंख्या का भार बढ़ गया था । ऐसी स्थिति में भी भारतीय शिल्पियों व व्यापारियों ने अपना अस्तित्व जैसे–तैसे कायम रखा था । तर्कों के सम्मुख राजपूत शक्ति के पराभव के कारण अनेक राज–केन्द्र अतीत का विषय बन गये । फिर भी ये दस्तकार और व्यापारी सारी जोखिम उठाकर भारतीय मांग की पूर्ति करते रहे और जब मुस्लिम काल में उत्तर भारत का नये सिरे से नगरीकरण होने लगा तो ये परिवर्तित परिस्थितियों में उसका एक अनिवार्य हिस्सा बन गये।

16.4 समकालीन व्यापारिक स्थितियाँ

पूर्व मध्यकालीन उत्तर भारतीय व्यापारिक स्थितियों का अध्ययन दो शीर्षकों के अंतर्गत किया जाना उचित होगा–

अ. आंतरिक व्यापार, तथा

ब. विदेशी व्यापार ।

गुप्त–वाकाटक काल तक ये दोनों व्यापार एक दूसरे के पूरक रहे किन्तु धीरे– धीरे विदेशी व्यापार भारतीयों के हाथ से खिसकता चला गया और राजनीतिक विघटन और सामन्त प्रथा के कारण आंतरिक व्यापार भी गतिहीन होने लगा । इस काल मे सिक्कों में आई भारी कमी इस तथ्य को द्योतन करती है ।

<u>आंतरिक व्यापार</u>:– इस काल के आंतरिक व्यापार को जानने के साहित्यिक एवं पुरातत्वीय दोनों ही साधन प्राप्त होते हैं । साहित्यिक स्त्रोतों के अंतर्गत वराहमिहिर की बृहत्संहिता, बाणभट्ट के हर्षचरित शुकनीतिसार, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, तिलकमंजरी जैसे ग्रंथ आते हैं, जबकि पुरातत्वीय साधनों के अंतर्गत विभिन्न शासकों के अभिलेख एवं उनके द्वारा जारी की गई मुद्राएँ प्रमुख रूप से आते हैं । पेहोवा, सियाडोनी, कारीतलाई आदि स्थानों पर प्राप्त अभिलेख इस काल मे विद्यमान शिल्पियों की श्रेणियों की सूचना देते हैं । ग्वालियर के नवीं सदी के एक अभिलेख मे तैलिकों की तीन व मालाकारों की एक श्रेणी का उल्लेख प्राप्त होता है । हर्षचरित में जिन अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है, उनमे क्षौम, नादर, दुकूल, नेत्र व अंशुक प्रमुख हैं । ये वस्त्र अत्यंत रंग–बिरंगे पारदर्शी एवं कोमल होते थे । हर्षचरित से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में उत्तर भारत मे धातु, काष्ठ, प्रस्तर एवं चर्म उद्योग पर्याप्त विकसित थे । रेशमी वस्त्रों, आभूषणों, सौन्दर्य प्रसाधनों एवं सुगन्धित द्रव्यों के उद्योग भी पल्लवित थे । उत्तर भारत के अनेक क्षेत्रों मे सूती वस्त्र का उत्पादन होता था । ऐसे स्थानों मे लाट, कलिंग, वंग, मालवा आदि प्रमुख थे । सिंध के लोह उद्योग विशेषकर आयुध–निर्माण, की बडी साख थी ।

इस समय उत्तर भारत का आंतरिक व्यापार इन्हीं वस्तुओं, वनौपजों आदि से सम्बन्धित रहा । इस काल में नगरीकरण एवं व्यापार–उद्योग पतनोन्मुखी हो रहे थे इस कारण कृषि उपकरणों की मांग ग्रामीण क्षेत्रों मे बड़ी हुई थी । सैनिक क्षेत्रों में अस्त्र–शस्त्रों व युद्ध सामग्री की पर्याप्त मांग थी । इस काल मे व्यापारिक मार्ग असुरक्षित एवं अविकसित होते जा रहे थे । इस कारण दूरस्थ व्यापार घटता जा रहा था । व्यापार के अधिकाधिक स्थानीय होने से वस्तु–विनिमय प्रणाली मौदिक अर्थ–व्यवस्था पर हावी हो रही थी । इतना होने पर भी उत्तर

भारतीय व्यापारी थल एवं नदी मार्गों से पर्याप्त व्यापार कर लेते थे । इसी व्यापार के सहारे तत्कालीन उद्योग– धंधों का अस्तित्व था ।

विदेशी व्यापार– भारत के पश्चिम में हुए राजनीतिक परिवर्तनों एवं सैन्य अभियानों के कारण रोम पार्थिया और मिश्र के बाजार भारत के हाथ से निकल गये । बावजूद इसके ईरान व पश्चिमी तटीय देशों से भारत का व्यापार चलता रहा । किन्तु अरबी के भारत पर आक्रमण का प्रतिकूल प्रभाव भारतीय व्यापारियों एवं नौकानयन पर पड़ा । आठवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में सिंध पर अरब– आक्रमण हुआ । इसके साथ ही भारत एवं अरबवासियों के मध्य व्यापारिक एव सांस्कृतिक आदान–प्रदान का एक लम्बा सिलसिला प्रारंभ हुआ । अरबों ने धीरे– धीरे अरब सागर के व्यापार पर अपना एकाधिकार सा स्थापित कर लिया । उसके व्यापारिक जहाज आयात–निर्यात के संवाहक बने । इन जहाजों के माध्यम से भारत का बहुत–सा सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय ज्ञान अरब जा पहुँचा । बसरा, बगदाद आदि अरब नगरों में भारतीय वस्त्रों, सुगन्धित द्रव्यों, रत्नों मसालों आदि की भारी मांग थी । भारतीय व्यापार से अधिक लाभ कमाने के लिये अरब शासकों और व्यापारियों ने भारत की राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल, पांड्य, सिंहल आदि शक्तियों से मधुर सम्बन्ध बना लिये ।

पूर्व मध्यकाल में भारत से अरबी व्यापारियों के माध्यम से चन्दन, मुष्क, ताम्बूल, कपूर, अगर, लोंग, पिप्पली, सोंठ, इलायची, त्रिफला, वस्त्र, कपास, नारियल, आम–नींबू आदि फल सुगन्धित हाथी–दांत का सामान, काली मिर्च, काष्ट–सामग्री, आयुध आदि सामग्री विदेशों को निर्यात होता था, जबकि बदले में चांदी, रेशम, मदिरा, मूंगा, पोस्तीन, घोड़े दास–दासियों आदि का भारत में आयात होता था ।

इस समय भारत का पश्चिमी देशों से जल व थल–मार्गों से व्यापार होता था । तिब्बत होते हुए एक थल–मार्ग चीन तक जाता था । एक व्यापार–मार्ग देवल, काबुल, कंदहार व ईरान होकर अरब तक पहुँचता था । एक अन्य मार्ग बलूचिस्तान व काबुल होते हुए मध्य एशिया, तुर्किस्तान व इराक तक जाता था । अरब लेखकों के विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि सिंध के बहुत से धनी व्यापारी ईराक में बस गये थे । ये व्यापारी वहाँ निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों के खजांची का काम विश्वसनीय रूप में करते थे ।

कई अरब यात्रियों ने इस काल की समुद्री यात्रा का वर्णन भी किया है । सुलेमान के अनुसार, "बसरा और उमान से पहले सब माल सैराफ पहुंचता है । यही माल जहाजों पर लादा जाता है । यहीं से पीने का मीठा पानी भी ले लिया जाता है । सैराफ से जहाज मस्कत बंदरगाह पहुँचते हैं । वहाँ से वे भारत के लिये चल पड़ते हैं और एक महीने मे भारत के कोलममली बंदरगाह में पहुँचते हैं । चीन जाने वाले जहाज वहाँ से चीन को रवाना हो जाते हैं । कोलममली में जहाज बनाने और उनकी मरम्मत करने का कारखाना है "एक अन्य यात्री सैराफी के अनुसार सैराफ के जहाजी दूर–दूर तक समुद्री यात्रा करते हुए भारतीय बन्दरगाहों तक पहुँचते थे । इस काल में मिश्र, अरब और ईराक के व्यापारी अपने यहीं के नगरी से चलकर पहले लालसागर के तट पर पहुँचते थे । वहाँ से समुद्र के किनारे–किनारे यमन तक जाते थे । फिर मोचा, अदन और मस्कत के बंदरगाहों से होकर बिलोचिस्तान के बंदरगाह तेज पर उतरते थे ।

कुछ यात्री तेज की ओर न जाकर सिंध के देबल बंदरगाह में अपने जहाजों को ले जाते थे । वहाँ से वे काठियावाड़ और गुजरात के तटवर्ती स्थानों को जाते थे, वहाँ खंभात, भड़ौंच, थाना आदि कई बंदरगाह थे । श्री हरिशचन्द्र वर्मा अपने ग्रंथ "मध्यकालीन भारत" (पृ. 67) मे नवीं सदी के भारत के मध्य एशियाई देशों से होने वाले व्यापार की आयात–निर्यात वस्तुओं का विवरण इस प्रकार देते है–

"नवीं शताब्दी के अरब लेखक इब्न खोरदादबेह के अनुसार भारत से चंदन की लकड़ी, कपूर, लौंग, नारियल, अनेक प्रकार की वनस्पति, मखमल के समान कपड़ों आदि का निर्यात होता था । साथ ही बांस, नील अंगूर, कस्तूरी, देवदार की लकड़ी भोजपत्र और हाथी–दांत की कलाकृतियों की भी विदेशों में काफी मांग थी । इल रोस्तेह के अनुसार सागोन, काली मिर्च, इलाइची, विभिन्न प्रकार के इत्र आदि का भी निर्यात होता था । इसके अतिरिक्त जानवरों की खालें, चवर, रेशम, केशर, ऊनी कपड़े (काश्मीर से), गैंडे के सींग, विभिन्न प्रकार के नमक भी निर्यात की वस्तुएँ थीं । अभिधान रत्न माला से ज्ञात होता है कि विदेशों से अच्छी नस्ल के घोड़े (खासकर मध्य एशिया तथा पश्चिमी देशों से) अच्छी शराब, बसरा से (इब्न सईद के अनुसार) खजूर, चीन से रेशम (चीनांशुक) दक्षिणी–पूर्वी एशिया से अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न, कम्बोडिया से अगरू की लकड़ी आदि वस्तुओं का यहां आयात भी होता था । इसके अतिरिक्त सोने–चाँदी तथा ताँबे का भी आयात होता था । दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों से विभिन्न प्रकार के मसालों के भी आयात का विवरण प्राप्त होता है ।"

जहाँ तक पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी देशों से उत्तर भारत के विदेश व्यापार का प्रश्न है, वह दक्षिण भारत की तुलना में बहुत कम था । फिर भी बंगाल और उत्कल से इन देशों का गहरा सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध था । ताम्रलिप्ति पूर्वी तट पर एक महत्वपूर्ण बन्दरगाह था । तिलक मंजरी, बृहत्कथामंजरी आदि के संदर्भ इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि उत्तर भारत के अनेक सम्पन्न एवं साहसी व्यापारी इस काल में इन देशों की वाणिज्य के सिलसिले में यात्रा करते थे तथा अनेक सामुद्रिक यात्राएं अपने स्वयं के जहाजों में करते थे । ऐसी यात्राएँ सीधे समुद्र पार कर या किनारे किनारे नौकानयन करते हुए भी की जाती थी । रास्ते में आने वाली प्राकृतिक एवं मानवीय विपदाओं का ये व्यापारी बड़े साहस से सामना करते थे । तटीय यात्रा करते समय ये व्यापार–गण सुवर्ण द्वीप, अन्नाम, कम्बोज, फूनान आदि देशों तक जाते थे जहाँ भारतीय माल की पर्याप्त मांग रहती थी । इन राज्यों में से अनेक पर भारतीय मूल के शासक राज्य करते थे । वहाँ की प्रजा भी अधिकाशत: भारतीय संस्कृति की अनुयायी हो चुकी थी । इस कारण भारतीय व्यापारी शताब्दियों तक अपने व्यापार को अक्षण बनाये रख सके थे ।

उत्तर भारत से जो थल–मार्ग काश्मीर व तिब्बत की ओर जाते थे, वे मध्य एशिया एव चीन से व्यापार का बहुत–सा दायित्व निभाते थे ।

16.5 सारांश

गुप्त–वाकाटक काल के उपरांत उत्तर भारत में परवर्ती गुप्तों, मौखरियों, पुष्यभूतियों, औलिकरों मैत्रकों आदि युग प्रारंभ होता है । हर्षोपरांत भारत में पूर्व मध्य काल वस्तुत: राजपूत

युग माना जाता है । इस काल में उत्तर भारत किसी एक केन्द्रीय संप्रभुता के अभाव में राजनीतिक विघटन का सांख्य लेता है । प्रतिहार, परमार, चाहमाण, शाही, तोमर, चन्देल, कर्कोट, उत्पल, कलचुरि, गहड़वाल, पाल, सेन आदि शक्तियाँ विभाजित एव विग्रहग्रस्त थीं । सामन्त प्रथा दिन–प्रतिदिन घनीभूत एवं प्रभावी होती चली जा रही थी । दूसरी ओर अरब और तुर्क आक्रमणों ने भारत में मुस्लिम शासन का मार्ग प्रशस्त कर दिया था । भारत का सामुद्रिक व्यापार धीरे–धीरे अरब व्यापारियों एवं नाविकों के हाथों में पहुँच चुका था । इस काल में उत्तर भारत का विदेशी व्यापार पश्चिमी देशों के बाजारों के अनेक कारणों से समाप्त हो जाने से काफी कम हो गया था । व्यापार की मंदी के कारण अनेक नगरीय उद्योग–केन्द्र उजड़ने लगे, परिणामस्वरूप अनेक शिल्पी एवं दस्तकार ग्रामों की ओर पलायन कर. गये थे । कृषि व भूमि पर तो भार बढ़ा ही, नगरीकरण की प्रक्रिया भी पतनोन्मुखी हो उठी थी, अनेक नगर तो दृश्य–पटल से बिदा ही हो चुके थे । राजपूत युग में अनेक राज्यों में नवीन राज–केन्द्रों की स्थापना होने से एक नवीन प्रकार का नगरीकरण सामने आया था । किन्तु ये नगर व्यापार एवं उद्योग के केन्द्र कम ही बन पाये थे । कृषि–केन्द्रित अर्थ–व्यवस्था व सामन्तीय प्रथा ने वाणिज्य, व्यापार–मार्ग, एवं मौद्रिक अर्थ–व्यवस्था को काफी मात्रा में धक्का पहुँचाया था । फिर भी देश का आंतरिक व्यापार सीमित स्थिति मे पूर्ववत् चलता रहा था । इस काल में सिक्कों की मात्रा में जो भारी कमी दिखाई देती है, उसकी पृष्ठभूमि में निश्चित ही यह स्थिति रही होगी विभिन्न राज्यों की सीमाएँ एवं उनमें निरंतर हो रहे विग्रहों ने भी इस काल के व्यापार को काफी क्षति पहुँचाई होगी ।

पश्चिमी एशियाई राष्ट्रों में भारतीय विदेश व्यापार की क्षति को पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों से होने वाले विदेशी व्यापार ने बहुत बड़ी मात्रा में पूरा कर दिया था । इस कारण पूर्वी भारत में नगरीकरण एवं बन्दरगाह–निर्माण की प्रक्रिया में जारी रही जो तेरहवीं सदी तक जारी रही ।

16.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुप्त–वाकाटक काल के उपरांत उत्तर भारत में नगरीकरण की क्या स्थिति रही?

2. छठी से बारहवीं सदी तक उत्तर भारत के आंतरिक व्यापार पर प्रकाश डालिये ।

3. छठी से बारहवीं सदी तक उत्तर भारत के विदेशी व्यापार पर एक टिप्पणी दीजिए ।

4. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये–

1. ताम्रलिप्ति,
2. आलोच्य काल के प्रमुख औद्योगिक नगर,
3. उत्तर भारत के प्रमुख बन्दरगाह, तथा
4. उत्तर भारत के व्यापार–मार्गों ।

16.7 संस्तुत पाठ्य–सामग्री

1. डॉ. राधेशरण: भारत की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना और संस्कृति के मूल तत्व ।

2. डॉ. रामशरण शर्मा: भारत के प्राचीन नगरों का पतन ।

3. डॉ. कृष्णदत्त वाजपेयी: भारतीय व्यापार का इतिहास ।

4. हरिश्चन्द्र वर्मा: मध्यकालीन भारत (750 – 1540 ई.)

5. कोरोत्स्फ़ाया: भारत के नगर ।

6. डॉ. ललनजी गोपाल: इकानामिल लाईफ ऑफ नादन इण्डिया ।

7. दी इम्पीरियल कन्नौज (भारतीय विद्या भवन)

इकाई क्र. 16 का परिशिष्ठ

आठवीं–नवीं सदी के अनेक जैन ग्रंथ उपलब्ध हैं । इन ग्रथों से भी तत्कालीन नगरीकरण की स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । इन ग्रंथों के अध्ययन से उत्तर भारत की निम्न 58 बस्तियों की सूचना मिलती है–

अयोध्या, काम्पिल्य, कौशाम्बी, थानेश्वर, वाराणसी, हस्तिनापुर, अमरपुर, कृतंसल, गांधार नगर, गजपुर, चक्रवालपुर, जयस्थल, टंकणपुर, धान्यपूरक, पाटलपथ, ब्रह्ममपुर, भाम्बनगर, मदनपुर, माकण्डी, रत्नपुर, रथबीरपुर, राजपुर, लक्ष्मीनिलय, वर्धनपुर (वर्धमानपुर) विलासपुरन, शंखवर्धन, श्वेतविक, साकेत, श्रावस्ती, श्रीस्थल, काकदी, कनकपुर, कुसुमपुर, पाटलिपुर, चम्पापुरी, महासर, मिथिला, राथनपुर, विशाखवर्धन, क्षितिप्रतिष्ठ, ताम्रलिप्ति, चक्रपुर, जयपुर, दजपुर, अचलपुर आनन्दपुर, उज्जयिनी, विशाला, बजट नगर, सुशर्भनगर, श्रीपुर, गज्जानक, गिरिस्थल वैजयन्ती, शंखपका, समृद्धनगर, देवपुर एवं विश्वपुर ।

इन बस्तियों मे केवल 44 की ही पहिचान संभव हो सकी है । जैन–स्त्रोतों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश नगरों का धार्मिक एवं प्रशासकीय महल था । परम्परागत व्यापार–केन्द्र ही व्यापार व वाणिज्य के केन्द्र बने हुए थे । उक्त विवरण के लिये हमें डॉ. कल्पना झा के ग्रंथ "अर्बनाइजेशन इन अर्ली मिडिएवल नार्थ इण्डिया" का आभारी होना चाहिए ।

इन नगरों में कई तो ऐसे नगर थे जिनका विवरण जैन–ग्रंथों में प्राचीन कथानकों के विवरण के साथ आया है, वस्तुत: उनमे से कई इस समय अतीत का विषय बन चुके थे ।

जहाँ तक कई कस्बाई नगरों का प्रश्न है, उनमें से अनेक या तो किसी धर्मस्थल या मन्दिर समूह के कारण लोकप्रिय हो रहे थे या किसी छोटे राजवंश या बड़े सामन्त के मुख्यालय होने के कारण । उपरिलिखित सूची मे वर्णित विशाल नगरों में से अनेक अपनी व्यापारिक ऊँचाई गंवाकर केवल अपना अस्तित्व मात्र प्रकट कर रहे थे । इस काल में इन बस्तियों से किसी विशाल वाणिज्यीय केन्द्र होने की अपेक्षा, भारतीय व्यापार को पतनशील स्थिति के कारण, व्यर्थ की थी ।

इकाई क्र. 17

परवर्ती–गुप्त वाकाटक युग के उपरांत दक्षिण भारत

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 `पृष्ठभूमि

17.3 दक्षिण भारत में नगरीकरण

17.4 आंतरिक व्यापार

17.5 विदेश व्यापार

17.6 सारांश

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.8 संस्तुत पाठ्य– सामग्री

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई नीम,निम्न उद्देश्यों को दृष्टिगत करते हुए लिखी गई है–

1. गुप्त– वाकाटक के उपरांत दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त विवरण देना ।
2. सातवाहन व्यापार एवं नगरीकरण की विभिन्न दशाओं का मूल्यांकन करना ।
3. गुप्त–वाकाटक युग के बाद दक्षिण भारतीय नगरीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करना।
4. तत्कालीन आंतरिक एवं विदेशी व्यापार का इतिवृत्त प्रस्तुत करना ।
   एवं
5. तत्कालीन भारत के आर्थिक जीवन में दक्षिण भारत के योगदान की चर्चा करना ।

17.1 प्रस्तावना

गुप्त–साम्राज्य का पतन हो जाने पर भारत में केन्द्रीय शक्ति का समापन हो गया । परिणामस्वरूप उत्तर भारत का तेजी से राजनीतिक विघटन हो गया । हर्षवर्धन के कुछ दशकों तक अपनी संप्रभुता अवश्य बनाये रखी किन्तु उसके बाद पूर्वमध्य काल में उत्तर भारत में अनेक राजपूत राज्यों का उदय हो गया । ये राज्य विभाजित एवं विग्रहग्रस्त रहते थे, इस कारण अरब एवं तुर्क आक्रमणों को भारत में आशातीत सफलता प्राप्त हुई और अधिकांश राजपूत राज्य शनैः शनैः क्षीण या लुप्त हो गये ।

आंध्र–सातवाहन शक्ति के पतन के उपरांत दक्षिण भारत भी विघटित हो गया । समुद्रगुप्त ने इसी कारण दक्षिण के दस से अधिक राजाओं को सरलतापूर्वक परास्त कर दिया था । गुप्तों के मित्र वाकाटक भी छठी सदी तक प्रभावहीन हो गये थे । परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट, चालुक्य, पल्लव, इक्ष्वाकु आदि शक्तियों का उद्भव हुआ । 10 वीं सदी के उपरांत जो नवीन शक्तियाँ दृश्य–पटल पर उभरीं, उनमें यादव, नल, कदम्ब, होयसल, काकतीय,

आदि शक्तियाँ प्रमुख रहीं । समूचे प्राचीन काल में सुदूर दक्षिण में चोल, चेर व पाण्ड्य शक्तियाँ अस्तित्व में रहीं ।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में राजनीतिक उतार–चढ़ाव कम रहे । एक अजीब सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकता का प्रदर्शन दक्षिण भारत ने प्राचीन काल में किया । इस कारण उसकी व्यापारिक एवं भौतिक क्षमताएँ अविच्छिन्न बनी रहीं । समुद्र तट की निकटता के कारण तटीय व विदेशी व्यापार भी पर्याप्त पल्लवित रहा । इस कारण व्यापार एवं उद्योग–धंधे फलते–फूलते रहे जिसके कारण अनेक आंतरिक नगर एवं बन्दरगाह विकसित हुए । इन नगरों का अरब, रोम, यूनान, मिश्र तथा दक्षिण–पूर्वी एशिया से व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा । चूंकि व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में था, इस कारण भारतीय उप–महाद्वीप की समृद्धि में दक्षिण भारत का विशेष योगदान रहा ।

17.2 पृष्ठ भूमि

मौर्य–सातवाहन काल में दक्षिण भारत में व्यापार की आशातीत प्रगति हुई थी । अनेक अभिलेखों, प्राप्त सिक्कों, बौद्ध ग्रंथों, विशेषकर जातक कथाओं, में भारत के थल व जल–मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार के भरपूर उल्लेख प्राप्त होते हैं । कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कुछ तमिल ग्रंथों से भी इस संबंध में काफी जानकारी मिलती है । प्राचीन काल के यूनानी, मिश्री तथा रोमन यात्रियों व लेखकों ने भारत के विदेशी व्यापार की महत्ता पर भरपूर प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में भारत के आयात व निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ इस प्रकार रहीं–

आयात– कीमती धातुएँ, टीन, शीशा, घोड़े, अंजीर, अंगूर की मदिरा, यवनियाँ, चीन पट्ट (चीन की रेशम), अगरू आदि ।

निर्यात– मलमल, विचित्र पशु–पक्षी, औषधियाँ, काली मिर्च एवं मसाले, अस्त्र–शस्त्र, रत्न एवं उनसे बने आभूषण, रेशमी वस्त्र, हाथी–दाँत का सामान, सुगंधित द्रव्य आदि।

भारत का निर्यात उसके आयात की अपेक्षा बहुत अधिक था । भारतीय माल की विदेशों में बहुत मांग होने से वह वहाँ ऊँचे दामों पर बिकता था । व्यापार संतुलन भारत के पक्ष में होने से विदेशों के सोने के सिक्के व कीमती धातुएँ भारत में बहुत आते थे । दक्षिण भारत में कई स्थानों पर उस काल के रोमन सिक्कों के जखीरे मिले हैं । भारत की ओर रोमन धन का यह प्रवाह देख रोमन लेखक प्लिनी ने भारी विलाप किया था । ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में भारतीयों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अपने उपनिवेश बसा लिये थे । इस कारण भी भारत के विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई । विदेश व्यापार का यह वैभव केवल गुप्त काल तक ही विद्यमान रहा । उसके बाद वह अनेक कारणों से धीरे–धीरे क्षीण होता चला गया ।

वर्धित व्यापार के कारण दक्षिण भारत को उत्तर भारत व विदेशों से जोड़ने वाले अनेक थल एवं जल मार्ग विकसित हुए । व्यापार एवं उद्योग के विकास के कारण दक्षिण भारत में अनेक नगरों व बन्दरगाहों का निर्माण संभव हो सका ।

17.3 दक्षिण भारत में नगरीकरण

सातवाहन काल में दक्षिण भारत में अनेक ऐसे नगर थे जो राजनीतिक मुख्यालय, व्यापार एवं यातायात के केन्द्र अथवा उल्लेखनीय धर्मस्थल थे । कुछ नगर प्रमुख व्यापार मार्गों एवं व्यापारिक दृष्टि से सुरक्षित विश्राम–स्थल के रूप में विकसित हो गये थे । इन दिनों दक्षिण भारतीय व्यापार की विश्व–व्यापी ख्याति व प्रभाव था । नगर कुशल शिल्पियों एवं साहसी उद्योग–पतियों से भरे पड़े थे व्यापार के अवसर अत्यंत सुलभ थे । भारतीय विदेश व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से जल–मार्गों द्वारा अधिकांश: आयात–निर्यात होने लगा था । विदेशी व्यापार में व्यापारी–गण अथवा व्यापार–श्रेणियॉ संलग्न रहा करती थीं । इनकी आर्थिक भूमिका बहु उद्देश्यीय हुआ करती थी । सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों का उनका योगदान भी कम नहीं था । नासिक, पैठन, तगर, वैजयन्ती, धान्यकटक, सुवर्णगिरि, भोगीपुर, कल्याण, अश्वक, वर्धनपेठ, मोदगुल्ल, करूकल आदि दक्षिण भारत के उल्लेखनीय नगर थे । इस काल में पश्चिमी देशों के साथ–साथ पूर्वी देशों से भी सामूहिक व्यापार तेजी एवं भारी मात्रा में होने लगा था । अरब, रोम, यूनान, मिश्र आदि देशों से व्यापार में सुप्पारा, सेमील्ला, कोचीन, नीलकान्त, कुमारी, दूंग, वेलियपट्टम जैसे पश्चिमी तटीय बन्दरगाह व्यस्त थे जबकि पूर्वी और दक्षिण पूर्वी व्यापार अधिकांशत: मसलिया कावेरीपट्टनम् कायल्लपुर आदि दक्षिण भारतीय बन्दरगाहों से होता था । कुछ मिलाकर नगरीकरण की प्रक्रिया इस समय घनीभूत थी और अधिकांशतया व्यापार–वाणिज्य एवं यातायात केन्द्रित थी ।

भारत से गुप्त–वाकाटक युग के विदा होने पर उत्तर भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया पतनोन्मुखी हो गई थी । अनेक कारणों से व्यापार की गति भी दिन–प्रतिदिन मन्द होती जा रही थी । इसका सीधा प्रभाव दक्षिण भारत पर भी पड़ा । उत्तर भारत के अनेक व्यापार–केन्द्र ठप्प हो जाने से दक्षिण और उत्तर भारत के मध्य होने वाले व्यापार का संतुलन बिगड़ गया । दोनों ही क्षेत्र दोनों ही क्षेत्रों की व्यापारिक मांग के लिये तरसने लगे । परिणामस्वरूप दोनों ही क्षेत्रों की औद्योगिक स्थिति अत्यंत डांवाडोल हो गई । यूरोप, मिश्र व पश्चिम के कुछ देशों से व्यापार सम्बन्ध टूट जाने का प्रभाव भी दक्षिण भारतीय नगरों पर पड़े बिना नहीं रहा । भाग्य से दक्षिण भारत का दक्षिण और दक्षिण–पूर्वी देशों पर राजनीतिक एव सैनिक प्रभाव बढ़ गया । इस क्षेत्र के एशियाई देशों में अनेक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो गये थे । इस कारण भारतीय माल की मांग वहाँ बढ़ती चली गई । ऐसी स्थिति में दक्षिण भारतीय नगरों के पतन की प्रक्रिया थम–सी गई । उत्तर भारत जैसी हानि उसे उठानी नहीं पड़ी ।

इस दृष्टि से दक्षिण भारत एवं उत्तर भारत के नगरीकरण में एक साम्य दिखाई देता है । जैसा कि पूर्व की इकाई में देखा गया है, उत्तर भारत में गुप्त–वाकाटक युग के बाद जो अनेक कस्बाई नगर दिखाई देते थे, वे व्यापारिक कारणों से न होकर प्रशासकीय अथवा धार्मिक कारणों से थे । दक्षिण भारत भी लगभग यही परिदृश्य उपस्थित कर रहा था । उसके व्यापारिक केन्द्र शनै: शनै: निर्बल होते जा रहे थे । कोल्हापुर और वनवासी नामक नगर सातवाहन काल में महत्वपूर्ण व्यापार–केन्द्र थे किन्तु पूर्वमध्यकाल में वे मात्र धार्मिक एवं प्रशासकीय केन्द्र रह गये थे ।वी. के. ठाकुर, बी. एन. एस. यादव, आर. चम्पकलक्ष्मी, कल्पना आदि के अध्ययन से दक्षिण भारत के नगरों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इन अध्ययनों से ज्ञात होता है कि सातवीं सदी में दक्षिण भारत के 17 नगरों में 8 धार्मिक, 4 प्रशासकीय एवं 3 व्यापारिक केन्द्र थे । आठवीं सदी के 21 नगरों में 10 प्रशासकीय, 5 धार्मिक एवं मात्र । व्यापारिक नगर थे । दसवीं सदी में जब चोलों ने दक्षिण–पूर्वी एशिया पर अपना पर्याप्त प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और अपना व्यापार काफी बढ़ा लिया था, तब भी 42 कस्बाई नगरों में 24 प्रशासकीय, 6 व्यापारिक एवं शेष अन्य नगर थे । इन अन्य नगरों में या तो दुर्ग थे जो विभिन्न राजाओं एवं सामन्तों द्वारा सुरक्षित स्थलों के रूप में निर्मित किये जा रहे थे या मंदिर स्थल थे । इस सिलसिले में जो विशिष्ट नगर दृश्य–पटल पर उभरते हैं, उनमें वनवासी, मान्यकूट (मालखेड), वातापी, बैंगी, कल्याणी, कांची, पल्लक्नगर, महाबलीपुरम्, अरकाट, चिंगलपट, श्रीरंगम्, कावेरीपट्टम, त्रिचनापल्ली, तंजावर, मदुराई, वेलूर, द्वारसमुद्र, गंगईकोण्डा चोलपुरम्, देवगिरि आदि उल्लेखनीय हैं । इन नगरों के स्वरूप के अध्ययन से निम्न तत्व प्रकट होते हैं–

1. सामन्त प्रथा दिन–प्रतिदिन घनीभूत होती जा रही थी । प्रशासकीय नगरों की संस्था में वृद्धि उनमें हो रहे विग्रहों एवं राजनीतिक विघटन का प्रतीक थी ।
2. विद्यमान व्यापारिक नगरों में अधिकांश बन्दरगाह थे जो प्रमुखतः माल का आयात–निर्यात करते थे । पूर्व के आन्तरिक व्यापार केन्द्र अपनी व्यापारिक गरिमा गंवा चुके थे ।
3. राजनीतिक विग्रहों एवं सैनिक अभियानों के फलस्वरूप इन नगरों को जोड़ने वाले व्यापार–मार्ग निरापद नहीं रह पा रहे थे ।
4. मन्दिर स्थलों की संख्या व महत्व बढ़ता जा रहा था । विशाल मंदिरों के पास प्रभूत धन एकत्रित हो गया था । इस कारण दक्षिण भारतीय अर्थ एवं साख व्यवस्था में मन्दिरों की विशिष्ट भूमिका हो गई थी ।

17.4 आंतरिक व्यापार

गुप्त वाकाटक युग के उपरांत दक्षिण भारत में चालुक्य एवं पल्लव शक्तियाँ महत्वपूर्ण हो चुकी थीं । इन शक्तियों ने देशी एवं विदेशी व्यापार को पल्लवित एवं सुरक्षित करने की दृष्टि से अनेक कदम उठाये । आंतरिक व्यापार हेतु थल मार्गों के साथ–साथ नदी–मार्गों एवं तटीय नौकानयन को प्रोत्साहित किया तथा व्यापार की पृष्ठभूमि में शिल्प एवं उद्योग के महत्व का ध्यान रखा गया । दक्षिण भारत में इस कारण शिल्पियों के अनेक संघ व धनाद्य व्यापारियों की श्रेणियाँ सक्रिय थीं । चालुक्यों के मूलगंड अभिलेख के अनुसार श्रेणियों के चार अध्यक्षों द्वारा 320 गायों का दान दिया था । इसी प्रकार चालुक्यों के बारहवीं सदी के निलमुडि अभिलेख में 505 व्यापारियों के एक निगम द्वारा धार्मिक कार्य हेतु सम्मिलित रूप से दान देने का उल्लेख मिलता है । इसी शताब्दी के ऐहोल अभिलेख में 500 व्यापारियों के एक संघ का उल्लेख आता है । चोलों के अभिलेखों में भी व्यापारियों के वाणिज्य संघों के संदर्भ हैं ।

सामान्यतया दक्षिण भारतीय बाजारों में किराना, अन्न व दाल,, मसाले., नमक, सुगंधित द्रव्य, मांस–मदिरा, मिठाइयाँ, वस्त्र, आभूषण, कृषिउपकरण, काष्ट–सामग्री, औषधियों व मिट्टी के पात्र आदि की दुकानें होती थीं । मुक्ता–मणियों, हाथी–दांत के सामानों महीन वस्त्रों, स्वर्णाभूषणों आदि की विपणियाँ उच्च एवं धनाढ्य वर्ग को आमंत्रित करती रहती थीं ।

आंतरिक व्यापार की अपेक्षा दक्षिण भारतीय व्यापारियों, शासकों प्रशासकों एवं उद्योगपतियों की विदेशी व्यापार में अधिक रूचि थी क्योंकि वह उनके लिये अधिक लाभकारी व प्रतिष्ठा–प्रदायक था ।

17.5 विदेशी व्यापार

इस्लाम का उद्भव विश्व इतिहास के लिये बड़ी घटना थी । उसने –समूचे विश्व की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्थितियों को प्रभावित किया । व्यापार का क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं रहा ।

आठवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में भारत के सिंध क्षेत्र पर इस्लाम धर्मावलम्बी अरबों का आक्रमण प्रारंभ हो गया । धीरे– धीरे अरब यूरोपीय व पश्चिमी देशों से होने वाले भारतीय व्यापार के मध्यस्थ के रूप में उभर आये । रोम, मिश्र व पश्चिमोत्तर एशिया के बाजार हाथ से जाने के कारण भारत व ईरान के मध्य थल–मार्ग से व्यापार तो जारी रहा किन्तु समुद्री–मार्ग से होने वाला व्यापार अरबों ने भारतीयों से लगभग छीन लिया । माल का आयात–निर्यात अरब जहाजों द्वारा होने लगा । इन जहाजों के माध्यम से भारत का बहुत–सा सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय ज्ञान अरब जा पहुँचा ।बसरा, बगदाद आदि अरब नगरों मे भारतीय वस्त्रों, सुगन्धित द्रव्यों, रत्नों, मसालों आदि की भारी मांग थी । भारतीय व्यापार से अधिक लाभ कमाने के लिये अरब शासकों और व्यापारियों ने भारत की राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल, पांड्य, सिंहल आदि शक्तियों से मधुर सम्बन्ध बना लिये ।

पूर्वमध्यकाल में भारत से अरबी व्यापारियों के माध्यम से चन्दन, मुष्क, ताम्बूल, कपूर, अगर, लोग, पिप्पली, सोंठ, इलायची, त्रिफला, वस्त्र, कपास, नारियल, आम–नींबू आदि फल, सुगन्धित द्रव्य, हाथी–दांत का सामान, काली मिर्च, काष्ट–सामग्री, आयुध आदि विदेशों को निर्यात होते थे, जबकि बदले में चांदी, रेशम, मदिरा, मूंगा, पोस्तीन, घोड़े, दास–दासियों आदि का भारत मे आयात होता था ।

पूर्वमध्यकाल में दक्षिण भारतीय बन्दरगाहों के चीन से व्यापारिक सम्बन्ध विकसित हुए। चीनी स्त्रोत बताते हैं कि दक्षिण भारत की पल्लव शक्ति की राजधानी कांचीपुरम् से चीन तक पहुँचने में लगभग 8 माह लग जाते थे । चीन की उच्च कोटि की रेशम, मनके, चाय और चीनी बर्तन इस प्रकार दक्षिण भारत तक पहुँचते थे । चीनी व्यापारी एवं दूत भारी संख्या में दक्षिण भारत में आने लगे थे । उसका प्रमुख लक्ष्य पल्लव, चोल एवं सिंहल क्षेत्रों से व्यापार करना था । चीन के जहाज बंगाल की खाड़ी से लगे देशों के समुद्री तट को छूने और उनका व्यापारिक लाभ लेने लगे थे । यह वह समय था जब भारतीय समुद्री व्यापार पर एकाधिकार करने के लिये अरबों और चीनियों में होड़ मची हुई थी ।

दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों से भारत के सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध पूर्वमध्य काल में भी यथावत् बने रहे । वहाँ स्थापित श्रीविजय एवं शैलेन्द्र साम्राज्यों के भारतीय मूल के शासकों ने अपने आप को भारतीय व्यापारियों, कलाविदो एवं धर्म–प्रचारकों के निकट बनाये रखा । इन देशों से जलमार्गीय सम्बन्ध इतने घनीभूत हो गये थे कि अनेक समकालीन ग्रंथों यथा

कथा–सरित्सागर, तिलक मंजरी, बृहत्कथामंजरी आदि में उत्साहपूर्ण एव जोखिम भरी समुद्री–यात्राओं का उल्लेख आया है ।

वर्धित विदेशी व्यापार को दृष्टि में रखते हुए 11 वीं एव 12 वीं सदी में सुदूर दक्षिण की चोल, चेर व पांड्य शक्तियों ने भी अपने जहाजी बेड़ों का निर्माण करवाया ताकि दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों में उनका विदेशी व्यापार, एवं व्यापार व राजनीतिक हित सुरक्षित रह सकें । चोल प्रथम ने चहुंमुखी सैनिक अभियान कर चोल साम्राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया । उनके शक्तिशाली जहाजी बेड़े कम्बोडिया तक पहुँचते थे । चीन और शैलेन्द्र साम्राज्य की नौ–सैनिक शक्ति को चोलों ने सफलतापूर्वक चुनौती दी थी और व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक क्षेत्रों को अधिकृत कर लिया था ।

समकालीन तमिल साहित्य एवं अभिलेखों में समुद्री यात्रा, नौका नयन तथा आयात—निर्यात विषयक अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनसे ज्ञात होता है कि दक्षिण भारतीय जहाज ब्रह्मा, कम्बोडिया, फूनान, हिन्द–चीन, जावा, सुमात्रा, बोर्नियों व चीन तक व्यापार के सिलसिले में पहुँचते थे । दक्षिण भारतीय बन्दरगाहों से स्वर्णाभूषण, मसाले, रेशमी दुकूल, मलमल, लोहे का सामान, मोती, चन्दन आदि का निर्यात होता था ।

दक्षिण भारत से निर्यात की जाने वाले वस्तुएँ तीन प्रकार की थीं

1. <u>मसाले व औषधियाँ</u>– इनमें काली मिर्च, दाल, चीनी, लोंग, अदरख, खाद्य–सामग्री, नारियल अंगरू, अम्बर, इलायची, गुग्गलु, कपूर, अफीम, कबावचीनी, त्रिफला, जायफल आदि थे । इनके निर्यातक प्रमुख बन्दरगाह मालावार, कोचीन, त्रावनकोर, क्वीलों, कालीकट, कन्नौर आदि थे ।
2. <u>उद्योगों के लिये कच्चा माल</u>– ऐसे माल में रंग–रोगन, चन्दन, सागौन, कच्ची–धातुएँ, मूल्यवान रत्न, सिंदूर, मेंहदी गोंद, कच्ची औषधियाँ आदि होती थी ।
3. <u>पक्का माल</u>– निर्यात किये जाने वाले ऐसे माल में कालीन, सुगंधित पदार्थ, सौन्दर्य प्रसाधन, रेशमी व सूती वस्त्र, चमड़े का सामान, पशु–पक्षी आदि होते थे ।

आयात होने वाली प्रमुख वस्तुएँ–औषधियाँ, रेशम, हाथी–दांत, खनिज पदार्थ, घोड़े, सूखे मेवे, चीनी, मिट्टी के बर्तन आदि होते थे ।

निर्यात की तुलना में आयात कम होने से व्यापार–संतुलन दक्षिण भारत के पक्ष में होता था । इस कारण कीमती धातुएँ एवं मुद्राएँ भारत में आती थी ।

उक्त विदेशी व्यापार के दो प्रमुख आधार थे । एक था जहाज एवं दूसरा था व्यापारियों की श्रेणियाँ । आठवीं सदी के उपरांत भारतीय के समुद्रों का नौकानयन पश्चिमी में अरब एवं पूर्व में चीन व शैलेन्द्र जहाजों के हाथ में आ गया था । किन्तु 10 – 12 वीं सदी के मध्य पूर्वी सागर का विदेशी व्यापार चोलों ने बहुत बड़ी सीमा तक हस्तगत कर लिया

जहाँ तक व्यापार–श्रेणियों का प्रश्न है, इतिहासकार हरिश्चन्द्र वर्मा (मध्य कालीन भारत– 750 – 1540 ई. में) लिखते हैं कि "दक्षिण भारत के आर्थिक जीवन की बहुत बड़ी विशेषता सुसंगठित व्यापारिक निगम थे । विभिन्न उद्योगों और व्यापारों में लगे व्यक्तियों ने सामूहिक रूप से स्वयं को निगमों में संगठित कर रखा था । विभिन्न औद्योगिक निगमों में

समकालीन चोल एवं चालुक्य अभिलेखों में तेल का व्यापार करने वाले तैलिक निगम का प्राय: उल्लेख प्राप्त होता है । इस निगम द्वारा सिंचाई के साधनों के विस्तार और इस समुदाय के विषाधिकारों से इसकी समृद्ध स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है । विभिन्न नगरों के व्यापारियों और शिल्पियों के अपने–अपने निगम होते थे । इन नियमों में सर्वाधिक शक्तिशाली नानादेशि नामक निगम थे । दूर–दूर के प्रदेशों और विदेशी देशों के साथ व्यापार करने वाले व्यापारी इन निगमों में शामिल थे । वे विभिन्न प्रकार के रत्नों, मसालों, हाथियों, घोड़ों और औषधियों आदि का व्यापार करते थे । लम्बे व्यापारिक मार्ग में सुरक्षा के लिये इनकी अपनी वेतनभोगी सेना भी होती थी । इस निगम के सदस्य व्यापारी जहां कहीं भी यात्रा करते थे उन्हें विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती थी । कर्नाटक से प्राप्त कुछ अभिलेखों में इस निगम के संगठन के विषय में रोचक और महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं ।

तीसरे प्रकार के निगमों को नगरम् या नगर तथा तेलुगु प्रदेशों में "नकरमु" कहा जाता था । नगरम् बड़े–बड़े व्यापारिक नगरों जैसे कांचीपुरम् तथा पेनुगोंडा आदि नगरों के व्यापारियों के संगठन थे । इस निगम के सदस्य विशेष प्रयोजनों के लिये अपने सदस्यों से चन्दा और कर दोनों लिया करते थे । इस निगम के प्रमुख को "नगर पुरूष" और "नगरेश्वर" आदि नामों से अभिहित किया जाता था ।

दक्षिण भारत में इन निगमों को पर्याप्त आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त थी । वे अपने सदस्यों द्वारा उत्पादन किये जाने या उनके द्वारा व्यापार किये जाने वाले माल का मूल्य निर्धारित करते थे । जिस क्षेत्र में वे निवास करते थे वही उन्हें एकाधिकार–सा प्राप्त था और वे काफी स्वायत्त थे । यहाँ तक कि वे अपने सदस्यों का सम्मिलित काफिला बनाकर अपने निगम के नायक के नेतृत्व में लम्बे व्यापारिक मार्गों में जाते थे । देश के आर्थिक जीवन में इन निगमों की बहु मुखी भूमिका थी । "

तेरहवीं सदी के उपरांत सुदूर दक्षिण का व्यापारिक वैभव सहसा धराशायी हो जाता है । दिल्ली के खिलजी सुलतान अलाउद्दीन की सेनाओं ने दूर–दूर तक सैनिक अभियान कर एक के बाद एक दक्षिण भारतीय शक्तियों को पराजित एवं पद–दलित कर दिया । उसका सीधा प्रभाव दक्षिण भारतीय व्यापार पर भी पड़ा । अरबों ने समुद्री व्यापार पर एक प्रकार से एकाधिकार कर रखा था । चोलों के पतन के कारण –उनका एकाधिकार अनेक शताब्दियों तक निर्विघ्न हो गया । इसी के साथ प्राचीन भारत के स्वर्णिम व्यापारिक दिनों की सदा–सर्वदा के लिये विदाई हो गयी ।

17.6 सारांश

गुप्त–वाकाटक युग के समापन के उपरांत भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया थम–सी गयी । व्यापार एवं व्यापारिक गतिविधियों की गति मन्द पड़ने से अनेक नगरों का पतन हो गया । नगर के अनेक शिल्पी व दस्तकार ग्रामों की ओर पलायन कर गये जिससे एक बार पुन: भारत में कृषि–केन्द्रित अर्थ–व्यवस्था को प्रमुखता मिलने लगी, ग्रामीण भूमि पर जनसंख्या का भार बढा तथा वस्तु–विनिमय प्रणाली पूर्वापेक्ष अधिक प्रयोग में आने से मुद्राओं के निर्गमन में कमी आई । उत्तर व दक्षिण भारत में राजनीतिक विघटन के परिणामस्वरूप राज्यों की संख्या

में वृद्धि होने से अनेक राज–केन्द्र स्थापित हो गये । दुर्ग–प्रणाली की लोकप्रियता से अनेक दुर्ग–नगरों का निर्माण हुआ । सामन्त प्रथा को बढ़ावा देने से भी अनेक कस्बाई नगर तो सामने आये किन्तु नगरीकरण गत्यवरोधित होता चला गया ।

पूर्व में नगरीकरण का सीधा संबंध व्यापार–व्यवसाय व उद्योग से था । इनके पतन से नगरीकरण की गति समाप्त हो गई । अनेक नगर पतन की ओर चले गये तथा अनेक प्राचीन नगरों का स्वरूप व्यापारिक की अपेक्षा धार्मिक या प्रशासनिक हो गया । दक्षिण भारत के आंतरिक व्यापार–केन्द्र शनैः शनैः कम हो गये किन्तु बन्दरगाह फिर भी पल्लवित रहे । पश्चिमी एशियाई एवं यूरोपीय देशों से होने वाला भारत का विदेशी व्यापार बहुत कुछ ठप्प हो गया या उस पर अरब व्यापारियों एवं नाविकों का एकाधिकार स्थापित हो गया । किन्तु कई पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों पर अभी भी भारतीय मूल के राजवंश शासन कर रहे थे । पल्लवों, पांड्यों, चेरों और खासकर चोलों की जहाजी शक्ति के कारण दक्षिण भारत का इन देशों से होने वाला विदेशी व्यापार काफी मात्रा में फिर भी जारी रहा । पूर्वी किनारे के अनेक बन्दरगाह 12 वीं सदी तक भारी संख्या में आयात–निर्यात सामग्री से भरे रहते थे । 13 वीं सदी में खिलजी आक्रमण के परिणामस्वरूप बिखरी हुई दक्षिण भारतीय शक्तियाँ पतन के गर्त में खो गई । साथ ही दक्षिण भारत का व्यापारिक गौरव भी अस्त हो गया ।

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. गुप्त–वाकाटक युग के उपरांत दक्षिण भारत में नगरीकरण की क्या स्थिति रही ।

2. आलोच्य अवधि में दक्षिण भारत के आंतरिक व्यापार की स्थिति व स्वरूप बताइये ।

3. छठी से तेरहवीं सदी तक दक्षिणी भारत के विदेशी व्यापार एक टिप्पणी दीजिए ।

4. अध्ययन अवधि में दक्षिण भारत के आयात एवं निर्यात की प्रमुख वस्तुएँ क्या रहीं?

5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये–

अ. भारत के विदेशी व्यापार में अरबों की भूमिका

ब. भारत के पूर्वी तट के प्रमुख बन्दरगाह

स. चोलों की नौ सैनिक शक्ति का व्यापार के पल्लवन में योगदान

17.8 संस्तुत पाठ्य–सामग्री

1. मुकर्जी, राधाकुमुद : इंडियन शिपिंग
2. वर्मा, हरिश्चन्द्र : मध्यकालीन भारत
3. वाजपेयी, कृष्णदत्त : भारतीय व्यापार का इतिहास
4. लूनिया, बी. एन. : प्राचीन भारतीय संस्कृति
5. झा, कल्पना : अर्बनाइजेशन इन अर्ली मिडिएवल इण्डिया
6. शर्मा, रामशरण : भारत के प्राचीन नगरों का पतन
7. ठाकुर, व्ही. के. : हिस्टोरियोग्राफी ऑफ इंडियन फ्यूडलिज्म
8. ठाकुर, व्ही. के. : अर्बनाइजेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया:
9. गोपाल, लल्लनजी : दो इकानामिक लाईफ आफ नार्दन इण्डिया: 700 – 1200 ई.

10. राधेशरण : भारत की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना और संस्कृति के मूल तत्व
11. गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा, प्राचीन भारत

इकाई 18

भारतीय व्यापार के पतन के प्रमुख कारण

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 पतन की पृष्ठभूमि
18.3 समकालीन व्यापारिक इतिहास
18.4 पतन के कारण
18.5 प्रभाव
18.6 सारांश
18.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
18.8 संस्तुत सामग्री

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई निम्न उद्देश्यों से प्रेरित होकर लिखी गई है–

1. गुप्त काल के उपरांत प्राचीन भारतीय व्यापार की स्थिति का मूल्यांकन करना ।
2. प्राचीन भारत की व्यापारिक गरिमा का पतनशील इतिवृत्त प्रस्तुत करना ।
3. उन कारणों का विवेचन करना जो प्राचीन भारतीय व्यापार के पतन के लिये उत्तरदायी रहे, एवं
4. व्यापारिक पतन के प्रभावों का विश्लेषण करना ।

18.1 प्रस्तावना

विगत इकाइयों में प्राचीन भारतीय व्यापार, वाणिज्य एवं नगरीकरण तथा उनके अंत: सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है । ताम्रयुगीन सभ्यता के प्रथम शहरीकरण से लेकर लोहयुगीन द्वितीय नगरीकरण तक के व्यापारिक उत्थान एवं पुनरूत्थान की गाथा सविस्तार कही जा चुकी है ।

जैसा कि पूर्व में देखा जा चुका है, ईसा पूर्व छठी सदी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक द्वितीय नगरीकरण जन्य विकास–प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारतीय व्यापार का पर्याप्त पल्लवन हुआ–देशी भी और विदेशी भी । अपनी ओर से इस वर्धित व्यापार ने नगरीकरण का पर्याप्त संवर्धन किया । भारत के इस घनीभूत विदेशी व तटीय व्यापार के परिणामस्वरूप उत्तर भारत में अनेक विशाल नगर तथा दक्षिण भारत में अनेक विशाल बन्दरगाह विकसित हुए । उन्नत व्यापार–व्यवसाय, साथों से भरे जल व थल मार्ग, गमनागमन की सुविधाजनक परिस्थितियाँ, मौद्रिक अर्थव्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की मिली–जुली पृष्ठभूमि के भारत की व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक पताका अनेक शताब्दियों तक लहराती रही ।

गुप्त काल में इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा ।

18.2 पतन की पृष्ठभूमि

कुषाणों एवं सातवाहनों के पतन के उपरांत भारत के विदेशी व्यापार में सहसा कमी आ गई, परिणामस्वरूप अनेक नगरों का पतन प्रारंभ हो गया । यद्यपि गुप्त साम्राज्य इन दोनों राज्यों से आकार की दृष्टि से काफी विस्तृत था, किन्तु वाणिज्य और व्यापार की पूर्ववर्ती गरिमा को वह कायम न रख पाया । गुप्त शासकों की साम्राज्य पिपासा ने अनेक छोटे–मोटे राज्यों का अस्तित्व समाप्त कर दिया था, इस कारण अनेक राजनीतिक एवं प्रशासनिक केन्द्र अस्तित्व गंवाने लगे थे, जिसका सीधा प्रभाव व्यापार एव व्यापार–मार्गों पर पड़ने लगा था । कौशाम्बी, श्रावस्ती, राजगृह, ताम्रलिप्ति, वैशाली अयोध्या, अहिच्छत्रा, तक्षशिला, वाराणसी, शिशुपालगढ, मथुरा, पैठन, कौंडिन्यपुर, नेवास जैसे नगर तेजी से पतनोन्मुखी हो रहे थे । इतना होने पर भी पाटलिपुत्र, उज्जैन, थानेश्वर, कन्नौज, पुरूषपुर, नासिक, विदिशा, दशपुर, वलभी, वत्सगुल्म जैसे नगरीय केन्द्र अपनी प्रशासकीय राजनीतिक एवं आर्थिक सम्पन्नता के उल्लेखनीय केन्द्र बने हुए थे ।

साहित्यिक एवं पुरातत्वीय प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि जैसे–जैसे भारत का विदेशी व्यापार घटता चला गया, वैसे–वैसे भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया थमी ही नहीं, समापन की ओर भी बड़ी । यह एक तथ्य है कि गुप्त काल में कुछ नवीन प्रशासकीय एवं सैनिक केन्द्रों का उद्भव हुआ, पर ऐसा सब कुछ अनेक पुराने नगरों की कीमत पर ही हुआ । गुप्त काल में जिस तेजी से सामन्तवाद का विकास हुआ, उसने एक विशाल साम्राज्य के व्यापार में घुन का काम करना प्रारंभ कर दिया था । छोटी–मोटी सामन्तीय इकाइयों ने देश के आंतरिक व्यापार को प्रश्रय नहीं दिया, ऐसा वे कर भी नहीं सकती थी । विदेशी बाजारों की लुप्तता ने विदेशी तथा सामन्तीय प्रथा ने आंतरिक व्यापार ही नहीं, समूची आर्थिक स्थितियों को डांवाडोल कर दिया था । मांग के अभाव में अनेक उद्योगों को बन्द हो जाना पड़ा था । इस कारण अनेक दस्तकार एंव औद्योगिक श्रमिक आजीविका की तलाश में ग्रामोन्मुखी हो गये थे । इस कारण भी अनेक गर धीरे– धीरे उजड़ते चले जा रहे थे तथा जनसंख्या का भार गांवों व कस्बों पर पड़ने से अर्थ–व्यवस्था अधिकाधिक कृषि–केन्द्रित होती चली जा रही थी ।

18.3 समकालीन व्यापारिक इतिहास

गुप्त–वाकाटक काल में हो रहे आर्थिक एव व्यापारिक परिवर्तनों के उपरांत भी भारतीय व्यापार को अनेक नवीन संभावनाएं मिल गई थी । पश्चिमी विश्व से होने वाले विदेशी व्यापार में यद्यपि अत्यधिक कमी आ गई थी, किन्तु उसकी बहुत बड़ी सीमा तक पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी व्यापारिक मंडियों की भारतीय माल की मांग कर रही थी । इस काल तक आते–आते इन एशियाई क्षेत्रों में अनेक भारतीय उपनिवेश बड़े प्रभावी ढंग से स्थापित हो चुके थे । इस कारण पूर्वी एव दक्षिण–पूर्वी भारत में व्यापार के नये केन्द्र स्थापित होने लगे थे, औद्योगिक बस्तियॉ विकसित होने लगी थी । और बन्दरगाहों पर व्यापारियों के झुण्ड अपना माल विदेशी बाजारों में भेजने की होड़ में व्यस्त होने लगे थे । सिंहल एंव अनेक द्वीप–द्वीपान्तरों ने गुप्तों की (समुद्र

गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार) संप्रभुता स्वीकार कर ली थी । यह भी भारतीय व्यापार को इन क्षेत्रों में बढावा देने का एक कारक–तत्व था । इस कारण अब भारत के साहसी वणिक एव नाविक पूर्वी समुद्र में दूर–दूर तक समुद्री–यात्राएँ करने लगे थे और व्यापार के सिलसिले में उत्साहपूर्वक ब्रह्मदेश, चीन, सिंहल, मलाया, फूनान कंबुज, चम्पा, सुमात्रा जावा एव निकटवर्ती द्वीपों एव राज्यों में जाते रहते थे और प्रभूत व्यापार द्वारा विदेशी धन भारत में लाते रहते थे।

गुप्तकालीन आयात–निर्यात पर चर्चा करते हुए डॉ कृष्णदत्त वाजपेयी " भारतीय व्यापार का इतिहास " में लिखते हैं कि " भारत से पूर्वी देशों को भेजी जाने वाली वस्तुओं में मोती, चमकीले पत्थर, ऊनी और सूती कपड़े, सुगंधित पदार्थ, नील औषधियाँ तथा हाथी दांत की बनी हुई वस्तुएँ मुख्य थीं । अब सिले हुए कपड़ों का भी व्यवसाय उन्नति पर था ।दक्षिणी–पूर्वी देशों को भारत से सिले वस्त्र तथा छाते जाने लगे थे । इस काल में कलिंग देश में बने हुए बारीक कपड़े की विदेशों में बड़ी मांग थी । कलिंग वस्त्र– निर्माण का प्रमुख केंद्र हो गया था । वस्त्र के लिये तमिल साहित्य में " कलिंगम " शब्द मिलता है । इसी से पता चलता है कि कलिंग प्रदेश वस्त्र–उत्पादन के लिये कितना अधिक विख्यात हो गया था । बंगाल का बारीक मलमल भी इस समय प्रसिद्ध हो चुका था और पूर्वी देशों को बड़े परिणाम में जाना जाता था । रघुवंश में श्वास से उड़ने वाले महीन वस्त्रों का उल्लेख किया गया है ।

पूर्व से जो वस्तुएँ भारत आती थीं उनमें चीन का रेशम मुख्य था । इसका आयात इस काल में बहुत बढ़ गया था । दक्षिण–पूर्वी देशों से भारत में अनेक वस्तुएँ आती थीं । मोती, सोना, चांदी, टीन, हाथी–दांत, गैंडे के सींग, चंदन, रंगीन सूती वस्त्र, चावल, इलायची दरियां, कालीमिर्च आदि और गंधक का निर्यात हिंदचीन एवं हिंदेशिया से भारत को बडे परिणाम में होता था । इन वस्तुओं के अतिरिक्त बड़े हाथी, सुपारी, खालें, चमड़े की ढालें, मोम, चन्दन आदि की लकड़ी, कपूर और अभ्रक भी भारत आते थे । कुछ काले गुलाम भी कई द्वीपों से भारत तथा अन्य देशों को भेजे जाते थे । बोर्नियों के समुद्री डाकू यह दास व्यवसाय विशेष रूप से करते थे ।

रोमन एवं पार्थियन साम्राज्यों के पतन का प्रतिकूल प्रभाव भारत के विदेश व्यापार पर निश्चित ही पड़ा था किन्तु वह सहसा अस्त नहीं हुआ था ।

प्राचीन व्यापार–मार्ग इस समय भी व्यस्त दिखाई देते थे किन्तु मिश्र, यूरोप एवं कुस्तुन्तुनिया से भारत का व्यापारिक सम्बंध लगभग टूट चुका था । अलबत्ता भारत और ईरान के सस्सानी साम्राज्य में निकट सम्पर्क बना हुआ था । इस कारण थल एवं जल मार्गों से भारत व ईरान के मध्य समूचे गुप्त काल एवं बहुत बड़ी सीमा तक उसके उपरांत भी व्यापारिक सम्बंध बने रहे । भारत और ईरान के मध्य पूर्व की भांति आयात एवं निर्यात की प्रक्रिया सदियों चलती रही । निश्चित ही व्यापार–सन्तुलन भारत के पक्ष में रहा था । इस कारण समूचे पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भारत में सस्सानी सिक्के भारी मात्रा में मिलते हैं । इन सिक्कों की व्यापकता एवं सर्वमान्यता इतनी अधिक थी कि ये विभिन्न भारतीय राज्यों में विनिमय के मान्य माध्यमों के रूप में सदियों तक अस्तित्व में रहे । पूर्वमध्यकाल में धीरे– धीरे यह स्थिति निरापद न रह पाई । एक ओर तो भारत की राजनीतिक एवं प्रशासकीय स्थितियों में विघटन

उपस्थित हुआ, तथा दूसरी ओर मध्य एशियाई व्यापार–मार्ग असुरक्षित हो गये । चीनी यात्री ह्वेनसांग का यात्रा–विवरण इस स्थिति को प्रमाणित करता है । इस कारण पश्चिमी देशों से होने वाला भारत का विदेशी व्यापार शनै शनै : समाप्त सा हो गया ।

आठवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में सिंध पर अरब आक्रमण हुआ । इसके साथ ही भारत एवं अरबवासियों के मध्य व्यापारिक एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान का एक लम्बा सिलसिला प्रारंभ हुआ । अरबों ने धीरे– धीरे अरब सागर के व्यापार पर अपना एकाधिकार सा स्थापित कर लिया । उसके व्यापारिक जहाज आयात–निर्यात के संवाहक बने । इन जहाजों के माध्यम से भारत का बहुत सा सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय ज्ञान अरब जा पहुँचा । बसरा, बगदाद आदि अरब काल में भारतीय वस्त्रों सुगन्धित द्रव्यों रत्नों मसालों आदि की भारी मांग थी । भारतीय व्यापार से अधिक लाभ कमाने के लिये अरब शासकों और व्यापारियों ने भारत की राष्ट्रकूट, पल्लव, चोल, पांड्य, सिंहन् न्दइ शक्तियों से मधुर सम्बंध बना लिये ।

पूर्व मध्यकाल में भारत से अरबी व्यापारियों के माध्यम से चन्दन मुष्क, ताम्बूल कपूर, अगर, लौंग, पिप्पली, सोंठ, इलायची, त्रिफला, वस्त्र, कपास, नारियल, आम–नींबू आदि फल, सुगन्धित हाथी–दांत का सामान, काली मिर्च, काष्ट–सामग्री, आयुध आदि सामग्री का विदेशों को निर्यात होता था, जबकि बदले में चांदी, रेशम, मदिरा, मूंगा, पोस्तीन, घोड़े, दास–दासियों आदि का भारत में आयात होता था ।

दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों से भारत के सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बंध पूर्व मध्यकाल में भी यथावत् बने रहे । वहाँ स्थापित श्रीविजय एवं शैलेन्द्र साम्राज्यों के भारतीय मूल के शासकों ने अपने आप को भारतीय व्यापारियों, कलाविदो एव, धर्म–प्रचारकों के निकट बनाये रखा । इन देशों से जलमार्गीय सम्बन्ध इतने घनीभूत हो गये थे कि अनेक समकालीन ग्रंथों यथा कथा–सरित्सागर, तिलकमंजरी, बृहत्कथामंजरी, आदि में उत्साहपूर्ण एव जोखिमभरी समुद्री–यात्राओं का उल्लेख आया है ।

इस काल में भारतीय व्यापार से अरब व्यापारी एवं जहाजी भरपूर लाभ उठा रहे थे और उन्होंने भारतीय मृद्भाण्डों, रत्नाभूषणों, मसाले, कस्तूरी, कलात्मक वस्तुओं, सुगंधित पदार्थो, वस्त्रों आदि के व्यापार को पूर्व से पश्चिम तक फैला दिया था ।

पूर्वी और दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों से घनीभूत एवं सुव्यवस्थित व्यापार–संबंधो का कलिंग, कोरोमंडल तट स्थित पल्लव, चोल व पांड्य क्षेत्रों को 13 वीं सदी तक लाभ मिलता रहा । यह स्थिति भारत के लिये बहुत कुछ सुखद थी । उत्तर भारत के हाथ से खिसक रहे व्यापार को दक्षिण भारत बहुत कुछ अभी भी थामे हुए था । एक अन्य सन्तोष की बात यह थी कि जहां पश्चिमी समुद्र के नौकानयन एवं विदेशी व्यापार पर अरबों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वहीं पूर्वी समुद्र में अभी भी भारतीय व्यापारी एवं नाविक निर्णायक बने हुए थे ।

इस काल के दक्षिण भारत के हिन्दू राज्यों की व्यापारिक नीतियों का अध्ययन करना उचित होगा । इनमें से कई राज्यों ने शक्तिशाली जहाजी बेड़ों का निर्माण किया था ताकि वे पूर्वी व दक्षिण–पूर्वी एशियाई राज्यों में अपने राजनीतिक व व्यापारिक हित जारी रख सकें । चोलों के पास अपना एक सक्षम जहाजी बेड़ा था । जिसकी धाक कम्बोडिया व चीन तक मानते

थे । पल्लवों की सामुद्रिक शक्ति के कारण चीन ने न केवल उनसे मधुर संबंध विकसित किये, अपितु उनके माध्यम से अपने विदेशी व्यापार को पल्लवित किया तेरहवीं सदी में पांड्य व चेर शासकों ने भी अपने अस्तित्व एवं व्यापार को सुरक्षित रखने की दृष्टि से स्वयं को नौ सैनिक ताकत बनाये रखा । तेरहवीं सदी के अन्तिम व चौदहवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में मुस्लिम खिलजी आक्रमणों के परिणामस्वरूप इन शक्तियों का पतन होने से दक्षिण भारत की व्यापारिक क्षमता अनाथ हो गई । होयसल एवं काकतीय जैसी शक्तियाँ जो व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन दे रही थी, वे भी विनाशोन्मुख हो गई ।

दक्षिण के इन राज्यों में वर्धित विदेशी एवं औपनिवेशिक मांग के परिणामस्वरूप पर्याप्त औद्योगिक विकास हुआ था । कई प्रकार के वस्त्र, रत्न व कीमती धातुओं के आभूषण, चमड़ा–उद्योग, हाथी–दांत की वस्तुएँ, सुगन्धित तेल व इत्र, पच्चीकारी, मीना का काम आदि शिल्प पर्याप्त पल्लवित थे । थल व नदी–मार्गों से आंतरिक एवं समुद्री मार्ग से विदेशी व्यापार संचालित होता था ।

तामलुक (ताम्रलिप्ति, रामेश्वर पट्टण, कायल पट्टण, देवी पट्टण आदि उल्लेखनीय बन्दरगाह थे । मदुरा, नेलोर, तंजोर, सलेम, मअबर, वारंगल आदि इस काल में महत्वपूर्ण, व्यापारिक एव औद्योगिक केन्द्र रहे ।

18.4 पतन के कारण

हम देख चुके हैं कि गुप्त काल में ही नगरीकरण के पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी । पूर्वमध्यकाल में यह प्रक्रिया और भी घनीभूत हो गई । नगरों के पतन में प्राचीन भारतीय व्यापार के पतन की कहानी भी जुड़ी हुई थी । इस स्थिति की कारणभूत परिस्थितियाँ निम्नलिखित थीं

1. <u>व्यापार मार्गों की असुरक्षा</u> :– भारत में गुप्तों की केन्द्रीय शक्ति के समापन के साथ ही चारों ओर अराजकता और विघटन के दृश्य उपस्थित हो गये थे । गुप्त काल में भारत आने वाले चीन यात्री फाह्यान को जहाँ मार्ग में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था, वहीं उसके लगभग दो शताब्दियों बाद आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग को मार्ग में दस्युओं द्वारा एकाधिक बार लूटा गया था । सन्देश रासक त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित, राजतरंगिणी आदि ग्रंथों में मार्गों की दुर्दशा एवं व्यापारी काफिलों को दस्युओं द्वारा लूटे जाने के संदर्भ प्राप्त होते हैं । यह परिस्थिति निश्चित ही भारत के आंतरिक व्यापार में बाधक तब बन रही थी ।
2. <u>सामंत प्रथा का अभिशाप</u>– सामंत प्रथा ने दो प्रकार से प्राचीन भारतीय व्यापार को चोट पहुँचाई । सामन्तों ने अपने प्रशासनिक क्षेत्रों में व्यापार को संरक्षित एवं वर्धित करने का कोई प्रयास नहीं किया । उल्टे उन्होंने कई प्रकार के कर, उपहार, भेंट, विष्टि आदि वसूल कर व्यापारियों एवं कृषकों का शोषण किया । अहं एवं विलासिता से ग्रस्त इन सामंतों ने अपनी शान–शौकत व अभिजात्य अपव्ययों पर ध्यान केन्द्रित रखा ।

   दूसरी बात यह थी कि वे पारस्परिक विग्रह से ग्रस्त रहते थे । वे युद्धों व सैनिक सामग्री पर प्रभूत धन व्यय करते थे और कई छोटे सामंत तो सदैव ऋण–ग्रस्त

बने रहते थे और अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये छद्म वेश में व्यापारियों व साथों की लूटमार तक कर लेते थे । कई अर्थों में वे विकास की अपेक्षा विनाश का मार्ग अंगीकार किये होते थे ।

3. <u>मध्य एशियाई राजनैतिक व सैनिक परिस्थितियाँ</u>– ईसा की सातवीं सदी के उत्तरार्ध एव आठवीं सदी के पूर्वाध में मध्य एशिया पर अपनी संप्रभुता तथा व्यापारिक हित कायम करने के लिये चीन, तुर्क, तिब्बत व अरब शक्तियों में होड़ सी मची हुई थी । भारत के काश्मीर राज्य पर इन दशकों में चीन का पर्याप्त प्रभाव था । चीन के इशारे पर काश्मीर के शासकों ने अरबों तुखारों व दरदों से संघर्ष मोल लिया था और तिब्बत जाने वाले मार्ग को अवरुद्ध कर दिया था । तिब्बत का इस समय पर्याप्त विस्तार हो चुका था । उसने भारत–चीन मार्ग में इसलिये बाधाएँ पैदा कर दी थी क्योंकि चीन से वह अनवरत संघर्ष कर रहा था । चीन को इस कारण दक्षिण,भारतीय पल्लव शक्ति व समुद्री मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था ।

   यह वह समय था कि अरबों के नेतृत्व में इस्लाम धर्म का तेजी से अभ्युदय हो रहा , था । भूमध्य सागर के उस पार की यूरोपीय ईसाई शक्तियों और इस पार की इस्लामी शक्तियों के मध्य कटु संघर्ष के परिणामस्वरूप व्यापारिक थल–मार्ग लगभग उजड़ से गये थे । इन्हीं मार्गों से भारत व यूरोप के मध्य जो परम्परागत व्यापार होता था, वह इन शताब्दियों में लगभग समाप्त ही हो चुका था ।

   इन दिनों अरब–निवासी व्यापारिक दृष्टि से सहसा महत्वाकांक्षी हो उठे थे । सिंध व मुल्तान पर आक्रमण करके उन्होंने पश्चिमोत्तर भारतीय थल–मार्गों पर नियंत्रण कर लिया था । साथ ही हिन्द महा–सागर के जल–मार्ग भी प्रभावी रूप से अधिकृत कर लिये थे । उन्होंने धीरे– धीरे विदेशी व्यापार व जहाजरानी पर एकाधिकार कर भारतीय व्यापारियों से पश्चिमी देशों से होने कल व्यापारिक लाभ छीन लिया था । ये मध्य एशियाई परिस्थितियॉ भारत के व्यापार को बहुत कुछ पतनशील स्थितियों में ले गई ।

4. <u>नवीन थल - मार्गों की कठिनाई</u>– भारत व चीन के मध्य परम्परागत थल–मार्ग अवरुद्ध हो जाने से असम, बर्मा व सिक्किम के रास्ते व्यापार होने लगा । पर ये मार्ग पर्वतीय व दुर्गम थे । इस कारण साथी को अनेक प्राकृतिक एवं भौगोलिक विषम परिस्थितियों का सामना करना होता था । श्रम, समय व धन भी अधिक खर्च होता था । इस कारण व्यापार का क्षेत्र पूर्वापक्ष पर्याप्त सीमित हो गया था ।

5. <u>द्वितीय नगरीकरण का परि–समापन</u> – लोह युग के आगमन के साथ भारत में ई पू. 600 के लगभग द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, वह कुषाणसातवाहन काल में अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँची थी । नगरीकरण के साथ व्यापारिक प्रभूति का सीधा संबंध रहा । किन्तु गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत नगरों का धीरे–धीरे पतन प्रारंभ हो गया । इस पतन की गति गुप्तोत्तर काल में और भी बढ गयी । परिणामस्वरूप व्यापार को भी निरंतर धक्का लगता चला गया ।

18.5 प्रभाव

उत्तर भारत में तेरहवीं और दक्षिण भारत में चौदहवीं सदी लगते ही भारत का परम्परागत एवं विश्व–विश्रुत व्यापार अन्ततोगत्वा पतन की ओर चला गया । ऐसा नहीं था कि सब कुछ समाप्त हो गया हो । दिल्ली व सुलतानों तथा दक्षिण के बहमनी और खासकर विजयनगर साम्राज्यों में शिल्प व व्यापार पर्याप्त पल्लवित हुए, किन्तु व्यापार व उद्योग का यह विकास नये सिरे से ही प्रारंभ हुआ । इस कारण एक नये नगरीकरण का युग प्रारंभ हुआ । नये व्यापार केन्द्र बने एव नवीन व्यापारिक परिस्थितियाँ एवं सम्बन्ध विकसित हुए । प्राचीन भारतीय व्यापार के पतन के तात्कालिक एवं दूरगामी परिणाम निकले । विघटित भारतीय राज्यों एवं सामन्तीय इकाइयों की आर्थिक रीढ़ ही इस कारण टूट गई । निर्बल एवं लगातार घटते हुए कोशों का दुष्परिणाम इन राजनीतिक इकाइयों की प्रशासकीय एवं सैनिक क्षमता पर पड़ा । एक ओर तो जनता की अनेक प्रकार से बदहाली के दृश्य सामने आये और दूसरी ओर पारस्परिक विग्रहों एवं विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप अनेक भारतीय राज्यों को अस्त हो जाना पड़ा ।

कुछ दूरगामी परिणाम भी निकले । प्राचीन भारत का व्यापार संतुलन सदैव ही भारत के पक्ष में रहा था । भारतीय व्यापार के पतन के कारण वह संतुलन टूट गया । प्राचीन भारत में विदेशों से जो सम्पदा भारत की ओर कीमती धातुओं, विदेशी मुद्राओं एवं बहुमूल्य रत्नों के रूप में प्रवाहित होती थी, वह थम सी गई । ' 'सोने की चिड़िया " होने का भारतीय दावा अतीत की वस्तु बन गया । इस ओर सम्पत्ति की आवक कम हुई और दूसरी ओर इस्लाम मतावलम्बी आक्रमणकारियों ने भारतीय सम्पत्ति की भरपूर लूट की । राजकीय धन–कोश, मन्दिरों के साम्पत्तिक वैभव, भारतीय धनिकों व जनता द्वारा संचित राशि लूट के विषय बन गये । इस कारण निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों की आर्थिक कमर टूट गयी । अंतत. भारत को मुस्लिम सुलतानों एवं मुगल बादशाहों के विदेशी शासनों का पराधीनता–भार ढोना पड़ा ।

18.6 सारांश

गुप्त काल को परम्परागत रूप में भारत का " स्वर्ण युग " कहा जाता रहा है । किन्तु इस काल की भौतिक संस्कृति से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण तथ्य ऐसे हैं जो प्राचीन भारतीय व्यापार के पतन के लिये उत्तरदायी हैं । प्रथम तो यह है कि इस काल में अनेक उत्तर भारतीय नगर पतनोन्मुखी हो गये । दूसरा यह है कि इस काल में सामन्त–प्रथा का बड़ी तेजी से विकास हुआ । पूर्वी एवं दक्षिण–पूर्वी एशियाई देशों एवं वहाँ स्थापित भारतीय उपनिवेशों के कारण पूर्वी एवं दक्षिण भारत का व्यापार फिर भी पर्याप्त पल्लवित रहा किन्तु पश्चिमी देशों से व्यापार एवं नौकानयन का अधिकार भारत के हाथों से छिनकर अरबों के हाथों में चला गया ।

कुषाण–सातवाहन काल को प्राचीन भारतीय विदेशी व्यापार का चरमोत्कर्ष माना जा सकता है । किन्तु इन राज्यों के पतन के उपरांत अनेक यूरोपीय एवं पश्चिम एशियाई राजनीतिक, धार्मिक एवं सैनिक घटनाओं के फलस्वरूप व्यापारिक मार्ग निरापद न रह सके । रोम एव यूनानी साम्राज्यों का पतन होने के कारण उन क्षेत्रों के भारतीय वस्तुओं की मांग भी लगभग समाप्त हो गई । इन कारणों से भारतीय उद्योग, व्यापार एवं शिल्प का अस्तित्व संकट में आ गया । उद्योगों के उजड़ने के परिणामस्वरूप अनेक नगरों का पतन हो गया ।

पूर्वमध्यकाल में यह प्रक्रिया पर्याप्त गतिमान हुई । इस्लामी आक्रमणों ने बची–कुची कसर भी पूरी कर दी । भारतीय व्यापार केवल इतिहास के पन्नों पर सिमट कर रह गया ।

18.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. द्वितीय नगरीकरण के पतनोन्मुख होने का भारतीय व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा?
2. सामन्त प्रथा भारतीय व्यापार के पतन में कहां तक उत्तरदायी रही?
3. प्राचीन भारतीय व्यापार के पतन के कारणों की समीक्षा कीजिए ।
4. गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में भारत के ही दक्षिण–पूर्वी एशिया से व्यापार सम्बन्धों का विवरण दीजिए ।
5. संक्षिप्त टिप्पणियॉ दीजिए–

   अ. गुप्त काल में भारत का आयात–निर्यात ।

   ब. भारतीय विदेशी व्यापार में अरबों की भूमिका।

   स. व्यापारिक पतन का भारतीय जीवन पर प्रभाव ।

18.8 संस्तुत अध्ययन सामाग्री

1. शर्मा, रामशरण : भारत के प्राचीन नगरों का पतन

2. राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर–जीवन

3. घिल्डियाल, विनीत : चतुर्भाणी–गुप्त काल की पृष्ठभूमि का अध्ययन

4. निगम, श्यामसुन्दर : इकानामिक आर्गेनाइजेशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया

5. झा, द्विजेन्द्रनारायण एवं श्रीमाली कृष्णमोहन : प्राचीन भारत भारत का इतिहास

6. बुद्ध प्रकाश : आस्पेक्ट्स ऑफ ऐशियण्ट इण्डियन सिविलाइजेशन

7. कोरोक्म्काया : भारत के नगर

8. थापर, रोमिला : प्राचीन भारत का इतिहास

9. वाजपेयी, कृष्णदत्त. भारतीय व्यापार का इतिहास

10. गोपाल, लल्लनजी : इकानामिक लाफ ऑफ नार्दन इण्डिया

11. भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित:

दी क्लासिकल एज

दी इम्पीरियल कन्नौज

इकाई 19

गुप्त काल में नगरीय–केन्द्रों का पतन यथार्थ या मिथ

ईकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 गुप्त–पूर्व काल में भारत में नगरीकरण

19.2.1 उत्तर भारत

19.7.2 दक्षिण भारत

19.3 गुप्त काल में नगरीकरण

19.3.1 पृष्ठ भूमि

19.3.2 स्वरूप

19.4 गुप्त काल में नगरों का पतन

19.4.1 कारणभूत परिस्थितियाँ

19.4.2 पतन का यथार्थ–स्वरूप

19.5 नगरीकरण की पतनशील प्रक्रिया का प्रभाव

19.5.1 प्रक्रिया

19.5.2 प्रभाव

19.6 संक्षिप्तीकरण

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.8 संस्तुत 'अध्ययन सामग्री

19.0 उद्देश्य:

प्रस्तुत इकाई निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है–

1. प्राचीन भारत की द्वितीय नगरीकरण की प्रक्रिया का संक्षिप्त अवलोकन करना,
2. गुप्त–पूर्व काल की उत्तर व दक्षिण भारत की नगरीकरण की स्थिति का पृष्ठभूमि के रूप में मूल्यांकन करना
3. गुप्त काल में विद्यमान नगरों का विवरण प्रस्तुत करना,
4. गुप्त काल एवं उपरांत नगरों के पतन के कारणों की मीमांसा करना,
5. विभिन्न नगरों के पतन के स्वरूप का आकलन करना, एवं
6. नगरों के पतन के सामाजिक–आर्थिक प्रभावों का अध्ययन एवं विश्लेषण करना ।

19.1 प्रस्तावना

इतिहास की पूर्व–प्रचलित अवधारणाओं मैं अब पर्याप्त परिवर्तन आ गया है । परिणामस्वरूप उसके अध्ययन–क्षेत्र में ऐसे अनेक विषय आ गये है जिनका अध्ययन–अध्यापन

पहले या तो होता ही नही था या गौण रूप से होता था । नगरीकरण का विषय भी इस स्थिति का अपवाद नही था ।

सच तो यह है कि पुरातात्विक स्रोतों ने हमारी परम्परागत सोच में आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया है । इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप इतिहास अब पूर्वापेक्ष अधिक तथ्यपरक एवं वस्तुनिष्ठ हुआ है । अब इतिहास का नव–लेखन कठोर राजनैतिक एवं प्रशासकीय परिस्थितियों एवं भाववादी धार्मिक एवं दार्शनिक दशाओं के साथ–साथ सामाजिक परिवर्तनों एवं भौतिक संस्कृति पर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित करने लगा है । ऐसे मैं ग्रामों एवं नगरों के उत्कर्षापकर्ष की स्थितियां सहज ध्यान आकर्षित करती है क्योंकि इनके अध्ययन के माध्यम से विभिन्न काल–खण्डों में होने वाले आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक एवं सामाजिक विकास–क्रम को निर्धारित एवं उनमें हो रहे रूपाज़रणों को रेखांकित करना संभव हो जाता है । प्रस्तुत इकाई में इसी कारण गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में नगरों के पतन की स्थिति, पृष्ठभूमि एवं प्रभावों को विश्लेषित करना अभीष्ट हुआ है ।

19.2 गुप्त–पूर्व काल में नगरीकरण

19.2.1 उत्तर भारत:

भारत में गुप्त–पूर्व काल में जो नगरीकरण की प्रक्रिया दिखाई देती है, वह द्वितीय शहरीकरण की पृष्ठभूमि में लौह युग के आगमन की विशेष भूमिका रही । द्वितीय शहरीकरण की पृष्ठभूमि में लोह युग के आगमन की विशेष भूमिका रही । लोह–प्रौद्योगिकी ने उत्तर भारत, विशेषत : गंगा घाटी, के कृषि जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया । प्रारंभ में लोहे की कुल्हाड़ियों ने वनों पर कहर ढला । बढ़ती हुई जनसंख्या हेतु आवश्यक खाद्यान्न की पूर्ति के लिये वनों को तेजी से काटा और वन–भूमि को कृषि–भूमि में परिवर्तित किया जाने लगा । इस प्रकार विस्तृत खेती का बड़ी तेजी से विकास हुआ । पर यह स्थिति अधिक समय तक न रह पायी । अतिरिक्त कृषि उत्पादन बिचौलियों के माध्यम सै नव–विकसित व्यापार–केन्द्रों तक पहुंचने लगा । इन व्यापार–केन्द्रों में भी औद्योगिकी लोह–उपकरणों ने क्रांति कर दी थी । परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पादन की संभावना का द्वार खुल गया । मंडियों में कच्चे माल की मांग बढ़ गयी, जिसकी आपूर्ति ग्रामीण क्षेत्रों के अधिशेषों से होने लगी । इसी बीच लोह–उपकरणों द्वारा नये एवं लम्बे व्यापार–मार्गों का निर्माण संभव हो चला । पहियों पर लोह–पट्टिकाओं के आवरण से यातायात के मजबूत एवं द्रुतगामी साधन विकसित हो गये । इन व्यापार–मार्गों एवं यातायात के साधनों ने व्यापार–मंडियों अथवा गमनागमन के केन्द्रों को नगरों का रूप दे दिया । इनमें से अनेक विभिन्न जनपदों के राजनीतिक एवं प्रशासकीय मुख्यालय भी बन गये । इन समस्त परिस्थितियों के कारण भारत ने द्वितीय नगरीकरण के क्षेत्र में प्रवेश किया । प्रारंभिक अवस्था में कौशाम्बी, वाराणसी, खैराडीह, वैशाली, राजगृह, चम्पा जैसी कस्बाई बस्तियों का अभ्युदय हुआ । हम जिन्हें सामान्यतया नगर मानते है, वैसे ये बस्तियां प्रारंभ में नहीं थी । यह तथ्य हमें उत्खननों द्वारा ज्ञात होता है राजनीति एवं आवागमन के केन्द्र होने से इनमें से कुछ कस्बे धीरे–धीरे नगरों का रूप धारण कर गये । मौर्य काल तक आते–जाते

अनेक व्यापार–केन्द्र विकसित हुए । वर्धित व्यापार एवं राजमार्गों के निर्माण के फलस्वरूप कई स्थलों का अत्यंत तेजी से नगरों के रूप में आकार ले लिया । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस काल के प्रमुख नगरों में महाजन पदों की राजधानियाँ, प्राचीन धार्मिक केन्द्र एवं भौतिक विकास से जुड़े उदीय नगर नगर आते है । चम्पा, वैशाली, राजगृह, उज्जैन, कौशाम्बी, काशी, श्रावस्ती, पाटलिपुत्र, प्रयाग, मथुरा, तक्षशिला, अहिच्छत्रा, काम्पिल्य, कान्यकुब्ज आदि इस युग के प्रमुख भारतीय नगर रहे ।

19.2.2 दक्षिण भारत :

आंध्र–सातवाहन काल में दक्षिण भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया उत्तर भारत से भी अधिक घनीभूत सिद्ध हुई । इसका मूल कारण दक्षिण भारत के अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक संबंध थे । इन संबंधों के कारण जल और थल मार्गों, व्यापार–केन्द्रों एवं बन्दरगाहों में आशातीत वृद्धि हुई थी । विभिन्न साहित्यिक विवरणों, विदेशी यात्रियों के संस्मरणों, सिक्कों एवं अन्य पुरा–प्रमाणों के माध्यम से इस काल के निम्न दक्षिण भारतीय नगरों की जानकारी प्राप्त होती है–

1. प्रायद्वीप के आंतरिक नगर – ऐसे नगरों में पैठन, तगर, नासिक, वनवासी आदि व्यापारिक बस्तियाँ आती थी । टालेमी ने ऐसे नगरों में हिप्पोकूर (आधुनिक हिप्पर्गि या कोल्हापुर), मोदोगुल्ला (रायचूर के निकट मुद्गल), वर्दमान (वर्धनपेट 9), कोरुकल (वारंगल का एक निकटवर्ती क्षेत्र) आदि का परिगणन किया है ।

2. पश्चिमी तटीय नगर – समकालीन विदेशी सोत दक्षिण भारत के पश्चिमी तट पर जिन नगरों और बन्दरगाहों का उल्लेख करते है, उत्तर से दक्षिण की ओर जाते हुए क्रम से बेरीगाजा (भृगुकच्छ या भरूच), सुप्पारा, (शूर्पारक), कैलियाना (कल्याण), दूंग, सेमील्ला (संभवत : मुंबई के निकट चोल), मंदगोर (रत्नागिरि जिले में मंदनगढ), हिप्पोकूर (कोलावा के निकट कोई बन्दर–स्थल), पलैपटने (वेलियपटट्म), मैलिजीगर (जंजीरा या जयगढ़), बाईजतियम (चिपलूण), तोगरम् (देवगढ़) आदि बन्दर–नगर आते थे । इनके अतिरिक्त नीलकांत, कोचीन व कुमारी' का उल्लेख भी आया है । ये स्थल आज भी प्रसिद्ध है ।

3. पूर्वी तटीय नगर – ऐसे नगर मुख्यतया कृष्णा, गोदावरी, लांगुलिनी, वंशधरा आदि नदियों के मुहानों पर अवस्थित थे । दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ते हुए मसलिया (आधुनिक मछुरीपटट्नम पांडिचेरी (प्राचीन वेद्पुरी), मामल्लपुरम् ताम्रलिप्ति (तामलुक) आदि महत्वपूर्ण व्यापार–केन्द्र आते थे । प्राचीन तमिल साहित्य के अध्ययन से नगरों की पहिचान में पर्याप्त सहायता मिली है ।

इन नगरों का अरब, रोम, यूनान और दक्षिण–पूर्वी एशिया संबंध बना हुआ था । पश्चिमी देशों के भी अनेक जहाज माल लाने व ले जाने के लिये इन बन्दरगाहों पर लंगर डाले खड़े रहते गुप्त काल में भी इनमें से कतिपय नगरों का अस्तित्व रहा, जैसाकि हम आगे देखेंगे।

19.3 गुप्त काल में नगरीकरण

19.3.1 पृष्ठभूमि:

गुप्त युग का प्रारंभ अनेक कारणों से भारतीय नगरों के हास का प्रारंभ–काल था । शक–कुषाण एवं आंध्र–सातवाहन सत्ताओं के इतिहास के पटल से विदा हो जाने के कारण देश का आर्थिक एवं भौतिक वैभव अब पूर्ववत् नहीं रह गया था । एक नवीन साम्राज्य के अभ्युदय के कारण अनेक पराजित शक्तियों के सत्ता केन्द्र उजड़ गये थें किन्तु साथ ही राजनीतिक कारणों से कुछ नवीन नगर भी उभर आये थे । सच पूछा जाए तो गुप्त काल जागरूकता के मामले में एक संक्रमण का समय था । हालांकि अनेक प्राचीन नगरों के पतनोन्मुखी होने के पुरात्विक उत्खनन प्रस्तुत करते है किन्तु अनेक नगर फिर भी विकसित हो रहे थे और अपनी राजनीतिक एवं व्यापारिक भूमिका सम्पादित कर रहे थे ।

19.3.2 स्वरूप:

मौर्य, गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में नगरीकरण की प्रक्रिया गतिहीन एवं पतनोन्मुखी रही । डॉ. रामशरण शर्मा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक " **भारत के प्राचीन नगरों का पतन** " मे लिखते है– ' 'पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उतरप्रदेश में सामान्यत : तीसरी शताब्दी के वाद शहरी केन्द्रों का तेजी सें हास हुआ । यह बात संघोंल, हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, मथुरा और अनेक अन्य शहरों पर भी लागू होती है । अन्वेषणों से भी सिंधु–मांगेय जल–विभाजक और ऊपरी गंगा के मैदानों में बहुसंख्य स्थलों पर कुषाण युग और सल्नतकाल के बीच पुरावशेषों का नितांत अभाव दिखता है । गुप्त काल में मध्य–गांगेय मैदानों में अनेक स्थलों पर तेजी से ह्रास हो रहा था या वे उजड़ रहे थे, इनमें श्रावस्ती, कौशांबी, गनवरिया, खैराडीह, मांझी, चिरांद, कटरागढ़, राजगीर इत्यादि शामिल हैं । पश्चिम बंगाल में तामलुक और चंद्रकेतुगढ़ और उड़ीसा में शिशुपालगढ की भी यही हालत हुई । मध्यप्रदेश, राजस्थान और गुजरात में भी अनेक स्थानों पर, जिनमे नोह, उज्जैन और नगर शामिल है, तीसरी सदी के बाद पतन शुरु हो जाता है । महाराष्ट्र के अंतर्गत अधिकतम शहरी केन्द्रों में, ईसा की तीसरी शताब्दी में अथवा उसके बाद, आबादी उजड़ गई । पौनी, कौडिन्यपुर, नेंवासा, टेर, भोकर्दन, पैठन, नासिक इत्यादि ऐसे ही शहर थे । ऐसी ही स्थिति वडगांव–माधवपुर तथा कर्नाटक के अंतर्गत अन्य स्थलों की थी । ये सभी स्थल सातवाहनकालीन शहरी केन्द्र कहे जाते है, जिनका प्रारंभ सातवाहन राज्य के उदय के सौ साल पहले हुआ, लेकिन अंत तीसरी शताब्दी में सातवाहन राज्य के पतन के तुरंत बाद हुआ । आन्ध्रप्रदेश में अधिकांश शहरों का यही हाल हुआ । यह बात अरिकमेडु और तमिलनाडु के कुछ अन्य शहरों पर भी लागू होती हें । अतएव ऐसा मालूम पड़ता है कि तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा चौथी शताब्दी के कुषाणों और सातवाहनों के समय के शहरी केन्द्रों का एकाएक पतन हो गया । यही शहरी हास का पहला चरण था जिसकी चपेट में आरंभिक ऐतिहासिक काल के अधिकांश शहर आये । "

डॉ. शर्मा ने अपने इस निष्कर्ष के प्रमाणन के लिये विभिन्न स्थानों पर हुए उत्खननों को आधार बनाया है । उन्होंने विभिन्न साहित्यिक संदर्भ भी इस सिलसिले में प्रस्तुत किये है ।

कतिपय लेखक गुप्त काल में नगरों के पतन के इन निष्कर्ष को यथार्थ न मानकर उसे ' 'मिथ " की संज्ञा देते है । उनका मानना है कि यद्यपि कतिपय नगर राजनीतिक एवं सैनिक कारणों से अपना विगत गौरव खोने लगे थे किन्तु उनमें से अनेक गुप्तों के आधीन भी अपने विकास की राह पर चल रहै थे । एसे नगरों में पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्जैन, कन्नौज, पुरुषपुर, नासिक, भड़ौच, विदिशा, वलभी आदि को परिगणन किया जा सकता है । थानेश्वर, दशपुर, एरिकेण, नन्दिवर्धन, वत्सगुल्म जैसे नगर नवीन रूप से अभ्युदय पा रहे थे । अनेक ऐसे केन्द्र भी विकसित हो रहे थे जो उत्तर मध्य काल में नगरीकरण के द्वार पर दस्तक देने की स्थिति में आ गये थे और जिन्हें केन्द्र बनाकर विभिन्न राजपूत एवं दक्षिण भारतीय शक्तियाँ अपने गर्व एवं गौरव का प्रदर्शन करने में संतुष्ट दिखाई दे रही थी ।

डॉ. शर्मा के निष्कर्षों में कुछ अपवाद जोड़ भी दिये जाएं, किन्तु वे यथार्थ के कठोर, वस्तुनिष्ठ और पुरातात्विक प्रमाणों के धरातल पर ही खड़े हैं उन्होंने बड़े अध्ययन यह सिद्ध किया है कि ' भारत में गुप्त साम्राज्य सातवाहनों एवं कुषाणों के राज्यों में से प्रत्येक में बड़ा था, फिर भी इसके अधीनस्थ नगरों में पतन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ता है । पूरब से पश्चिम और उत्तर की ओर बढ़ते हुए हमें पाटलिपुत्र, वैशाली, कटरागढ, चिरांद, खैराडीह, मांझी, वाराणसी, कौशांबी, श्रृंगवेरपुर, अयोध्या, हस्तिनापुर, मथुरा, अतरंजीखेड़ा, पुराना किला, नोह, रोपड़, संघोल इत्यादि में पतन के लक्षण दृष्टिगोचर होते है । वाराणसी, कौशांबी, अहिच्छत्रा और तक्षशिला में यद्यपि क्षैतिज उत्खनन हुए है, फिर भी यहां के अनेक खातों में पतन का चित्र मिलता है । चिरांद और खैराडीह में, जहां यथेष्ट पैमाने पर खुदाई हुई, गुप्तकालीन स्तरों में तेजी से पतन होने के चिह्न पाये जाते है । वैशाली में भी अपकर्ष दिखता है, यद्यपि यहां एक बड़ा गुप्तकालीन क्षेत्र खोदा गया है । अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि क्षैतिज विधि से उत्खनित प्राचीन शहरी स्थलों से प्राप्त पुरान्वस्तुओं की संख्या अधिक हो सकती है लेकिन गुणवत्ता में लंबवत् विधि से खोदे गये स्थलों में बरामद पुरावशेषों से वे बेहतर नहीं हो सकती । चौथी से छठी सदियों के बीच के स्थलों से मिले पुरावशेष के स्वरूप में लंबवत् अथवा क्षैतिज उत्खनन के कारण कोई वास्तविक अंतर नहीं आता । अध्ययनकर्ताओं द्वारा बनाये गये काट संबंधी रेखाचित्रों (सेक्शन ड्राइंग्स) से पता चलता है कि अधिकांशत: गुप्त काल की सांस्कृतिक निक्षेप पहली दो अथवा तीन शताब्दियों के निक्षेप से पतला है । यद्यपि छिटपुट साहित्यिक संदर्भो से पतन का संकेत मिलता है, फिर भी वराहमिहिर की वृहत्संहिता (505 ई) में शहरों, व्यापारियों और शिल्पियों के लिये आने वाले बुरे दिनों अथवा विनाश की भविष्यवाणियाँ मिलती है । स्पष्टतया गुप्त नरेश तथा उनके समकालीन राजा शहरों को उतनी सहायता नहीं दे पाये जितनी उन्हें पहले मिलती थी । "

कुल मिलाकर गुप्तकालीन नगरीकरण का जो चित्र उभरता है, उससे यह निर्णय लेने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती कि इस काल में ई पू. पांचवीं सदी से द्वितीय नगरीकरण का जो विकास प्रारंभ हुआ था, वह इस काल में, बावजूद गुप्त काल की साम्राज्यीय एवं सांस्कृतिक

ऊँचाइयों के, पतनशील स्थिति में आ गया था । अनेक पुराने नगर दम तोड़ने लगे थे अथवा जैसे–जैसे अपने अस्तित्व को बचाये हुए थे । यह ठीक है कुछ नवीन नगर भी दृश्य–पटल पर उभर रहे थे किन्तु वे किसी नगरीकरण की प्रक्रिया का भाग न होकर राजनीतिक, प्रशासकीय या सैनिक संयोगों का परिणाम ही थे । आखिर ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न निश्चित ही महत्वपूर्ण हो जाता है?

19.4 गुप्तकाल में नगरों का पतन

जैसा कि देखा जा चुका है, प्राचीन भारत में द्वितीय नगरीकरण की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई थी, वह गतिहीनता एवं पतन का निरंतर शिकार होती चली गई । उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करना समीचीन होगा ।

19.4.1 कारणभूत परिस्थितियाँ –

गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में नगरों का पतन के अनेक कारण रहे–

1. राजनीतिक कारण – गुप्त वंश के अधीन मगध 'ने पुन : एक महा–साम्राज्य का रूप धारण कर लिया था । समुद्रगुप्त ने अपनी चहुंमुखी 'विजयों के द्वारा आर्यावर्त के राज्यों, प्रत्यंग राज्यों व गण–राज्यों को ही उन्मूलित कर अपने साम्राज्य में मिलाया, अपितु अनेक 'आटविक राज्यों दक्षिण की शक्तियों एवं द्वीप–द्वीपांतरों का मान–मर्दन कर :उन्हें अपना करद बनाया था । चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम आदि के समय भी स्थिति न्यूनाधिक रूप में वही रही थी । साम्राज्य के प्रसार एवं लघु राज्यों के उन्मूलन का एक परिणाम यह हुआ कि अनेक राज्यों की राजधानियाँ एवं सैनिक–केन्द्र समाप्तप्राय : हो गये । गण–राज्यों एवं नागों के प्रमुख–केन्द्र धीरे–धीरे अतीत का विषय बन गये । शागल, काम्पिल्य, अहिच्छत्रा, पद्मावती, कान्तिपुरी, वैशाली, चम्पा, डवाक, माध्यमिका, मालव–नगर, शान्तिपुरी, (बयाना), बैराट, रंगमहल के स्थल की प्राचीन बस्ती आदि इसके प्रमाण है । मथुरा, उज्जैन, वाराणसी, गया, विदिशा आदि बस्तियाँ धार्मिक–केन्द्र या तीर्थस्थल होने, के कारण अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सफल अवश्य हुईं किन्तु उनका राजनीतिक महत्व जाता रहा । यही स्थिति दक्षिण भारत में भी हुई । सातवाहन साम्राज्य का जैसे–जैसे विघटन होता गया, सामाज्यांतर्गत नगरीय बस्तियाँ पतन की ओर बढ़ती चली गईं । इस कारण पैठन, तगर, शूर्पारक, हिप्पोकोर, कैलियाना, सेमील्ला, मंदगोर, मसलिया जैसी महत्वपूर्ण बस्तियाँ अपना विगत गौरव खो बैठी । धार्मिक कारणों से नासिक, कावेरीपत्तनम् मदुराई, नगरों का अस्तित्व निश्चित ही कायम रहा । पुरातत्वीय प्रमाण बताते है कि महाराष्ट्र व दक्षिण भारत की बडगाँव–माधवपुर, पेद्दबंकुर, धुलिकट्ट, पेडमर्रूर, कोंडापुर, कुडवेल्ली, सतनीकोटा, सतनीकोटा, राजमुंदरी, धरनी–कोटा, केसरपल्ली, चिदम्बरम् अमरावती, नागार्जुन–कोंडा आदि स्थानों पर विद्यमान नगरीय बस्तियां गुप्त काल के प्रारंभ से लेकर उसके पतन के मध्य या तो अपना अस्तित्व खो बैठी या तेजी से पतनोन्मुख हो गई । हूणों का आक्रमण भी इस पतन का कालान्तर में एक महत्वपूर्ण कारण बना ।

2. आर्थिक कारण – ईसा की तीसरी–चौथी सदियाँ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से अत्यधिक घातक एवं निराशाजनक सिद्ध हुई । इस काल में अनेक ज्ञात एवं अज्ञात कारणों से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने एवं उन्हें भरपूर प्रोत्साहित करने वाली रोमन, हान, शरूपहलव, कुषाण, सातवाहन अपनी व्यापारिक, औद्योगिक एवं परिवहनीय चमक बताकर विदा ले चुकी थीं । इस समय प्राचीन विश्व की अर्थ–व्यवस्था अत्यंत डांवाडोल थी । विश्व–व्यापार में हुए इस हास के कारण विदेशों में भारतीय माल की मांग अप्रत्याशित रूप से घट गई थी व पूर्व में विदेशी व्यापार से जों धन भारत में आता था, वह अब काफी कम हो गया था । इसका सीधा परिणाम भारत के नगरीय–केन्द्रों व उनकी औद्योगिक एवं व्यापारिक संरचना पर पड़ा था । नगरों में रहने वाले शिल्पी–जन, दस्तकार, व्यापारी आदि अब सकट में थे और आजीविका की तलाश में अन्यत्र, विशेषकर ग्रामों की ओर, पलायन करने को बाध्य हो रहे थे । इससे कृषि क्षेत्र का विस्तार तो हुआ किन्तु अनेक नगरों को उपेक्षित एवं वीरान होने को विवश होना पड़ा ।

3. सामन्तीय प्रथा का चरमोत्कर्ष – सातवाहनों और पल्लवों के समय से भूमि–अनुदानों का जो युग प्रारंभ हुआ था, उसने क्रमश. सामन्तवादी–प्रथा का रूप धारण कर लिया था । यह एक प्रकार सै सामाजिक परिवर्तन की एक नई आर्थिक व प्रशासकीय विद्या थी । नगरों के उजड़ने व पतनशील स्थिति में आ जाने के कारण ग्रामीण व कृषि क्षेत्रों पर जनसंख्या का दबाव बढ़ गया था । परिणाम–स्वरूप राजस्व में पर्याप्त कमी आ गई थी । नगरों के उद्योगों–धंधों में पर्याप्त कमी आ जाने से राज्य की आय के अनेक स्रोत अब समाप्त होने की स्थिति में थे । इस कारण राज्य अब धार्मिक क्षेत्रों, प्रशासकों, सैन्याधिकारियों आदि को नकद वेतन की बजाय विपिन क्षेत्रों या ग्रामों को अनुदान के रूप में देने लगा था । इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों का धीरे–धीरे सामन्तीकरण होता जा रहा था । ग्रामों की जनसंख्या में एक ओर वृद्धि होने तथा दूसरी ओर सामन्तीय शोषण के कारण ग्रामों की अतिरिक्त उपज अब शहरों एवं उनके उद्योगों तक नहीं पहुंच रही थी । इस स्थिति ने नगरों एवं उनकी अर्थ–व्यवस्था को आशातीत क्षति पहुंचाई थी । एक ओर कच्चे माल का अभाव और दूसरी ओर मांग के अभाव में उत्पन्न हुआ औद्योगिक संकट गुप्तकालीन सामन्तवाद की दुखद देन थी ।

19.4.2 पतन का यथार्थ स्वरूप –

एक प्रश्न यह उठता है कि क्या गुप्त काल में नगरों के पतन की चर्चा यथार्थ है या मिथ (परिकल्पना) :

जहां तक उसके यथार्थ होने के प्रश्न है, ऊपर दिये गये पुरा–प्रमाण उसे प्रमाणित करने के लिये आवश्यकता से अधिक पर्याप्त है । और फिर उन्हें अभिप्रमाणित करने के लिये विभिन्न साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण भी तो उपलब्ध हे । वराहमिहिर की वृहत्संहिता अनेक प्राचीन भारतीय नगरों के पतन अथवा विनाश की भविष्यवाणी करती है । कालिदास का रघुवंश तथा रामायण जैसे, ग्रन्थों से प्राचीन इक्ष्वाकु–नगरों के पतन की करुणामयी गाथाएँ ज्ञात होती है । चीनी–यात्रियों के विवरणों में भी श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, रामगांव, सृघ्न आदि बौद्ध–नगरों की दुर्दशा की चर्चा आई है । इसी प्रकार बंगाल से प्राप्त पन्द्रह ताम्र–पत्र

लेखों से तोशियो यामाजाकी ने निष्कर्ष निकाला है कि पूर्व में नगरीय प्रशासन में शिल्पियों और व्यापारियों को जो प्रतिनिधित्व मिल रहा था, वह पांचवी व छठी सदियों में समाप्त कर दिया गया । स्पष्ट है कि कई नगरों से इस समय नगरों से उद्योग व व्यापार क्षेत्र का प्रभाव समाप्त सा हो गया था ।

इतना होने पर भी अनेक इतिहासकार इन निष्कर्षों से सहमत नहीं है । वे कहते है कि नगरों के पतन की यह कहानी पूरी तरह गले नहीं उतरती । यदि हम मेघदूत, चतुर्भाणी, मृच्छकटिक आदि गुप्तकालीन साहित्यिक स्रोतों में कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) एवं उज्जैन नगरों का हम जो विवरण पाते है, वह तो एक विभिन्न स्थिति का ही परिचायक है । भाणों के आधार पर डॉ विनीत घिल्डियाल (चतुर्भाणी – गुप्त काल की पृष्ठभूमि का अध्ययन, पृ 151) कहते है कि पाटलिपुत्र का दूसरा नाम कुसुमपुर था जिस आज पटना कहते है, जो बिहार राज्य की राजधानी है । दोनों नामों का ' 'चतुर्भाणी " में उपयोग हुआ है । ' 'धूर्तविटसंवाद " नामक आण में तो पाटलिपुत्र को कुसुमपुर ही लिखा है । उस भाग के रचयिता कुसुमपुर के निवासियों का रुचिकर वर्णन किया है । उसके राजमार्ग के दोनों ओर ऊँची–ऊँची अट्टालिकाएँ खड़ी थी । मार्ग जन–संकुल था जिससे उसे लांघना आसान न था । उसकी'सफाई की विशेष प्रशंसा की गयी है । ' 'उभयाभिसारिका " नाम का भाण पाटलिपुत्र की राहों का बड़े मनोयोग से वर्णन करता है । विट कहता है कि न केवल वहां की धूल–जल–छिड़काव से नम कर दी जाती थी, धूल का कहीं नाम न था बल्कि जिस जल से उन पर छिड़काव किया जाता था, वह पहले सुगन्धित कर लिया जाता था जिससे राहें गमकती रहती थी, फूल चहुं ओर बिखरे रहते थे जिससे वातावरण भवनों का सा हो जाता था । विट फिर नगर के भागों का वर्णन करता है – बाजार खरीददारों और पण्य वस्तुओं से भरे थे । अट्टालिकाओं की खिड़कियों से स्त्रियां झांक रही थी । कहीं वेद शब्दायमान हो रहे थे, कही संगीत की छम–छम गज रही थी, वाद्य बज रहे थे, गीत गाये जा रहे थे, नृत्य के घुंघरु बज रहे थे । कहीं लोग धनुष चलाने का अभ्यास कर रहे थे जिससे उनकी टंकारें हवा मैं शब्दायमान हो रही थी । ये क्रियाएँ राजमार्ग के दोनों ओर के प्रासादों में हो रही थी जिससे लगता था कि प्रध्वनित प्रासाद परस्पर कथोपकथन कर रहे हों । लोग हाथियों, घोड़ों, रथों पर सवार होकर इधर से उधर जा रहे थे ।

इस काल की उज्जयिनी का वैभव देख लेना भी अन्यथा न होगा । विभिन्न समकालीन स्रोतों के आधार पर डी. श्यामसुन्दर निगम ने उस काल की उज्जयिनी का इस प्रकार वर्णन किया है–

"नगर के मार्ग, वीथिकाएँ, चौराहे एवं रथ्याएँ व्यापार एवं उद्योग का सहज समन्वय थे । मार्गों से लगे हुए कई स्थानों पर विभिन्न प्रकार के निर्माणी–व्यवसाय थे, जहां कुशल शिल्पिगण कार्यरत रहा करते थे । विपणियो और गोदामों में विभिन्न देशों व देश के विभिन्न भागों से आये माल के अम्बार लगे रहते थे । बाजार में क्रेताओं और विक्रेताओं की भीड़ें सौदों में जुड़ी रहती थी । इनमें शक, यवन, तुषार, पारसीक, मागध, किरात, वंग, महिषक, चोल, तथा पांडा व्यापारी पारस्परिक स्पर्धा में लिप्त रहा करते थे । डस प्रकार पूर्वी यूरोप, एशिया माइनर, मंगोलिया ईरान, मध्य एशिया तथा उत्तर व दक्षिण भारत के व्यापारी झुण्ड के झुण्ड

इकट्ठे होकर तरह–तरह की भाषाओं एवं बोलियों में सौदेबाजी करते थे । राजकीय कर्मचारी खस, खली, कर्नाट, द्रविड़, चीनी, बर्बर, म्लेच्छर आदि भाषाओं में दक्ष होते थे ।विभिन्न प्रकार की फैशनों एवं वस्त्राभूषणों का उज्जयिनी में विचित्र संगम होता था । नगर के भीड़ भरे चौराहे एवं उनसे लगे अंतर्क्षेत्र धातु–पात्रों के निर्माण, शंखों की छिलाई, कारखाना की खटपट, फेरीवालों की चिल्लाहट, दुकान! की भीड़ों' के विचित्र स्वर, सौदेबाज सटोरियों के संकेत शब्दों तथा आवारा ठिठौलों के व्यर्थ–वाक्यों की मिश्रित गूंजों से व्याप्त रहते थे ।

श्रेष्ठियों की ऊँची अट्टालिकाएँ होती थी । मूर्तियों, चित्रों एवं अलंकरणों से युक्त इन , स्थापत्य–चमत्कारों की ऊपरी मंजिलों पर कपोत अपना डेरा जमाये होते थे । नीचे की मंजिलों में थोक व्यापार के अड्डे व मुद्रा–बाजार होते थे । श्रेष्ठी–चत्वर, करोड–पत्तियों के अधिकोषण–केन्द्र थे । सामंतों एवं श्रेणियों की मूल हवेलियों तक कई वाटिकाओं, बरामदों एवं ग्रामीणों को पार करके पहुंचा जा सकता था । रक्षकों, प्रतिहारों, विटों, विदूषकों एवं दास–दासियों के विनीत व्यवहारों एवं चाटुकार शब्दों से गर्वित धनिक वर्ग अपने अन्त पुरी मे, एकाधिक गलियाँ केवल धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों एवं विवशताओं हेतु रखता था । उद्दाम श्रृंगार, कलात्मक अभिरुचि, पारस्परिक कलह एवं श्वसुर–गृह की वंश–परम्परा के आगे बढ़ाने के प्रति रमणियों का जीवन समर्पित था जबकि इनके अभिजात्य भर्तार प्रेक्षागृहों से युक्त विशाल क्यों में अपने देशी–विदेशी मित्रों के साथ रूपसी नर्तकियों के भव्य श्रृंगारों, चंचल कटाक्षों, थिरकन भरे नृत्यों एवं वाद्य–संगीत युक्त मधुशालाओं में अपनी संध्याओं को मध्य रात्रियों में डुबो देते थे, फुर्सत का समय विटों की अश्लील हरकतों, विदूषकों के परिहासो एवं द्युत–क्रीड़ाओं में बिता लेते थे और कीमती सुराओं से भरे चक्षक खाली करते रहते थे । लाखों के वारे–न्यारे हो जाते थे । बाह्र निकलने पर अभिजात्य वर्ग का वैभव दूना हो जाता था ।

उक्त विवरण निश्चित ही भ्रम में डालता है कि क्या कहीं गुप्त काल मैं नगरों के पतन की कहानी मिथ या कल्पना तो नहीं है? किन्तु यह स्थिति परस्पर विरोधाभासी नहीं है । वह केवल यह सिद्ध करती है कि गुण काल में जहां अनेक भारतीय नगर पतन की गर्त में समा रहे थे, कुछ नगर, जो राज–केन्द्र या केन्द्रीकृत व्यापार–केन्द्र थे, विलासिताओं एवं धनिकों, सत्ताधारियों एवं सामन्तों के मौज–शौकों का उद्दाम प्रदर्शन बने हुए थे । यह सब आम आदमी एवं निम्न वर्ग के शोषण की कीमत पर हो रहा था । नगर तो बचे थे किन्तु उनकी निरंतरता के आधार नष्ट हो चुके थे । वे यह सिद्ध करने को पर्याप्त थे कि सभ्यताएँ एवं उनके विकास के आधार किस प्रकार नष्ट होते है 1 यह स्थिति यह भी सिद्ध करती है कि गुप्त काल में नगरीकरण के पतन की प्रक्रिया एक यथार्थ थी, मिथ नहीं ।

19.5 नगरीकरण की पतनशील प्रक्रिया का प्रभाव

19.5.1 प्रक्रिया –

गुप्त युग भारत की आर्थिक एवं व्यापारिक स्थिति की दृष्टि से एक ऐसा काल था जिसे विरासत एवं उत्तराधिकार के रूप में राजनीतिक दृष्टि से एक विघटित भारत मिला था ।

एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन होने के कारण गुप्तों ने अपने क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण गारो को पतन के गर्त में जाने से बचा लिया था किन्तु उनके पतन ने नगरीकरण के पतन की प्रक्रिया में और भी तेजी ला दी थी । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन कतिपय नगरों को छोड़कर भारत में तीसरी से पांचवी सदी के मध्य बड़ी बस्तियों का तेजी से पतन हुआ । गुप्तों के पतन के उपरांत तो अनेक उल्लेखनीय बस्तियों के उजाड़ हो जानें के पुष्ट पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त होते है ।

19.5.2 प्रभाव –

नगरों के पतन की इस प्रक्रिया का भारतीय जीवन पर अनेक प्रभाव पड़े–

1. अनेक शिल्पी आजीविका – विहीन हो गये । वे अपने औद्योगिक कौशल से हाथ धो बैठे ।
2. व्यापारियों, सौदागरों एवं बिचौलियों का बहुत–सा धंधा चौपट हो गया । उनको पूर्व की चमकदार व वैभवशाली स्थिति अतीत का विषय बन गई ।
3. देश के राजनीतिक विघटन एवं पश्चिम व मध्य एशिया की अशान्त एवं उथल–पुथल भरी परिस्थितियों के कारण भारत के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को पहले ही भारी क्षति पहुंची था । नगरों के पतन ने उसकी रही–सही कमर भी तोड़ दी ।
4. विदेशी व्यापार में भारत के पक्ष में जो व्यापार–संतुलन रहता था, उससे भारत में कीमती धातुएँ एवं विदेशी सिक्के भारी मात्रा में आयातित होते थे, जिससे पूंजी–निवेश को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता था । शक–कुषाण एवं सातवाहन शक्तियों के इतिहास के पटल से विदा होते ही गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में यह अवाक कम हो गई । पुरा–प्रमाण इस तथ्य की साक्षी देते है ।
5. नगरों के उजाड़ हो जाने या गतिहीन हो जाने के कारण अनेक व्यापार–मार्ग उचित उपयोग एवं रख–रखाव के अभाव में अस्तित्व–हीन हो गये ।
6. ग्रामों पर जनसंख्या का भार बढ़ गया । इस कारण कृषि–क्षेत्र का प्रसार हुआ । ऐसी दशा खेतीहर श्रमिकों की मांग में वृद्धि हुई । उनकी आर्थिक दशा पहले से कुछ अच्छी हुई ।
7. नगरों सें प्राप्त होने वाली अनेक प्रकार की आय राज्य को प्राप्त न होने का दुष्परिणाम राजकीय कोशों को झेलना पड़ा । वेतन, दान, अनुदान या अन्य कई प्रकार के नकदी चुकारों के बदले राज्य ने अब विभिन्न पदाधिकारियों, सैन्याधिकारियों, ब्राह्मणों व पुरोहितों आदि को न्याय–प्रशासन आदि के अधिकारों सहित भूमि–अनुदान देना प्रारंभ कर दिया । इससे सामन्तवाद को भरपूर प्रोत्साहन मिला । इस प्रथा ने देश को ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था, शोषण, प्राकृतिक साधनों के अविवेकपूर्ण विदोहन, राज्य के प्रति स्वाभिभक्तिपूर्ण समर्पण की अपेक्षा स्वयं की स्वार्थपूर्ति की मन :स्थिति व राजनीतिक व प्रशासकीय विघटन की ओर देश को धकेल दिया जिससे अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन

परिणाम राष्ट्र हित में नहीं रहे । गुप्त काल का उत्तरार्ध एवं गुप्तोत्तर काल इस निष्कर्ष की साक्षी देता है ।

19.6 संक्षिप्तीकरण

उत्तर भारत में शक–पहलव व कुषाण तथा दक्षिण भारत में आंध्र–सातवाहन शक्तियों के पतन का सीधा परिणाम नगरों के पतन के रूप में सामने आया । ये शक्तियाँ जल व थल मार्ग से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से न केवल जुड़ी थी, किन्तु उन्हें सतत प्रोत्साहित भी करती रही थी, जिनके कारण अनेक भारतीय नगर व बन्दरगाह शाद और आबाद थे । इन शक्तियों के पतन के साथ अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में अनेक ऐसी ज्ञात एवं अज्ञात परिस्थितियाँ घटी जिनसे भारत के विदेशी बाजार को भारी धक्का लगा । दुर्भाग्य से भारत में तेजी से विकसित होने वाले सामन्तवाद ने भी नगरों को गतिहीन बनाने में भरपूर भूमिका अदा की । देशी और विदेशी व्यापार–क्षेत्रों में पक्के माल की मांग में आई इस भारी कमी का खामियाजा नगरीय उद्योगों, व्यापारियों व शिल्पियों को भोगना पड़ा । तीसरी से छठी शताब्दी के मध्य अनेक भारतीय नगर या तो उजड़ गये या पतनोन्मुखी हो गये । इससे नगरों से ग्रामों की ओर जनसंख्या का भारी पलायन हुआ जिससे कृषि पर दबाव पड़ा और ग्रामीण अर्थ–व्यवस्था के स्वरूप में भी पर्याप्त परिवर्तन आ गया । गुप्तों ने तो कुछ समय तक अपने साम्राज्य के कई नगरों को राजनीतिक, व्यापारिक एवं सैनिक कारणों से विकसित एवं पल्लवित रखा किन्तु जैसे–जैसे वे निर्बल होकर पतन ही राह पर चलते चले गये, उनके द्वारा शासित–प्रशासित क्षेत्रों में नगरीकरण के पतन की प्रक्रिया तेज होती चली गयी । गुप्त साम्राज्य के बाहर उत्तर एवं दक्षिण भारत में नगरों के पतन की जो प्रक्रिया तीसरी सदी से प्रारंभ हुई थी, वह पांचवीं सदी के लगभग पूर्ण हो गयी लगती है, वैसे भारतीय इतिहास में गुप्त काल ही तो माना जाता है ।

19.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में द्वितीय नगरीकरण का युग किन परिस्थितियों में समाप्त हुआ? (100 शब्द)
2. गुप्त काल में पाटलिपुत्र एवं उज्जैन नगरों के आर्थिक वैभव का विवरण दीजिए । (150 शब्द)
3. ईसा की तीसरी से पांचवी सदी के मध्य भारत में नगरीकरण की क्या स्थिति रही? (150 शब्द)
4. "गुप्त काल में भारतीय नगरों के पतन " – विषय पर एक संक्षिप्त लेख प्रस्तुत कीजिए । (300 शब्द)
5. गुप्त काल में भारतीय नगरों के पतन का भारतीय जीवन पर पड़े प्रभाव की चर्चा कीजिए? (100 शब्द)
6. संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये – (100 शब्द)

   अ. नगरों के पतन का गुप्तकालीन अर्थ–व्यवस्था पर प्रभाव

   ब. द्वितीय नगरीकरण के पतन के राजनीतिक कारण

   स. नगरों के पतन में सामन्तवाद का योगदान

19.8 संस्तुत अध्ययन सामग्री

1. शर्मा, रामशरण. भारत के प्राचीन नगरों का पतन ।
2. राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर–जीवन ।
3. घिल्डियाल विनीत: चतुर्भाणी – गुप्त काल की पृष्ठभूमि का अध्ययन ।
4. निगम, श्यामसुंदर. प्राचीन उज्जयिनी का अर्थ–वैभव ।
5. झा, द्विजेन्द्रनारायण एवं श्रीमाली कृष्णमोहन : प्राचीन भारत का इतिहास ।
6. बुहदप्रकाश. आस्पेक्टस् आफ ऐंशियण्ट इण्डियन सिविलाइजेशन ।
7. कोरोत्स्क्काया भारत के नगर
8. थापर, रोमिला : प्राचीन भारत का इतिहास
9. गौतम एवं डा. कमलेश शर्मा : प्राचीन भारत

इकाई –20
प्राचीन भारत में मेले और उत्सव

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 प्राचीन भारत में मेले और उत्सव का अर्थ और महत्व
20.3 प्राचीन भारत में मेलों और उत्सवों के विकास का इतिहास–क्रम
20.4 मेलों और उत्सवों के प्रकार तथा प्रमुख उत्सवों का स्वरूप
20.5 मेलों और उत्सवों में मनोरंजन के माध्यम एवं कलाकार
20.6 मेलों और उत्सवों के प्रति धर्मशास्त्रीय एवं राजकीय दृष्टिकोण तथा आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों पर उनका प्रभाव
20.7 सारांश
20.8 शब्दावली
20.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.10 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य. प्राचीन भारत में मेले और उत्सव को सामाजिक जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में बताते हुए उनके विभिन्न पक्षों से आपको परिचित कराना है । इस पाठ के माध्यम से आप निम्नलिखित तथ्यों से अवगत हो सकेंगे

- प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति में मेलों और उत्सवों का अर्थ और महत्व ।
- प्राचीन भारत में मेलों और उत्सवों का विकास–क्रम
- मेलों और उत्सवों के विभित्र प्रकार और उनमें मनोरंजन के माध्यम
- मेलों और उत्सवों के प्रति धर्मशास्त्रीय एवं राजकीय दृष्टिकोण तथा आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों पर उनका प्रभाव

20.1 प्रस्तावना

मेले और उत्सवों के स्वरूप से परिचित होने कें पूर्व मानव–जीवन के लिए उनके अर्थ और महत्व को समझना आवश्यक है । सभ्यता और संस्कृति के उद्भव और विकास के साथ इनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है । प्राचीन भारत में साधारण समाज से जटिल वर्गीकृत समाज के विकास के साथ ही मेलों और उत्सवों के स्वरूप और प्रकारों का भी विकास हुआ । विभित्र सामाजिक धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना और उनके स्वरूप के विकास के साथ मेले और उत्सव भी अपना भिन्न– भिन्न रूप लेते गये । जब ग्रामीण और नगरीय समाज के बीच अन्तर बड़े तो इन्होंने भी भिन्न–पिन परिवेशों मैं भिन्न – भिन्न रूप ग्रहण किया । दलों और उत्सवों को जीवन्तता प्रदान करने कें विभिन्न माध्यमों का भी विकास

हुआ । जिनमें साधारण नट, नर्तकों से लेकर कुशल अभिनेताओं, गायिकाओं आदि सभी के विकास का इतिहास सम्मिलित है । उत्सवों. कें अवसर पर विशेषरूप से आयोजित नाटकों का मंचन इस दिशा में एक बड़ी उपलब्धि हुई जिससे साहित्यिक विकास का भी घनिष्ट सम्बन्ध है । नाटक और प्रदर्शनों ने जहां एक और लोगों के राग–रंग की अपेक्षाओं और मनोवृत्तियों कों अभिव्यक्ति प्रदान कीं वहीं दूसरी ओर इन्होंने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया । फलस्वरूप धर्मशास्त्रकारों की दृष्टि उन पर भी पडी और उन्होंने उनके नैतिक और अनैतिक पक्षों पर विशेष टिप्पणियां की ।

20.2 प्राचीन भारत में मेले और उत्सव का अर्थ और महत्व

मेले और उत्सव व्यक्तिगत रूप सै मनुष्य के राग–रंग, प्रेम और उसमें रूचि प्रदर्शन का परिचायक तो है ही, इससे अधिक यह मनुष्य की सामाजिकता का द्योतक हैं । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसकी पुष्टि उसके द्वारा निर्मित विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं से हो नहीं होती बल्कि सबसे अधिक इस बात से होती है कि वह अपने दुख और प्रसन्नता को भी ओरों के साथ बांटना चाहता है । मेले और उत्सव मनुष्य की जीवन्त सामाजिकता की सबसे प्रबल अभिव्यक्ति है । जिनमें सामूहिक भागीदारी या उपस्थिति सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है । मेले किसी निश्चित तिथि या अवसर पर स्वाभाविक रूप से आयोजित आर्थिक या धार्मिक गतिविधियों का परिणाम थें, यथा–बाजार, हाट, देव पूजा, तीर्थयात्रा सै सम्बन्धित लोगों की स्थान विशेष पर सामूहिक उपस्थिति होती थी, तो उत्सव उक्त अथवा अन्य अवसरों पर विशेषरूप सें आयोजित खान–पान, नृत्य–गान, नाटक तथा विभिन्न प्रकार की प्रतिस्पर्धाओं व प्रदर्शनों में लोगों की भागीदारी या उपस्थिति के परिचायक थे ।

प्राचीन भारत में मेले और उत्सवों का प्रचलन इस स्वाभाविक मानवीय चेतना से भिन्न नहीं था । विशेषरूप से भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उद्भवकाल में जब भारतीय आर्य भ्रमणशील जनजातीय समूहों के रूप में थे नो उनमें सामूहिक उद्यम एवं उल्लास की भावना प्रबल रही । तथापि मेले और उत्सवों का प्रचलन स्थायी जीवन–पद्धति से अधिक सम्बन्धित है और इस दृष्टि से यह आद्य भारतीय इतिहास मैं स्थायी जीवन व्यतीत कर रहे आर्येतर समुदायों की जीवन शैली का विषय अधिक हों सकता था । वास्तव में प्राचीन भारत में मेलों और उत्सवों की जीवन–पद्धति को नियमित अंग के रूप में विकसित और प्रचलित होने हम तभी पाते है जब वैदिक सभ्यता स्थायी रूप प्राप्त कर लेती है जिसमें आर्य एवं आर्येतर दोनों ही जीवन पद्धतियों का सम्मिश्रण देखा जा सकता है ।

प्राचीन भारतीय जीवन–पद्धति में मेले, और उत्सव सामूहिक मनोरंजन और अवकाश की सहज अभिव्यक्ति तो थे ही इनका प्रयोजनात्मक विकास भी होता दिखाई देता है । इसमें राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक सभी प्रकार के प्रयोजन सम्मिलित है । नये राजा कें राज्यारोहण युद्ध अभियानों की सफलता, आवाह–विवाह जैसे पारिवारिक सामाजिक संस्कार, यज्ञानुष्ठान, कृषि कार्यों से सम्बन्धित अनुष्ठान आदि अनेक अवसरों पर उत्सवों का आयोजन एक अनिवार्य जीवन शैली बनता गया और इस दृष्टि से इन्होंने अपने आप में एक संस्था जैसा रूप ग्रहण कर लिया भले ही वे स्वतंत्र रूप सै भिन्न –भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित रहें । इनके

अतिरिक्त राजाओं, सामर्थ्यवान व्यक्तियों अथवा संगठनों द्वारा अपने निजी, मनोरंजनार्थ अथवा प्रचारार्थ आयोजित आकस्मिक समारोहों या उत्सवों के आयोजनों ने भी मेलों और उत्सवों के विकास में विशेष भूमिका निभाई । इस प्रकार प्राचीन भारत में मेले और उत्सव व्यक्ति और समाज के हर क्षेत्र से सम्बन्धित क्रिया–कलाप का अभिन्न अंग बन गये।

20.3 प्राचीन भारत मे मेलों और उत्सवों के विकास का इतिहास क्रम

मानव समाज की स्थापना नें: अति प्रारम्भिक काल से ही अन्य क्षेत्रों की तरह ही भारत में भी मध्य पाषाणकाल से ही मनुष्य के समूह के साथ नृत्य–गान की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के संकेत मिलते है । मध्य पाषाणीय युग की गुफा चित्रकारियों में ऐसे दृश्य अंकित है जिनमे कुछ मनुष्य नृत्य और अभिनय की मुद्राओं में है और कुछ उनका अवलोकन कर रहै है । शिकार मार कर जीवन यापन करने वाले अति प्रारम्भिक मानव समूहों द्वारा मारें हुए शिकार के इर्द–गिर्द नृत्य उत्सव के अति प्रारम्भिक रूप का परिचायक हैं । क्रमश : मनुष्य जब स्थायी कृषक समूहों के रूप में परिणत हुआ तो फसल की कटाई के समय इसके आनन्दातिरेक ने स्वाभाविक उत्सव का रूप ले लिया । उत्सवों के विकास की एक अन्य अति प्रारम्भिक अभिव्यक्ति का माध्यम एक जाति समूह द्वारा दूसरे जाति समूह पर युद्ध से विजय प्राप्त करना भी बना ।

ऋग्वैदिकाल सै ही बाद मैं प्रचलित होने वाले 'इंन्द्रध्वजोत्सव' नामक एक उत्सव के संकेत मिलते है (क्र. 1/10/1) । ऋग्वेद में सम्भवत : रात्रि में मनाये जाने वाले एक उत्सव को 'समन ' कहा गया है (क्र. 1/48/6) । जिसमें स्त्रियों सुलंकृत होकर भाग लेती थी और जिसमें कदाचित कन्याओं द्वारा अपने वर का चुनाव भी किया जाता था । इसी काल में घुड़दौड़ व रथ दौड़ एक महत्वपूर्ण आयोजन के रूप मैं प्रचलित होती जान पड़ती है (क्र. 5; 37/7; 2/41/44; 8/80/2), जिसमें प्रतियोगियों के अतिरिक्त दर्शकों की उपस्थिति सहज ही उसे एक उत्सव का रूप दे देती है । विश्वला नामक एक तीव्र धावक अश्व तथा दौड़ के लिए 'आजि' शब्द का प्रयोग मिलता है । दौड़ के मैदान को 'काष्ठा' या 'सत्य' कहा गया है । मल्लयुद्ध का भी प्रचलन इस काल में रहा ।

ऋग्वेद की एक ऋचा में ब्राह्मणों द्वारा सोमपेय निकालते समय संगीतमय मंत्रोच्चार का उल्लेख. हुआ है (क्र. 7/10/3/7–8), जौ इस कार्य को उत्सव का रूप प्रदान करता है । ऋग्वेद की समापण ऋचा (Dialoguehymn– 10/95) में नाटक का भी अति प्रारम्भिक संकेत है (देखिए – कीथ, ए. बी., संस्कृत ड्रामा) । ऋग्वैदकाल में प्रचलित वाद्यों के रूप में वीणा, वाण और नागाड़े का उल्लेख हुआ हैं (क्र. 10/146/2; 1/28/5; 2/43/3; 10/135/4; 10/135/7) । जो उस काल के जीवन में संगीत कें प्रचलन की पुष्टि मत है पुष्टि भी ऋग्वैदिकाल तक मेलों और उत्सवों के स्वरूप का कोई विशेष विकास हुआ नही दिखायी देता, केवल उसके लक्षण मात्र ही मिलते है ।

उत्तर वैदिककाल में आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों के मिश्रण तथा वैदिक सभ्यता के विधिवत स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्कारों से सम्बन्धित विभिन्न उत्सवों को अस्तित्व में आते देख सकते है । विशेषरूप से

वैदिक यज्ञों से सम्बन्धित उत्सव जिनका अपना विशेष सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व भी था, इस काल में भलीभांति प्रचलित हों चुके मिलते है । राज्याभिषेक से सम्बन्धित राजसूय यज्ञ, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सीमाओं के विस्तार सें सम्बन्धित अश्वमेघ यज्ञ, सामाजिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति से सम्बन्धित वाजपेय यज्ञ अग्निष्टोम तथा महावत संस्कार जैसे धार्मिक अनुष्ठान व्यक्तिगत आयोजन होते हुए भी सामूहिक उत्सव का रूप ग्रहण कर लेते थे । वाजपेय यज्ञ में रथदौड़ एक महत्वपूर्ण क्रीड़ा होती थी जो लोगों के आकर्षण का केन्द्र होती थी । अथर्ववेद मे घुड़दौड़ का उल्लेख मिलता है जिसमें विजेता को समारोह पुरस्कार प्रदान किया जाता था । उत्तर वैदिककाल में गीत–संगीत के अवसरों पर स्त्री–पुरूषों के समान रूप से सम्मिलित होने का प्रचलन था । महाकाव्यों में राज परिवारों में प्रचलित स्वयंम्बर एवं विवाह का जो रूप बताया गया है वह एक बड़े उत्सव का ही परिचायक है । इसके अतिरिक्त द्विजों में उपनयन एवं समावर्तन विशेष महत्व रखता था और भले ही इन अवसरों पर विशेष वर्ग के लोग ही उपस्थिति होते हों फिर भी यह एक उत्सव जैसा ही आयोजन होता था । इन विशेष प्रकार के अनुष्ठानों के अतिरिक्त उत्तर वैदिक काल से ही जनसामान्य में प्रचलित लोकोत्सवों का भी संकेत मिलता है, जो सामान्यत कृषि आधारित ग्रामीण जीवन की कृषि संबन्धी गतिविधियों से सम्बद्ध जान पड़ते है । छठी शताब्दी ईसा पूर्व तक नगरीय जीवन का पुन : विकास– हो गया था । ये नगर उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में उल्लिखित कतिपय राज्यों की राजधानी मात्र नही थे बल्कि नयी व्यापारिक आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र थे । इन नगरों की स्थापना के साथ ग्रामीण एवं नगरीय संस्कृतियां समानान्तर रूप से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का जंग बनी रही । जैसा कि अपेक्षित था, नगरीय जीवन ने अवकाश और मनोरंजन के नये–नये आयाम प्रस्तुत किये और परम्परागत ग्रामीण व्यवहारों के लिए संकट पैदा किया । इस काल में रचे गये धर्मसूत्रों में स्नाक को बार–बार नगरों का प्रशा न करने तथा वहां आयोजित होने वाले खेल–तमाशों से अलग रहने का निर्देश किया गया है । यह इस बात का प्रमाण है कि नगर जीवन विभिन्न प्रकार के राग–रंग और उत्सवों से युक्त था । गुप्तों के काल में आगे चलकर वात्सायन के कामसूत्र से इस बात की ओर भी पुष्टि होती है, जिसमें नगर में रहने वाले व्यक्ति को सभ्य और श्रेष्ठ कहा गया है जो जीवन के सभी रसों से अवगत होता है ।

पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लगभग रची गयी पाणिनी की अष्टध्यायी में समाज में प्रचलित अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का उल्लेख मिलता है । इनमें मल्ल युद्ध, प्रहरण क्रीड़ा (3/3/39;4/2/27) – (शस्त्रों को क्रीड़ा या प्रतिस्पर्धी) और द्वंदयुद्ध उल्लेखनीय है । उद्यान क्रीड़ा (अष्टाध्यायी 6/2/74) और कंदुक क्रीड़ा भी परम्परागत मनोरंजन के साधन ये जो उनमें भाग लेने वाले व्यक्तियों की रमणीयता के साथ ही उनका अवलोकन करने वालों के लिए कोतुहल का विषय होते थे । जातकों एवं यवन लेखकों के विवरणों सै अनेक प्रकार की प्रतिस्पर्धाओं तथा खेल–तमाशों यथा–बैल दौड़, हस्तियुद्ध, मेड युद्ध, घुड़दौड़, घोड़े और बैल की मिश्रित दौड़, कुश्ती, मुक्केबाजी, घनुर्धरी, लाठी युद्ध, माला युद्ध, पोलवाट, रस्सा, नृत्य, बाजीगरी, सांप नृत्य, मुर्गा युद्ध तथा नृत्य–गीत और अभिनय की लोकप्रियता का पता चलता है । बौद्ध साहित्य में क्रीड़ादि के आयोजन को ही 'समज्जा ' कहा गया है। श्रृंगालोवाद जातक से

इसमें सभी जाति और वर्ग के स्त्री पुरुष के भाग लेने, नृत्य, गान करने एवं खूब मद्यपान करने का पता चलता है । एक समाज की चर्चा करते हुए एक जातक में उसमें सम्मिलित होने वाले स्त्री–पुरुषों को पंक्तियों में बैठा बतलाया गया है । महाभारत के आदिपर्व में भी ऐसी क्रीड़ाओं के लिए समाज शब्द का प्रयोग हुआ है । जातकों में कार्तिक महोत्सव, सुरानक्षत्र (मद्यपान का उत्सव), वर्षोत्सव का अत्यन्त प्रचलित उत्सवों के रूप में उल्लेख हुआ है । मातगंड एवं उद्वालक जातकों में उद्यान क्रीड़ा का वर्णन मिलता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यों के काल तक आते–आते खेल–तमाशों और उत्सव इतने अधिक खत हो गये थे कि एक ओर तो राज्य को स्वयं उनके लिए स्थान और समय नियत करने न आवश्यकता अनुभव हुई तो दूसरी ओर इससे पड़ने वाले अनैतिक प्रभाव अथवा आवश्यक कर्तव्यों के प्रति उपेक्षा के भाव को रोकने के लिए उन्हें सीमित एवं नियंत्रित भी करना पड़ा । कौटिल्य के अर्थशास्त्र (2/27) में नट, नर्तक, गायक, वाग्जीवक, कुशलव, प्लवक, सौमिक, चारण आदि कलाकारों का उल्लेख हुआ है । ये राज्य में रहकर अनुभवी प्रतिक्षकों से प्रशिक्षण पाते और अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । इनमें से कई भ्रमणशील जीवन ही व्यतीत करते थे और एक राज्य से दूसरे राज्य में जाकर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे । इनका यह प्रदर्शन ग्रामों व नगरों सभी जगह होता था । गाव में भी इसके लिए विशेष सभाकर अथवा स्थान हीनस्वरूप प्रेक्षागृहों या प्रक्षा स्थलों का होता था । कौटिल्य ने प्रजा के मनोरंजनार्थ राजा द्वारा उत्सव यात्राओं, जुलूसों तथा याज्ञिक अनुष्ठानों के आयोजन की अपेक्षा व्यक्त की है । (अर्थशास्त्र, 9/29/21) यद्यपि उसनें गांवों मैं इस प्रकार की गतिविधियों को बहुत प्रोत्साहित करना उचित नहीं माना है और सम्राट अशोक ने भी सम्भवत : ऐसे ही समाजों को अनावश्यक कहा है जिनमें अत्यधिक राग–रंग और सुरापान आदि होता था । फिर भी मेलों और उत्सवों की स्वाभाविक प्रगति और उसके प्रति लोगों के बढ़ते हुए आकर्षण को रोका नहीं जा सकता था । मेगस्थनीज के ही विवरणों से प्रगट है कि स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य जब कुछ विशेष अवसरों पर जनता के बीच आता था तो उत्सवों जैसा वातावरण बन जाता था । शिकार के समय जाते हुए यह स्त्रियों के दल द्वारा घिरा होता था । इसके बाहर बरछे लिए हुए सैनिक होते थे । उसके मार्ग को सुरक्षित रखने एवं भीड से बचाने के लिए दोनों ओर रस्से बंधे होते, थे । ढोल व झांझ लेकर वादक उसके आगे चलते थे और लोग रस्सों के पीछे खड़े हुए उसे उत्सुकता से देखते थे । (मेगस्थनीज 2/26 –स्ट्रेबों) । इसी प्रकार राजा के केश धोने के अवसर पर भी उत्सव जैसा वातावरण बन जाता था । (स्ट्रैवों–9 /15/1–69) । कौटिल्य ने भी इस प्रकार के राजोत्सवों व राजकीय शोभा–यात्राओं का संकेत किया है । (1/21/28, 2/36/46) । विशेष उत्सवों के अवसर पर राज्य द्वारा लगाये जाने वाले: करों का भी उल्लेख किया गया है । (अर्थ 2/6/11) जातक कथाओं से भी राजाओं द्वारा निकाली जाने वाले शोभा यात्राओं का पता चलता है जिस अवसर पर नगर को पूरी तरह सजाया जाता था (उमादन्ती जातक) स्वयं अशोक ने भी जहाँ तक एक ओर सामान्य समाजों के प्रति निरुत्साह दिखाया वही उसने अपने धम्म के प्रति लोगों में रूचि एवं आस्था पैदा करने के उद्देश्य से अग्निस्कन्ध, विमान–दर्शन और हस्तिदर्शन जैसे प्रदर्शन प्रारम्भ करवाये (शि. अ. चतुर्थ) जो उत्सवों जैसे ही प्रदर्शन माने

जा सकते है । एलियन ने स्वयं राजाओं द्वारा राज–प्रसाद में आयोजित विपिन प्रकार की क्रीड़ाओं यथा कुश्ती, पशु–युद्ध, नृत्य, संगीत आदि का भी उल्लेख किया है (एलियन 15/15) ।

मौर्योत्तरकाल में व्यापारिक एवं नगरीय गतिविधियां और भी विकसित हुई जिसके फलस्वरूप मेला और उत्सवों ने और महत्व प्राप्त किया । पतंजलि ने अपने महाभाष्य में प्रहरण क्रीड़ा, मल्ल विद्या, पुष्पवचय, उद्यान क्रीड़ा, आधानगोष्ठी, द्युत क्रीड़ा, समाज आदि विविध क्रीड़ाओं का वर्णन किया है । इनमें सामूहिक रूप से सम्पन्न की जाने वाली क्रीड़ा समाज कही गयी है । (1/1/ 50) । बाजारों में अवकाश के दिन नृत्य, वाद्य और नाटक द्वारा मनोरंजन एक सामान्य जीवन पद्धति बन गयी थी । ग्रामों में भी कृषि कार्य तथा विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर उत्सवों का आयोजन सामान्य जीवनचर्या बनी रही । मौर्योत्तरकाल की कलाकृतियों एवं स्थापत्य में लोक जीवन का इस विषय से संबंधित गतिविधियां स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई है । बौद्ध साहित्य में चण एवं सब्बरत्तिव्रो जैसे उत्सवों तथा कार्तिक उत्सव, अष्ठक, सुरानदात्र आदि उत्सवों का उल्लेख मिलता है । अवदान शतक में श्रावस्ति नगर में शालमंजिका उत्सव मनाये जाने का उल्लेख हुआ है। जिसमें कई हजार व्यक्ति उपस्थित बताये गये है । जो पुष्पित शाल वृक्षों के फूल लेकर एक दूसरे के साथ क्रीड़ा और प्रमोद कर रहे थे । इसके अतिरिक्त जैन साहित्य में 'यात्रा ' और यह ' शब्द उत्सवों को ही इंगित करने के लिए ही प्रयुक्त हुए है । यात्रा एक विशिष्ट प्रकार के धार्मिक उत्सव का रूप है जबकि महदेवों के निमित्त आयोजित लोकोत्सव है । राजाओं द्वारा भी अपनी ओर से विशिष्ट अवसरों पर उत्सव आयोजित कराने के दृष्टान्त मिलते है । ऐसे उत्सव अधिकांशत : राजशालाओं अथवा विशेषरूप से निर्मित क्रीड़ा स्थलों में होते थे । हाथीगुम्फा अभिलेख में कलिंगराज खेल द्वारा प्रजारंजनार्थ अनेक उत्सव आयोजित कराये जाने की बात कहीं गयी है । राजप्रसाद, प्रेक्षागृह, देवालय, पर्वत, खुला मैदान, उद्यान और नदी तट बड़े उत्सवों के आयोजन के सामान्य स्थल होते थे ।

गुप्तकाल तक उत्सवों और मेलों ने और भी व्यापक रूप' से नाटकों की रचना और उनके मंचन ने जोर पकड़ा । कालीदास द्वारा लिखित नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुए । पुराणों में भी नाटक खेले जाने का उल्लेख मिलता है (देखिए – ब्रह्माण्डपुराण 4/37/8) । मत्स्यपुराण (24/28/31) में देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित करने वाले राजा पुरूरवा के स्वागत में अभिनय प्रदर्शन की क्या मिलती है जिसमें भरतमुनि द्वारा लिखित नाटक 'लक्ष्मी स्वयम्बर ' के अभिनीत किये जाने का वर्णन है । गुप्तकाल और उसके अनन्तर नर–नारियों द्वारा सम्मलित रूप से समाजोत्सव में भाग लेने के अनेक दृष्टान्त मिलते है । कृषि जीवन से संबंधित अनेक उत्सवों, जिनमें भूमि, फसल और मौसम से संबंधित उत्सव सम्मिलित है ?' का भी पर्याप्त प्रचलन रहा । इनमें लक्ष्मी व इन्द्र की पूजा से. संबंधित कौमुदी महोत्सव, बसन्तोत्सव, मदन महोत्सव या चैत्रावली, कामोत्सव, उद्देसेविका, भूतोत्सव, कालोत्सव, नदी–यात्रा आदि विभिन्न उत्सव सम्मिलित है । पुराणों में देव यात्रा, तीर्थयात्रा, पूजा आदि से संबंधित उत्सवों का विशेष उल्लेख मिलता है ।

मत्स्यपुराण (160/27– 27) में ताड़कासुर वध हो जाने पर देवताओं द्वारा उत्सव मनाये जाने की कथा मिलती है जिसमें देवतागण सुरापान करने और उनकी पलिया क्रीड़ा करने

में संलग्न बतायी गयी है । शिव की बारात की कल्पना भी पुराणों में एक वृहद् उत्सव का संकेत करती है (देखिए – मत्स्यपुराण 154/463) । मदन द्वावसी के अवसर पर गीत और बाध्य का समायोजन होता था (मत्स्यपुराण 8/14) । रासलीला भी एक नृत्य प्रधान उत्सव के रूप में ही विकसित हुई लगती है (देखिए – विष्णुपुराण, 5/13/51) । वात्सायन ने संगीत और नृत्य का ज्ञान सबके लिए आवश्यक बतलाया है । कालिदास ने शाकुन्तलम् में (अंक 1) नटी द्वारु अपने गलीत से लोगों का रंजन करते हुए दिखाया है । उन्होंने लिखा है कि अलकापुरी में सुमधुर वाद्य में स्निग्ध और गम्भीर घोष हुआ करते थे (मेधदूत 1) बाण के हर्षचरित और कादम्बरी में भी मनोरंजनों से युक्त उत्सवों का उल्लेख मिलता है । समस्त उत्सवों में कौमुदी महोत्सव एक अत्यन्त लोकप्रिय एवं आकर्षक उत्सवों के रूप में प्रचलित था । शुक्र के मृच्छकटिकम् में इसका अत्यन्त रोचक वर्णन मिलता है । मुद्राराक्षस (अंक 3) में कुसुमपुर (पाटिलीपुत्र) में कौमुदी महोत्सव मनाये जाने का उल्लेख हुआ है ।

गुप्तकाल तक उत्सवों व समाजों का एक विशिष्ट वर्गीय स्वरूप भी विकसित हो गया था । वात्सायन ने अपने कामसूत्र में नगर में रहने वाले सम्पन्न नागरिक के दैनन्दिन जीवन की जो रूपरेखा प्रस्तुत की है उससे सुनियोजित या प्रायोजित समारोहों व क्रीड़ाओं के नगरीय जीवन में पर्याप्त प्रचलन का पता चलता है । नागरिक के लिए अपने समवर्ती लोगों के साथ संगीत व काव्य–गोष्ठियों, आयानक अर्थात् मद्यपान गोष्ठियों, उद्यान यात्रा या गोष्ठी व अपने वर्ग विशेष के 'समाजों ' में भाग लेने की सलाह दी गयी है । इसके अतिरिक्त 'घटा ' अर्थात् देवपूजा से संबंधित सभा तथा समस्या क्रीड़ा अर्थात् सार्वजनिक एवं सामान्य उत्सवों में भी वह भाग ले सकता था ।

हर्षोत्तरकाल में परम्परागत अथवा पहले से प्रचलित उत्सवों की चर्चा तो मिलती ही है इसके अतिरिक्त राजाओं तथा सरदारों द्वारा आयोजित रागरंग कार्यक्रमों तथा देवालयों और अनेक प्रकार के नये धार्मिक विश्वासों तथा अन्धविश्वासों से संबंधित आयोजनों ने विशेष बल पकड़ा । वास्तव में हर्षोत्तरकाल में प्रबल हुई सामन्तीकरण की प्रक्रिया ने छोटे–बड़े सामन्तों को अपना ऐश्वर्य प्रदर्शित करने तथा अपने को विभिन्न प्रकार से रागरंग में डुबोने का अवसर प्रदान किया । इसके चलते राजशालाओं और रंगशालाओं में वृद्धि हुई । राजा या तो स्वयं नाट्यशालाओं या रंगशालाओं में जाते थे । (अशस्तितिलक 217) अथवा वे अपनी रंगशालाओं में ही विभिन्न प्रकार के नृत्य, गान एवं नाटक का आयोजन करवाते थे । मान्सोल्लास तथा राजतरंगिणी में राजा महाराजों द्वारा प्रोत्साहित कुश्ती अथवा मल्ल युद्धों के आयोजन का उल्लेख मिलता है । इनमें विजयी पहलवान को वस्त्र, आभूषण, घोड़े आदि पुरस्कार में दिये जाते थे । पूर्व मध्यकाल में देवालयों में आयोजित होने वाले उत्सवों की प्रधानता रही । भुवनेश्वर के मन्दिरों में वीणा, नगाड़ा, बांसुरी, तुरही, आदि वाद्य बजाये जाते थे (मिश्रा, एण्टीक्विटीज आफ ओड़ीसा 1, प्लेट 30, न. 167/74) । दक्षिण भारत में विशेषरूप से विशाल मंदिरों के निर्माण तथा देवदासी प्रथा ने देवमंदिरों से संबंधित उत्सवों को बलदिया । ये उत्सव काफी बड़े पैमाने पर आयोजित किये जाते थे जिनमें नृत्य गान की प्रधानता होती थी और जो दक्षिण भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गये थे ।

20.4 मेलों और उत्सवों के प्रकार तथा प्रमुख उत्सवों का स्वरूप

मेलों और उत्सवों को मोटे तौर पर तीन वर्गो में बांटा जा सकता है । ऐसे उत्सव जिनमें सभी लोग भाग लेते थे और जो जन सामान्य के दैनिक जीवन से सहज रूप से जुड़े हुए थे उन्हें लोकोत्सव की श्रेणी में रखा जा सकता है । इनके अन्तर्गत बाजार व हाट में लगने वाले मे और उनसे संबंधित विभिन्न आयोजन, धार्मिक अवसरों, पर्वो तथा देवपूजा से संबंधित उत्सव मौसम अथवा ऋतु विशेष से संबंधित उत्सव यथा कौमुदी महोत्सव, बसन्तोत्सव, सुरानक्षत्रोत्सव आदि तथा कृषि से संबंधित उत्सव सम्मिलित है । दूसरी श्रेणी में उन उत्सवों को रखा जा सकता है जो अभिजात्य वर्गीय संस्कृति के प्रतीक थे और जो समाज के संभ्रांत नागरिकों द्वारा अपने मनोरंजन और प्रदर्शन के उद्देश्य से आयोजित किये जाते थे । इनमें अपानाक, गोष्ठी, उद्यान क्रीड़ा, कंदुक क्रीड़ा, जल क्रीड़ा जैसे मनोरंजन सम्मिलित थे, जिनमें समाज का सुविधा–सम्पन्न वर्ग ही भाग लेता था जो सामान्यत : विशिष्ट नागरिकों के घरों, उद्यानों, रंगशालाओं आदि में आयोजित किये जाते थे । ऐसे उत्सव सामान्य लोगों के लिए कोतुहल का विषय तो होते थे, साथ ही उनकी घृणा का विषय भी इस प्रकार के उत्सवों का प्रचलन मौर्योत्तरकाल और विशेष रूप से गुप्तकाल से अधिक हुआ । तीसरी श्रेणी ऐसे उत्सवों की है जो राजाओं, सम्राटों द्वारा किसी विशेष उपलक्ष्य में स्वयं अपने मनोरंजनार्थ तथा कभी–कभी प्रजा के मनोरंजनार्थ भी आयोजित किये जाते थे । सामान्यत : राज्याभिषेक, युवराज्याभिषेक, राजा के केश, स्तवन, जन्मदिन, विजयोस्तपलक्ष्य तथा किसी विशेष प्रयोजन से आयोजित होते थे । ऐसे उत्सवों में राजा द्वारा निकाली गयी शोभा यात्रा में प्रदर्शन, राजशालाओं में आयोजित क्रीड़ायें, प्रतिस्पर्धायें, नृत्य, गीत और नाटक का आयोजन आदि सम्मिलित था । उत्सवों के उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त एक दूसरा वर्गीकरण भी सम्भव है जिसके अनुसार उत्सवों को कृषि और बाजार की गतिविधियों से संबंधित उत्सव, धार्मिक पर्वो, अनुष्ठानों तथा देवपूजा से संबंधित उत्सवों तथा पूर्णतया रागरंग और मनोरंजनार्थ आयोजित समाजों और गोष्ठियों व राजकीय महत्व के उत्सवों के वर्गों में बांटा जा सकता है ।

समाज – प्रारम्भ में समाज जन सामान्य के स्वाभाविक उत्सव के रूप में दिखायी देता है जिसमें सभी वर्ग के स्त्री–पुरुष खुलकर भाग लेते थे और विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं, प्रतिस्पर्धाओं, नृत्य, गीत तथा मद्य का रसास्वादन करते थे । पुन : समाज निश्चित तिथि अवसर पर विधिवत रूप से आयोजित उत्सव के रूप में भी दिखायी देता है जिसमें स्थान विशेषकर लोगों के पंक्तिबद्ध होकर बैठने का पता चलता है? यह एक दिन से अधिक भी चल सकता था और इसका प्रारम्भ भेरीघोष से होता था । चुल्लवग्ग एवं तित्तिर जातक में पर्वत पर मनाये जाने वाले गीरिग्ग समाज का वर्णन मिलता है । महाभारत में समाज का आयोजन राजोत्सव के रूप में दिखायी देता है जो राजशाला में आयोजित हुआ और जिसमें राजकुमारों के अस्त्र–शस्त्र सम्बन्धी प्रशिक्षण का प्रदर्शन किया गया । इस आयोजन में नगर के विशिष्ट और संभ्रांत जनों द्वारा अपने लिए बैठने की विशेष व्यवस्था किये जाने तथा जनसामान्य के लिए सामान्य व्यवस्था होने का भी पता चलता है । आगे चलकर समाज का एक अन्य अर्थ किसी वर्ग या जाति विशेष का समूह भी होता दिखायी देता है ।

वात्सायन के कामसूत्र में नागरिक द्वारा जिस समाज में जाने की बात कही गयी है उसके बारे में बताया गया है कि समाज निश्चित दिन प्रत्येक पखवारे और माह में आयोजित किया जाता था जिसमें नागरिक द्वारा बुलाये गये कलाकार और अन्य लोग सरस्वती के मन्दिर में एकत्रित होते थे । इस अवसर पर बाहर से आने वाले कलाकार या अभिनेता भी अपनी कला का प्रदर्शन करते थे तथा पुरस्कार पाते थे । विशेष अवसरों पर स्थानीय तथा बाहरी कलाकार एक दूसरे के साथ सहयोग करते थे तथा नागरिक का गण अर्थात् श्रेणी या क्लब अतिथियों का स्वागत और मनोरंजन करते थे।

कौमुदी महोत्सव या कार्तिक महोत्सव – यह उत्सव चातुर्मास्य उत्सवों में से एक था जो कार्तिक माह में मनाया जाता था राजा स्वयं इस उत्सव की घोषणा करता था । कौमुदी महोत्सव का उल्लेख जातकों, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस आदि कथा या नाटक साहित्य में अत्यन्त रोचक ढंग से मिलता है। इस उत्सव के समय नगर का हर छोटा, बड़ा, बाल–वृद्ध, स्त्री–पुरुष पूर्णतया मस्ती से भरा होता था। दीर्घनिकाय के सामण्णफल सुत्त और जातकों में इस उत्सव में राजा के भाग लेने और यात्रा निकालने तथा अपने भव की छत से लोगों के राग–रंग का अवलोकन करने का वर्णन मिलता है । रात्रि में नगर को सुसज्जित किया जाता था और स्त्रियां सुन्दर वस्त्र पहन कर अपने पुरुषों के साथ गलबहियां डाले इस सुन्दर दृश्य का अवलोकन करने घर से बाहर निकलती थी । यह उत्सव सात दिनों तक चलता था जिसमें भोज, मद्यपान तथा आमंत्रण की धूम रहती थी ।

कृषि उत्सव – फसल की बुआई व कटाई के अवसर पर ग्रामीण समाज द्वारा उल्लास की अभिव्यक्ति सहज ही एक उत्सव का रूप ले लेती थी । यह उत्सव अत्यन्त पुराने समय से चलता रहा और इसमें देवताओं की पूजा व वन्दना के सम्मिलित होने से इसे धार्मिक रूप भी प्रदान कर दिया गया । काम जातक में कृषि से संबंधित एक ऐसे ही उत्सव का वर्णन मिलता है जिसमें राजा स्वयं हल चलाता था जो वर्षा ऋतु के प्रारम्भ के साथ जोताई–बुआई के प्रारम्भ का संकेत होता था । यह एक धार्मिक कृत्य के रूप मैं सम्पादित होता था । इसके अतिरिक्त फरवरी मार्च में होने वाला होली जैसा कृत्य, वसंतोत्सव आदि भी मूलत : कृषि एवं मौसम से संबंधित उत्सव कें रूप मैं आरम्भ हुए । आगे चलकर विभिन्न क्षेत्रों में कृषि से संबंधित उत्सवों में विभिन्न नाम प्रचलित हो गये जैसे पंजाब में लोढी और वैशाखी, में मकर संक्रांति और चैती दक्षिण में पोंगल आदि । सामान्यत : इन उत्सवों को बहुत स्वाभाविक ढंग से मनाया जाता था जिसमें देव विशेष देव विशेष की पूजा, तैयार फसल का भोग तथा नृत्य–गान और विभिन्न प्रकार की स्थानीय प्रतिस्पर्धाएं और क्रीड़ाएं सम्मिलित होते थे।

गोष्ठी – कालिदास अथवा उसके पूर्व के किसी लेखक द्वारा रचित श्रृंगारशतक में बसंत के मौसम मैं पक्षियों के कलरव से गुंजित तथा मंडप में लोगों के गोष्ठी में एकत्रित होने तथा अच्छे कवियों– का काव्य पाठ सुनने का उल्लेख हुआ है । वात्सायन के कामसूत्र से नागरिक द्वारा गोष्ठी में जाने का भी वर्णन मिलता है । गोष्ठी में नागरिक के समवयस्क मित्र व सहयोगी और समवर्गीय लोग किसी गणिका के घर अथवा किसी सार्वजनिक सभागार और कभी–कभी अपने में से ही किसी के घर एकत्रित होकर मधुर वार्तालाप तथा मनोरंजन करते थे जिसमें काव्यपाठ प्रतिस्पर्धा तथा अन्य प्रकार का कला प्रदर्शन भी होता था और अन्त में एक

दूसरे को भव्य वस्त्रादि का उपहार दिया जाता था । गोष्ठी में किसी को न तो बहुत अधिक संस्कृत में बात करनी होती थी और न ही आम भाषा में । यह भी कहा गया है कि बुद्धिमान नागरिक ऐसी गोष्ठियों में भाग नहीं लेते थे जिनसे लोग घृणा करते थे या तो उनके लिए अहितकारी होती थी अथवा जो प्रतिबंधित थी वे केवल ऐसी गोष्ठियों में जाते थे जो केवल मनोरंजन व प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त होती थी।

राजोत्सव – राजा और राज्य द्वारा आयोजित उत्सवों में राज्याभिषेक, राजा का विवाह या स्वयंवर राजा का जन्मदिन, ।विजयोपलक्ष्य तथा शोभा यात्राएं प्रमुख थी । राजोत्सव या तो राजा के विशाल राज प्रांगण या राजशाला में आयोजित होते थे अथवा राजा की शोभायात्रा के साथ किसी देवालय अथवा क्रीड़ास्थल में सम्पन्न होते थे । सामान्यत : इन उत्सवों का लाभ प्रजा का हर वर्ग उठाता था । राजा का अपना वैभव प्रदर्शन और उसके द्वारा नियत या आमंत्रित कलाकारों का कला प्रदर्शन इस प्रकार के उत्सवों का प्रमुख आकर्षण होता था । जातकों तथा यवन लेखकों ने राजाओं द्वारा निकाले जाने वाली शोभायात्राओं का स्पष्ट वर्णन किया है । जब पूरा नगर सजाया जाता था और लोग उत्सुकता से सड़कों के किनारे खड़े होकर राजकीय जुलूस की प्रतीक्षा करते थे । सुसीम जातक में हाथी मंगल या हस्तिमंगल नामक एक वार्षिक राजोत्सव का वर्णन मिलता है जो राजप्रांगण में आयोजित होता था और जिसमें समाज के उच्चवर्गीय लोगों के मनोरंजन के साथ ही प्रजा का भी मनोरंजन होता था । इस उत्सव में 100 हाथियों को स्वर्णाभूषण, ध्वजों आदि से सजा कर पंक्तिबद्ध खड़ा करते थे । पुरोहित इस उत्सव का संचालन करता था जिसे हस्तिविद्या (हथ्यिसुचम) का ज्ञान होना आवश्यक होता था । स्ट्रैवो ने भी राजा की शोभा यात्रा में हाथियों को स्वर्णाभूषणों से सज्जित कर चार घोड़ों वाले रथों, बैलों, सैनिकों, स्वर्ण एवं मुक्तामणि जटित पात्रों आदि के साथ निकाले जाने का उल्लेख किया है । वैसे भी राजधानियों में सम्पन्न होने वाले सभी बड़े उत्सवों में राजा की शोभा यात्रा विशेष महत्व रखती थी । कलिंगराज रवाखेल के हाथीगुम्फ़ा अभिलेख में उसके द्वारा प्रजारंजनार्थ अनेक उक्त करवाने का उल्लेख हुआ है । रामायण में कहा गया है कि उत्सवों के आयोजन और लोगों के उसमें एकत्र होने से राज्य की लोकप्रियता बढ़ती है ।

20.5 मेलों और उत्सवों में मनोरंजन के माध्यम एवं कलाकार

मेलों और उत्सवों को रागरंगपूर्ण एवं मनोरंजक बनाने में विभिन्न कलाकारों और उछीपनों की भूमिका होती थी । इनमें रथदौड़ घुड़दौड़, बैलदौड़, हस्ति–युद्ध, भेड़ा–युद्ध, मुर्गा–युद्ध, सर्प और नेवला युद्ध, बन्दरों के करतब दिखाने और उन्हें प्रायोजित कराने वालों का महत्वपूर्ण योगदान था । उनके अतिरिक्त रस्से, बांस व भाले पर करतब दिखाने वाले नटों व जादू के खेल करने वाले जादूगरों या बाजीगरों, मल्ल या पहलवानों अस्त्र–शस्त्र की कला में निपुणता प्रदर्शित करने वाले शस्त्र–जीवकों की भी बहुत लोकप्रियता थी । गायन, नृत्य एवं अभिनय उत्सवों का अभिन्न अंग होता था और इसमें कुशल कलाकार स्वत : अथवा आमंत्रित सदस्यों के रूप में भाग लेते थे । नगर की गणिकाएं अधिकांश उत्सवों का प्रमुख आकर्षण होती थी । मृच्छकटिक की गणिक नायिका बसंतसेना इसका रोचक उदाहरण है । उत्सवों में भाग लेने वाले ये कलाकार उत्सव के आकार–प्रकार और उसके महत्व के अनुसार स्थानीय रूप से अथवा कहीं

बाहर जाकर भी उसमें भाग लेते थे । बहुत से कलाकार प्रमाणशील जीवन ही बिताते थे और विभिन्न ग्रामों व नगरों में घूमते हुए अपनी कला–प्रदर्शन द्वारा जीविका चलाते थे । गणिकाएं सामान्यत : बड़े–बड़े नगरों में अपनी स्थिति के अनुसार छोटे–बड़े भवनों में रहती थी । सामान्य रूप से नगर का धनिक वर्ग अथवा राजा या सामन्त उनको मनोरंजन हेतु आमंत्रित करते अथवा उनके प्रसादों में जाते थे ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विभिन्न कलाकारों, नट–नर्तकों व गणिकाओं के अनुभवी एवं कुशल प्रशिक्षकों से प्रशिक्षण लेने की व्यवस्था का पता चलता है । नाट्यशालाए या रंगशालाए अभिनेताओं को विधिवत प्रशिक्षण देती थी । प्राचीन साहित्य में नाट्यशाला, संगीतशाला, नृत्यशाला, चित्रशाला जैसी अनेक संस्थाओं का उल्लेख मिलता है, जहां लोक अपनी भिन्न–भिन्न रूचियों के अनुसार शिक्षा प्राप्त करते थे । शिक्षित समाज में साहित्यिक गोष्ठियों का भी प्रचलन था जिसमें अच्छे कवियों द्वारा काव्यपाठ का विशेष आकर्षण होता था ।

20.6 मेलों एवं उत्सवों के प्रति धर्मशास्त्रीय एवं राजकीय दृष्टिकोण तथा. आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों पर उनका प्रभाव

जहां एक और मेले और उत्सव लोगों के स्वाभाविक मनोरंजन का प्रमुख माध्यम थे, वही दूसरी ओर इनमें होने वाला उन्मुक्त व भी उंछृखल व्यवहार, मद्यपान, नृत्यादि धर्मशालों या धार्मिक गुरुओं के लिए बहुत ग्राहय नहीं था । धर्मसूत्रों में स्नातक को उत्सवों आदि में भाग लेने से मना किया गया है । बौद्ध एवं जैन भिक्षुओं के लिए भी यह वर्जित था । चुल्लबग्ग में एक पर्वत पर मनाये जाने वाले गिरिग्ग समाज में आकर्षणवश उपस्थित बौद्ध भिक्षुओं का अन्य लोगों द्वारा भी उपहास व निन्दा किये जाने का उल्लेख मिलता है । नट–नर्तक, अभिनेता व गणिका धर्मशास्त्रों की दृष्टि में निंदनीय व्यक्ति ही थे जो केवल मनोरंजन का माध्यम मात्र थे परन्तु उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा किंचित ही प्राप्त थी । कौटिल्य तो उन्हें अविश्वसनीय व्यक्तियों को श्रेणी में रखता है । कदाचित उनकी यह स्थिति उनके अस्थिर चरित्र एवं जीवन के कारण रही हो अथवा उनकी निम्नजातीय या शंकित उत्पत्ति के कारण ।

जहां तक उत्सवों के प्रति राजकीय दृष्टिकोण का प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं है कि सामान्य रूप से इन्हें राज्य द्वारा संरक्षण एवं प्रोत्साहन ही प्राप्त हुआ । मौर्यों के काल में अवश्य ही राज्य का रूझान शुष्क आर्थिक गतिविधियों एवं नैतिक उपालनों की ओर अधिक केन्द्रित रहा जिसके फलस्वरूप कौटिल्य एवं अशोक दोनों ने ही अत्यधिक सुरापान एवं उछृंखलता से भरे हुए समाजों या आयोजनों के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की। इसके 'विपरीत हर्षोत्त काल में राजाओं और सामंतों ने न केवल उन्हें अपने मनोविलास का सामान्य साधन बना लिया बल्कि देवोत्सवों अथवा देवपूजा एवं देवालयों से सम्बन्धित उत्सवों में भी रागरंग के कार्यक्रमों को संरक्षण प्रदान किया । गुप्तोत्तरकाल से उत्सवों की संख्या में लगातार वृद्धि होती रही परन्तु ये अधिकांश उत्सव धार्मिक विश्वासों या अंधविश्वासों से अधिक सम्बन्धित रहे और धीरे–धीरे लोगों ने स्वाभाविक मनोरंजन व उल्लास की अभिव्यक्ति का माध्यम न रहकर उनके दैनन्दिन जीवन की धार्मिक बाध्यता बनते गये और उनका रूप अधिकाधिक कर्मकाण्डीय होता गया । इसने मनुष्य की स्वाभाविक क्रियाशीलता और स्वतंत्रता को प्रतिबंधित भी करना प्रारम्भ किया ।

हर्षोत्तरकाल में जनजीवन के संकुचित होते जाने तथा आर्थिक गतिविधियों में और अधिक ह्रास के पीछे यह एक परोक्ष सहयोगी कारण बने दिखायी देते है जो अपने आप में राजनीतिक विघटन, सामंतवाद तथा भूमिदान से जनित स्वकेन्द्रित ग्रामीण अर्थव्यवस्था का परिणाम भी थे । दूसरी और सामान्य नगरीय जीवन विशिष्ट वर्गीय समाज की गतिविधियों तक सीमित होता गया तथा सार्वजनिक उत्सव केवल सामन्तों, राजाओं, महाराजाओं के अपने मनोरंजन के माध्यम बनते गये । इसने राजनीतिक जीवन में अनैतिकता एवं भोग–विलास की प्रवृति को बढ़ावा दिया और प्रजारंजन एवं रक्षण के राजकीय उद्देश्य व कर्तव्य को संकुचित कर दिया जिसका प्रभाव हर्षोत्तरकाल की राजनीतिक दुर्बलता, व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए युद्धों तथा मुस्लिम आक्रमणों की सफलता में स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

20.7 सारांश

प्राचीन भारत में मेले और उत्सवों का विकास मानव–समाज में निहित सामूहिक मनोरंजन की भावना की सहज अभिव्यक्ति के रूप में हुआ । उल्लास एवं प्रसन्नता के विभिन्न अवसरों को उत्सवों को देव–विशेष की पूजा आदि कार्यक्रमों से भी सम्बन्धित किया । इसके अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक महत्व के विभिन्न अवसरों को भी उत्सवों से जोड़ दिया गया । जिसमें विभिन्न प्रकार के कला–प्रदर्शनों, घुड़दौड़, रथदौड़, पशु–पक्षी युद्ध, अस्त्र – शस्त्र प्रतियोगिताओं, कुश्ती, नृत्य–गान, नाटक आदि में भाग लेकर अथवा उनका अवलोकन करके लोग सामूहिक मनोरंजन करते थे । नगरीय जीवन के विकास के साथ धीरे–धीरे उत्सवों की संख्या में वृद्धि होती गयी । मेले आदि उत्सवों का अधिक स्वच्छन्द एवं जीवंत स्वरूप गुप्तकाल तक दिखायी देता है । परन्तु हर्षोत्तरकाल में इनमें से अधिकांश धार्मिक अनुष्ठान व कर्मकाण्डों का रूप बनकर रह गये । और इनमें वर्गभेद भी प्रबल हुआ । सश्रान्त व सम्पन्न लोगों के अपने विशेष उत्सव होते गये जबकि जन–सामान्य के उत्सव धार्मिक पर्वो तक अधिक सीमित हो गये ।

20.8 शब्दावली

द्विज	:	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य उपनयन संस्कार के बाद द्विज कहलाते थे ।
वाग्जीवक	:	कथा वार्ता से आजीविका चलाने वाला
कुशीलव	:	नर्तकियों को नचा–गवाकर जीविकार्जन कराने वाला
प्लवक	:	बीस, रस्सी आदि पर चढ़कर खेल दिखानेवाला
सौमिक	:	बाजीगर
चारण	:	भाट

20.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. (अ) लघुस्तरीय प्रश्न (50 शब्दों में)

(1) वैदिक कालीन यज्ञों से किस प्रकार के उत्सव सम्बन्धित थे?

(2) मेले और उत्सवों के स्थलों का परिचय दें ।

(3) गुप्तकालीन नागरिक किन–किन प्रकार के क्रीड़ाओं में भाग लेता था?

(4) मेलों और उत्सवों के प्रमुख खेल–तमाशों का उल्लेख कीजिए ।

(ब) 200 शब्दों में

(1) प्राचीन भारत में मेलों और उत्सवों के अर्थ और महत्व को स्पष्ट कीजिए ।

(2) मेलों और उत्सवों के नगरीय जीवन से विशेष सम्बन्ध का निर्धारण कीजिए ।

(3) गुप्तकाल में उत्सवों के बढ़ते हुए वर्गीय चरित्र का परिचय दीजिए ।

2. निबंधात्मक प्रश्न (300 शब्दों में)

(1) प्राचीन भारतीय इतिहास में मेलों और उत्सवों के महत्व को बताते हुए उनके विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिए ।

(2) प्राचीन भारत में मेलों और उत्सवों के प्रकारों को बताते हुए प्रमुख उत्सवों का परिचय दीजिए ।

(3) मेलों और उत्सवों के विकास में राज्य की भूमिका को बताते हुए आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर उनके प्रभाव की विवेचना कीजिए ।

(4) मेलों और उत्सवों में मनोरंजन के माध्यमों का परिचय दीजिए तथा उनके प्रति धर्मशास्त्रीय एवं राजकीय दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए ।

20.10 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

1. उदय नारायण राय : प्राचीन भारत में नगर और नगरीय जीवन, इलाहाबाद, 1995
2. जय शंकर मिश्र. : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, तृ सं., 1983 ।
3. पी. सेनगुप्ता : एबरी डे लाइफ इन एंशिएन्ट इण्डिया, बम्बई, 1980।
4. मदन मोहन सिंह : लाइफ इन नार्थ–ईस्ट इण्डिया इन प्री–मौर्यन टाइप्स, दिल्ली, 1967।
5. जै. आबोयर : डेली लाइफ इन संशिएन्ट इण्डिया फ्राम एप्रोक्सिमेटली 200 बी. सी. टू ए. डी. 7००, (अंग्रेजी अनुवाद – एस. डज्यू. टेलर द्वारा), लंदन, 1995 ।
6. पी. वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद– अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा), प्रथम भाग, तृतीय संस्करण, 1980, द्वितीय भाग, द्वि सं., 1984, लखनऊ।

ISBN 13/978-81-8496-342-7